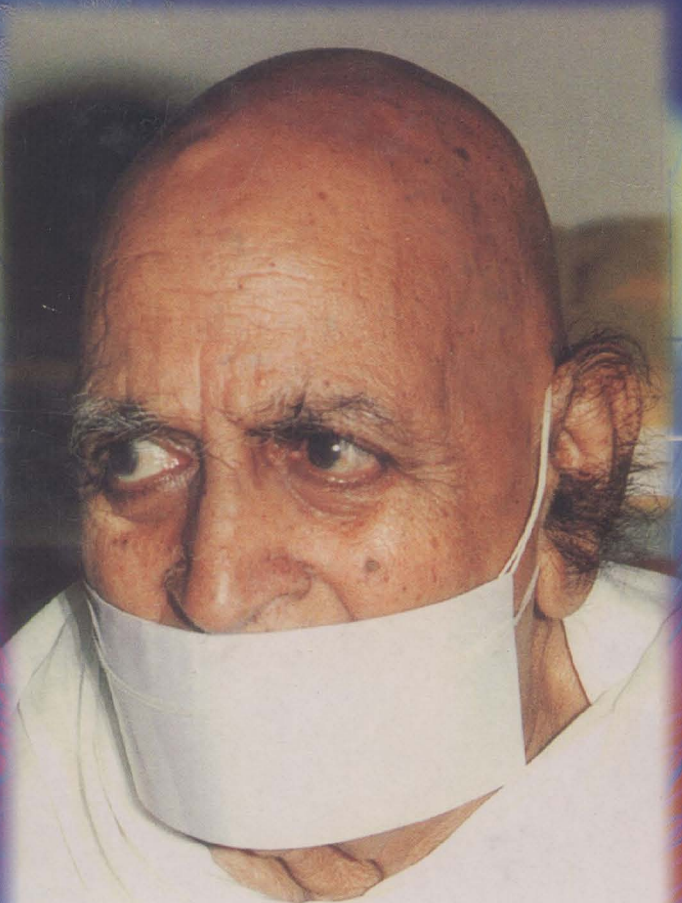


तुलसी वाङ्मय

ज्योति जले : मुक्ति मिले

आचार्य तुलसी



प्रमुख कृतियां

अणुव्रत के आलोक में • अणुव्रत : गति-प्रगति • अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी • समता की आंख : चरित्र की पांख की पांख • अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत • मेरा धर्म : केंद्र और परिधि • राजपथ की खोज • बिन पानी सब सून • जीवन की सार्थक दिशाएं • बैशाखियां विश्वास की • सफर : आधी शताब्दी का • जो सुख में सुमिरण करै • कुहासे में उगता सूरज • दीये से दीया जले • चेतना का आकाश : अध्यात्म का सूर्य • दोनों हाथ : एक साथ • बीती ताहि विसारि दे • नया समाज : नया दर्शन • प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा • मुखड़ा क्या देखे दरपन में • जब जागे तभी सवेरा • लघुता से प्रभुता मिले • दीया जले अगम का • मनहंसा मोती चुगे • भगवान महावीर • प्रज्ञापुरुष जयाचार्य • महामनस्वी आचार्य कालूगणी जीवनवृत्त • गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का • जैनतत्त्वविद्या • जैनतत्त्वप्रवेश, भाग १,२ • अर्हत-उवाच • प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला, पुष्प १-२१ • मेरा जीवन : मेरा दर्शन, खंड १-११ • आचार्य तुलसी के पत्र, खंड १-३ • आचार्य तुलसी के संदेश, खंड १-३ • आचार्य तुलसी का संस्कृत-साहित्य, खंड १-२ • कालूयशोविलास • डालिम-चरित्र • मगन-चरित्र • माणक-महिमा • सेवाभावी • मां वंदना • मैं तिरुं : म्हारी नाव तिरै • चंदन की चुटकी भली • नंदन-निकुंज • सोमरस • शासन-सुषमा • अणुव्रत-गीत • भरत-मुक्ति • अग्नि-परीक्षा • पानी में मीन पियासी • आत्मा के आसपास • तेरापंथ-प्रबोध • संबोध • श्रावक-संबोध • सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति • सन्मति का मतितंत्र • सार्थकता संवाद की • संवाद : शिखर पुरुषों के साथ • संवाद : प्रबुद्धजनों के साथ • समस्या का सागर : अहिंसा की नौका • एक बूंद : एक सागर, खंड १-५ • खोए सो पाए • बूंद भी : लहर भी • हस्ताक्षर इत्यादि।

तुलसी वाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला-२०

ज्योति जले : मुक्ति मिले

आचार्य तुलसी

एक

तुलसी वाङ्मय

आचार्य श्री तुलसी बीसवीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से उन्होंने एक सफल धर्मक्रांति की, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। पदयात्राओं के द्वारा जन-जागरण का सघन अभियान चलाया। शिक्षा के क्षेत्र में *जैन विश्वभारती संस्थान* (मान्य विश्वविद्यालय) उनका महान अवदान है।

भारतीय वाङ्मय को भी उन्होंने बहुत समृद्ध बनाया। विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक भाषाओं में साहित्य सरजा। जीवन के दूसरे दशक में प्रारंभ हुई उनकी साहित्य-साधना नवें दशक में प्रवेश कर जीवन के अंतिम समय तक चलती रही। उनका लेखन तो साहित्य बना ही, वाग्धारा भी साहित्य बनी। उनका तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करनेवाला साहित्य *तुलसी वाङ्मय* के रूप में संपादित हो रहा है। थोड़े विस्तार में *तुलसी वाङ्मय* का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है—

- आत्मकथा साहित्य
- प्रवचन साहित्य
- यात्रा साहित्य
- कथा साहित्य
- जीवनवृत्त साहित्य
- निबंध साहित्य
- संदेश साहित्य
- संस्मरण साहित्य
- संवाद साहित्य
- विचार साहित्य
- संस्कृत साहित्य
- आख्यान साहित्य
- काव्य साहित्य
- पद्य साहित्य
- गीत साहित्य
- आदि आदि।

उनके साहित्य में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि आज भी उसमें वह ताजगी महसूस होती है, जो उसके रचना-क्षणों में थी।

ज्योति जले : मुक्ति मिले

आचार्य तुलसी



जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनूं

तीन

संपादक :
मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती
लाडनूँ (राज.) ३४१३०६

© प्रकाशकाधीन

सौजन्य : 'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति' स्व. श्रीमती मक्खूदेवी
(धर्मपत्नी स्व. चंदनमलजी लूणिया) की पुण्य स्मृति में
श्रीमती फूलदेवी (धर्मपत्नी स्व. नेमीचंदजी) एवं
श्री पन्नालाल, शुभकरण लूणिया
(चाड़वास—शिलांग—इंदौर)

संस्करण : २००५

मूल्य : सौ रुपये मात्र

कंपोज एवं टाइप सेटिंग :
सर्वोत्तम साहित्य संस्थान, उदयपुर

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, सुगन निवास
चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

Jyoti Jale : Mukti Mile
by Acharya Tulsi

ISBN 81-7195-119-8
Rs. 100.00

चार

सिद्धवाणी

आचार्य तुलसी युगद्रष्टा और युगस्रष्टा दोनों थे। उन्होंने युग को देखा और नवयुग का सिरजन किया। नैतिकता और अध्यात्म—इन दोनों विषयों को उनकी प्रकाश-रश्मियों ने आलोकित किया।

आचार्य तुलसी महान परिव्राजक थे। प्रव्रज्या ने उनके अनुभव के वातायन को विस्तार दिया। व्यापकता उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। युग के व्यापक दर्शन ने युगीन समस्याओं के निवारण का दायित्व पूरे कौशल के साथ निभाया।

आचार्य तुलसी प्रवचनकार थे। प्रवचन करने का अधिकार हर-किसी को प्राप्त नहीं होता। जिसकी अंतःप्रज्ञा जाग्रत होती है, वही पुरुष प्रवचनकार हो सकता है।

आचार्य तुलसी महान क्रांतिकारी थे। उनकी क्रांत वाणी ने जनमानस को बदला। परिमाणतः रूढ़िवाद के स्थान पर गतिशीलता के दर्शन हुए।

आचार्य तुलसी सिद्धपुरुष थे। उनकी सिद्धि अनेक दिशाओं में ज्योति विकिरण करती थी। उस ज्योति का हर कण दूसरों के लिए ज्योतिपुंज जैसा होता था। उनका चिंतन और अनुभव उनकी वाणी में अतिमात्रा में प्रस्फुटित हुआ है। उनकी वाणी में भी सिद्धि थी। उनका हर वाक्य एक शिक्षा-पद था।

कुछ व्यक्ति साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं, कुछ व्यक्ति बोलते हैं और सहज साहित्य का सृजन हो जाता है।

आचार्य तुलसी ने सुदीर्घकाल—साठ वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन प्रवचन किया। कभी-कभी दिन में दो बार, तीन बार, और चार बार भी। फलतः प्रवचनों का एक विशाल कोष हमारे सामने है।

इन प्रवचनों में केवल शब्दों का चयन नहीं है, अपितु अर्थ का गांभीर्य भी है, एक प्रेरणा भी है। उसमें स्पष्ट है—चेतना का स्पंदन। मानव की स्पंदित चेतना ही नए विकास का आयाम खोलती है।

यह कहना संगत नहीं होगा कि उनके प्रवचन जनता के लिए उपयोगी हैं, बल्कि कहना यह संगत होगा कि इनमें युग को नई दिशा, नई दृष्टि और नया दर्शन देने की क्षमता है।

‘प्रवचन प्राथेय ग्रंथमाला’ के रूप में संकलित/संपादित हो रहे उनके प्रवचनों की रेखाएं एक चित्र का निर्माण कर सकती हैं—वह चित्र, जिसमें मानवता को झांका जा सकता है। उनकी अनुभूति का एक स्वर विमर्शनीय है—

‘आचार जीवन की मूल पूंजी है। इस धन से संपन्न व्यक्ति ही वास्तव में संपन्न है। जिसके पास यह पूंजी नहीं है, यह धन नहीं है, वह महादरिद्र है, भले वह कितना भी बड़ा अर्थपति क्यों न हो। यह कितनी गंभीर चिंतनीय बात है कि आज मानव जीवन की यह मूल पूंजी ठुकराकर एकमात्र पैसे के पीछे पागल-सा बन रहा है। उसके समक्ष अपना एक ही लक्ष्य है कि येन केन प्रकारेण अधिक-से-अधिक पैसा अर्जित और संगृहीत किया जाए। **संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है** के स्थान पर *पैसा ही जीवन है* को उसने अपना आदर्श-सूत्र बना लिया है। इस अर्थप्रधान या अर्थकेंद्रित चिंतन ने समाज में अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों एवं भ्रष्टाचार को पनपने की उर्वरा तैयार की है।’

उनके प्रवचनों के संकलन/संपादन का प्रयत्न श्रीचंदजी रामपुरिया ने किया, और कई व्यक्तियों ने भी किया, पर इस कार्य में शक्ति का सर्वाधिक नियोजन किया मुनि धर्मरुचि ने। उसी का परिणाम है कि ‘प्रवचन प्राथेय ग्रंथमाला’ के इक्कीस भाग *तुलसी वाङ्मय* के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में एक साथ पाठक को उपलब्ध हो रहे हैं। आचार्यवर की सिद्धवाणी से पाठक लाभान्वित होगा, उससे पूर्व मुनि धर्मरुचि स्वयं भी बहुत लाभान्वित हुए हैं। इसी लिए उन्होंने शारीरिक दुर्बलता के बावजूद इस कार्य में अथक श्रम किया है। उनकी श्रम की बूँदें पाठक को निष्णात करती रहेंगी।

आचार्य तुलसी को जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करना युग का धर्म है। इस धर्म की आराधना में जो संलग्न है, वह साधुवाद का पात्र है।

२६ सितंबर २००४

२०१वां भिक्षु निर्वाण वर्ष

सिरियारी

आचार्य महाप्रज्ञ

प्रस्तुति

संतों को सूरज से उपमित किया गया है, क्योंकि वे मनुष्य को जागरण का संदेश देकर उसकी मूर्च्छा तोड़ते हैं। संतों को पवन की उपमा दी गई है, क्योंकि वे जीवन में नए प्राणों का संचार करते हैं। संतों की तुलना पक्षियों के साथ की गई है। पक्षियों का मधुर कलरव सुनकर विषण्ण मन प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म से अनुप्राणित संतों के मीठे गीत संयोग-वियोग-जनित दुःखों से आहत मनुष्य की दिशा बदल देते हैं। उसके शोकाकुल मन को आनंद से भर देते हैं।

संत प्रवचनकार और संगायक हों ही, ऐसी कोई नियमकता नहीं है, पर आचार्य तुलसी इस सदी के ऐसे महान संत हुए हैं, जिनके प्रवचन और संगान की कोई सानी नहीं है। वे जिस देश, समाज और परिवेश में रहे, उसे नई दृष्टि और दिशा देते रहे। भविष्यहीन समाज में जीने और विजनहीन स्वप्न-दर्शन को वे प्रशस्त नहीं मानते थे। उनका चिंतन उदात्त और दृष्टिकोण उदार रहा। प्रवचन उनकी दैनंदिनी का प्रमुख अंग था। उनके प्रवचन में विचारों के सतरंग इंद्रधनुष श्रोताओं को मुग्ध कर लेते थे।

आचार्यश्री प्रवचन करते तो उनकी मुद्राओं और शब्दों के बीच अद्भुत सामंजस्य रहता रहता था। प्रवचन की विषयवस्तु शरीर के अवयवों और हाव-भावों से अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बना लेती थी। उनके प्रवचन का वाच्यार्थ बहुत तीव्रता से संप्रेषित हो जाता। उसकी संप्रेषणीयता देखकर ऐसा प्रतीत होता, मानो कोई गली हुई धातु एक कमनीय आकृति में ढाली जा रही है। वे आदेय वचनपुरुष थे। उनके आदेश-निर्देश का सीधा अतिक्रमण करने का साहस उनके प्रखर प्रतिद्वंद्वी में भी नहीं था। अनायास कहे गए उनके प्रवचनों से कभी-कभी जीवन में ऐसा झरोखा खुल जाता, जिसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

आचार्य तुलसी ने अपने जीवन के छह दशकों तक जनता को सघन

प्रतिबोध दिया। कभी संवादशैली में और कभी प्रवचनशैली में। उनसे लाखों-लाखों लोगों ने प्रेरणा तथा पाथेय पाया। उनके प्रवचनों के संकलन-संपादन में मुनि धर्मरुचिजी वर्षों से गहरी निष्ठा और अहोभाव के साथ संलग्न हैं। आचार्य तुलसी के कीर्तिधर उत्तराधिकारी आचार्य महाप्रज्ञ के कुशल दिशा-निर्देशन में वे पुरानी फाइलों, पत्र-पत्रिकाओं और कैसेटों से एक-एक प्रवचन सहेज-संवारकर साहित्य की सेवा कर रहे हैं। मुनिश्री प्रवचन का मूल पाठ तो संपादित करते ही हैं, उसके साथ कुछ परिशिष्ट जोड़कर मूल ग्रंथ की उपयोगिता भी बढ़ा देते हैं।

‘ज्योति जले : मुक्ति मिले’ पुस्तक प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला का बीसवां पुष्प है। इसमें सन १९५९ में दिए गए प्रवचनों का संकलन है। सरस शैली, उपयोगी सामग्री और संप्रेषणीयता की शक्ति से भरी प्रस्तुत पुस्तक ग्रंथमाला के अन्य पुष्पों की तरह स्वाध्याय-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होती रहेगी, यह असंदिग्ध है।

विनोद भवन

मोमासर

१५ नवंबर १९९८

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

संपादकीय

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिन दो-चार-पांच व्यक्तियों ने युग-चेतना और युग-चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है, उनमें आचार्य तुलसी का नाम अत्यंत गौरव के साथ लिया जाता है। एक संप्रदायविशेष की वेशभूषा में रहते हुए, उसकी आचार-संहिता पालते हुए तथा उसके नेतृत्व का दायित्व निभाते हुए उन्होंने जिस असांप्रदायिक कार्य-शैली से जन-जीवन में मानवीय, नैतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए सुदीर्घ काल तक एक सघन अभियान के रूप में प्रयत्न किया, उसे इस शताब्दी की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है। अपने इस अभियान के कारण वे तेरापंथ धर्मसंघ के कीर्तिधर अनुशास्ता तथा जैन-धर्म के विशिष्ट प्रभावक आचार्य से भी बहुत आगे जन-धर्म/मानव-धर्म के प्रखर प्रवक्ता और धर्मक्रांति के सक्षम सूत्रधार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। उनके द्वारा प्रवर्तित *अणुव्रत* को मानवीय, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के संरक्षण/जागरण/विकास के अग्रणी आंदोलन के रूप में व्यापक पहचान मिली। आचार्य तुलसी और अणुव्रत राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी चर्चा और जिज्ञासा के विषय बन गए। आचार्य तुलसी और अणुव्रत-दर्शन की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि ही माननी चाहिए कि आज के शीर्षस्थ राजनेता, प्रमुख समाजशास्त्री, मूर्धन्य साहित्यकार, प्रबुद्ध पत्रकार, उच्चस्तरीय वैज्ञानिक..... यह बात बहुत गंभीरता से अनुभव करने लगे हैं कि जब तक मानवीय, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की सुरक्षा और जागरण की ओर ध्यान केंद्रित नहीं किया जाएगा, तब तक किसी समाज और राष्ट्र का समुचित विकास नहीं हो सकेगा।

आचार्य तुलसी के जन-जागरण के अभियान का एक प्रमुख स्तंभ रहा है—प्रवचन। जलते दीपक की लौ की तरह यह बात बहुत स्पष्ट है कि उनके प्रवचनों से संबोध प्राप्त कर हजारों-लोगों ने अपने जीवन की दिशा

और दशा बदली है। उन्होंने असंयम से संयम की ओर चरणन्यास किया है, हैवानियत के उजाड़ को छोड़ मानवता का राजपथ पकड़ा है। वे दुर्व्यसनों से मुक्त होकर सात्त्विक जीवन जीने के लिए संकल्पित हुए हैं। जातिवाद, वर्णवाद, भाषावाद आदि की सकीर्णताओं एवं कुरूद्वियों के दूषित वातावरण से निकलकर प्रगतिशीलता के खुले मैदान में आए हैं।

ये सारी स्थितियां यह दरसाती हैं कि आचार्य तुलसी के प्रवचनों में व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन रूपांतरित करने की एक अद्भुत गुणात्मकता थी। उनका प्रवचन-कौशल भी विलक्षण था। वे मात्र मुंह से नहीं बोलते थे, अपितु उनका अंग-अंग और रोआं-रोआं बोलता था। कथ्य के भाव के अनुरूप बननेवाली उनकी मुद्राएं देखते ही बनती थीं। उन मुद्राओं के आधार पर अनेक बार उनकी भाषा न समझनेवाले लोग भी एक सीमा तक उनके भाव समझने में सफल हो जाते थे। उनके प्रवचनों में संस्कृति, इतिहास, दर्शन, तत्त्व, संगीत, कथा, दृष्टांत, आख्यान, प्रेरणा..... की मिली-जुली जो इंद्रधनुषी छटा बिखरती थी, वह इतनी चित्ताकर्षक होती थी कि शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-शहरी, बालक-वृद्ध, महिला-पुरुष, हरिजन-महाजन, आस्तिक-नास्तिक.....सभी तरह के लोग भित्ति-चित्रित और भाव-विभोर-से उनके प्रवचन का एक-एक शब्द पीते हुए-से नजर आते थे। इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात तो यह है कि उनके प्रवचन के वाक्य-वाक्य में उनकी जीवन-अनुभूति ध्वनित होती थी, शब्द-शब्द में उनकी साधना रूपायित होती थी, अक्षर-अक्षर में उनकी आत्मा प्रतिबिंबित होती थी; और ऐसी स्थिति में किसी प्रवचनकार के प्रवचन में व्यक्ति के अंतस्तल का स्पर्श करने की शक्ति पैदा हो जाना बहुत स्वाभाविक है।

आचार्य तुलसी प्रायः एक बार तो प्रतिदिन प्रवचन करते ही थे, अनेक बार दो-दो, तीन-तीन बार भी बोलते थे। कभी-कभी तो दिन में चार-चार बार प्रवचन करने का प्रसंग भी बन जाता था। इस क्रम से उन्होंने लगभग साठ वर्षों तक प्रवचन किया। यदि छह दशकों की इस सुदीर्घ अवधि के एक-एक प्रवचन का व्यवस्थित संग्रहण हो पाता तो वह संकलन इस शताब्दी की सफल धर्मक्रांति के इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज होता, जन-जागरण के पुनीत अभियान का एक प्रेरक आलेख बनता, पर अनेक वर्षों तक प्रवचन-संग्रह की सुस्पष्ट चिंतना एवं समुचित व्यवस्था के अभाव में यह संभव नहीं हुआ। परिमाणतः उनके प्रवचनों का

बहुलांश अनंत में विलीन हो गया। निश्चय ही यह एक अपूरणीय क्षति हुई है, पर जो शेषांश बचा है, वह भी अपने-आपमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कहना चाहिए कि वह संत-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

अपेक्षा महसूस की गई कि इस अमूल्य साहित्य-निधि का व्यवस्थित संपादन हो। इस संदर्भ में चिंतन हुआ और उसकी निष्पत्ति के रूप में *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* की बात सामने आई। मुझे इस ग्रंथमाला के संपादन-कार्य के लिए पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी का मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं। यद्यपि मैं अपनी अक्षमताओं से अपरिचित नहीं हूं, पर इस कार्य में मुझे अपनी क्षमता का सुंदर उपयोग करने का अवसर प्राप्त हुआ, यह मेरे लिए अत्यंत तोष का विषय है।

प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के उन्नीस पुष्प पूर्व में विभिन्न नामों से जनता के हाथों में पहुंच चुके हैं। उसी क्रम में यह बीसवां पुष्प-*ज्योति जल : मुक्ति मिले* के रूप में सामने आ रहा है। इसमें सन १९५९ के प्रवचनों की प्रस्तुति है। यह प्रस्तुति ग्रंथमाला के पूर्व ग्रंथ-पुष्पों की तरह ही जन-जन के लिए ज्ञानवर्धक, दिशाबोधक सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

पूज्य गुरुदेव तुलसी मेरे जीवन-निर्माता हैं, मेरी आस्था के नाभिकीय केंद्र हैं। इस ग्रंथ की संपन्नता के अवसर पर उन्हें अपनी श्रद्धासिक्त वंदना समर्पित करता हूं। कृतज्ञता ज्ञापित करने जैसी कोई बात उनकी असीम कृपा को सीमित करने-जैसी हरकत होगी, जो मुझे काम्य नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ गुरुदेवश्री तुलसी के यशस्वी उत्तराधिकारी हैं। उनके कुशल एवं सक्षम नेतृत्व में तेरापंथ धर्मसंघ विकास की नई-नई ऊंचाइयों का स्पर्श कर रहा है। उनका आशीर्वाद और मार्गदर्शन मेरे इस कार्य की सफलता का प्राणवान आधार है। उनके चरणों में अपनी प्रणति निवेदन करता हूं।

महाश्रमणी, साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने एक महानुष्ठान के रूप में वर्षों तक गुरुदेवश्री तुलसी का वाङ्मय संपादित किया है। गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात भी वे इस अनुष्ठान में लगी हुई हैं। चूंकि *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* भी *तुलसी वाङ्मय* का ही एक हिस्सा है, इसलिए वे इस ग्रंथमाला के साथ भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं। ग्रंथमाला

के संपादन के संदर्भ में उनकी प्रेरणा व प्रोत्साहन ही नहीं, अनुभवपूरित सुझाव भी मुझे प्राप्त होते रहे हैं। वे मेरे लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

विनयांजलि संघपरामर्शक मुनिश्री मधुकरजी के प्रति समर्पित करता हूं, जिनका कुशल अभिभावकीय संरक्षण व मार्गदर्शन मेरे जीवन-विकास की यात्रा का पौष्टिक संबल है। इस ग्रंथमाला के संपादन में भी उनका वाचिक और अवाचिक दोनों प्रकार का मार्गदर्शन मुझे मुक्त भाव से प्राप्त हुआ है।

ग्रंथ की सामग्री के संग्रहण/संकलन में जिन साधु-साध्वियों एवं कार्यकर्ताओं ने अपने पुरुषार्थ का नियोजन किया है, उनके श्रम का प्रमोद-भाव से मूल्यांकन करता हूं।

प्रवचन पाठ्य ग्रंथमाला के उन्नीसवें पुष्प के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्षों पश्चात यह बीसवां पुष्प प्रकाश में आ रहा है। यह इस बात को दरसाता है कि ग्रंथमाला के संपादन का कार्य बहुत मंथर गति से आगे बढ़ रहा है, जबकि ग्रंथमाला के रूप में संपादित करने के लिए पड़ी अवशिष्ट सामग्री की प्रचुरता एवं इस ग्रंथमाला का महत्त्व देखते हुए इसे तीव्र गति से आगे बढ़ाने की अपेक्षा थी। फिर पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के महाप्रयाण के पश्चात तो यह त्वरता और भी अधिक आवश्यक थी। निश्चय ही इस गति-श्लथता के लिए मैं जिम्मेदार हूं। इस क्षेत्र में हुआ प्रमाद स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है। अलबत्ता कुछ दूसरे भी कारण इस गति-श्लथता के पीछे हैं, पर उनकी चर्चा करने की कोई सार्थकता नहीं समझता, क्योंकि उनका उल्लेख करके भी मैं अपनी मुख्य जिम्मेदारी से नहीं बच सकता। अब अपेक्षा यही है कि मंथर गति की स्थिति समाप्त हो और ग्रंथमाला के संपादन का कार्य त्वरता के साथ आगे बढ़े। पूज्य गुरुदेव का परोक्ष मंगल आशीर्वाद एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की प्रत्यक्ष प्रेरणा मेरा पथ-प्रशस्त करेगी, ऐसा विश्वास है। वह दिन मेरे लिए अत्यंत आह्लाद का होगा, जिस दिन मैं इस ग्रंथमाला के कार्य की संपन्नता के रूप में पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के प्रति अपनी रचनात्मक श्रद्धांजलि समर्पित करूंगा।

भिवानी

मुनि धर्मरुचि

२ दिसंबर १९९८

संस्करण : २००५

ज्योति जले : मुक्ति मिले का संस्करण : २००५ नए परिवेश में पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। आवश्यक परिष्कार के साथ-साथ एक नया परिशिष्ट भी इस संस्करण में और जोड़ा गया है। पुस्तक का यह परिष्कृत एवं परिवर्धित संस्करण पाठकों की रुचि को परिष्कृत करनेवाला एवं पूर्व संस्करण से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

संपादक

तेरह

प्रकाशकीय

कालजयी व्यक्तित्व आचार्य श्री तुलसी की अमृत-वाणी (प्रवचन) के संकलन भिन्न-भिन्न नामों से *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* के पुष्पों के रूप में वर्षों से जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित होते रहे हैं। विगत कुछ वर्षों से आचार्य श्री तुलसी का साहित्य *तुलसी वाङ्मय* के रूप में संकलित/संपादित हो रहा है। सुझाव आया कि 'प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला' को भी *तुलसी वाङ्मय* में समाविष्ट कर देना चाहिए। सुझाव उपयुक्त था। अतः अब यह ग्रंथमाला *तुलसी वाङ्मय* के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में प्रकाशित हो रही है। इससे इस ग्रंथमाला की व्यापकता और बढ़ेगी, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत ग्रंथमाला के संयोजन/संपादन में आदरणीय मुनिश्री धर्मरुचि जी ने अपने समय, श्रम एवं शक्ति का जो नियोजन किया है, वह प्रशस्य और अनुकरणीय है। इस ग्रंथमाला के प्रकाशन में चाड़वास (राज.) निवासी श्रद्धा की प्रतिमूर्ति स्व. श्रीमती मक्खुदेवी (धर्मपत्नी श्री चंदनमल जी लूणिया) की पुण्य स्मृति में शासनभक्त एवं समर्पित लूणिया परिवार का अर्थ-सौजन्य उपलब्ध हुआ है। इस सहयोग के लिए श्रीमती फूलदेवी (धर्मपत्नी स्व. श्री नेमीचंदजी लूणिया) एवं श्री पन्नलालजी, श्री शुभकरणजी तथा उत्साही युवा कार्यकर्ता श्री मनोज लूणिया के प्रति जैन विश्वभारती की ओर से हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं और यह आशा करता हूं कि यह परिवार संस्था की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास में इसी प्रकार योगभूत बना रहेगा। इस कार्य के संपादन में सर्वोत्तम साहित्य संस्थान के भाई किशन जैन की निष्ठापूर्ण सक्रियता रही है। प्रमोद कुमार ने बहुत तत्परता से कंपोजिंग कार्य किया है। इन सबके सहयोग की स्मृति करते हुए यह आशा करता हूं कि इस ग्रंथमाला से जन-जन को नई दिशा और नई दृष्टि मिलेगी।

दिनांक २६ सितंबर २००४

२०१वां भिक्षु निर्वाण वर्ष

जैन विश्वभारती, लाडनूं

नरेन्द्र छाजेड़

मंत्री

जैन विश्वभारती

अनुक्रम

१. अध्ययन और अध्यापन के प्रति सम्यक दृष्टिकोण बने	१
२. जैनों का कर्तव्य	४
३. वर्तमान जीवन को स्वर्ग बनाने की प्रक्रिया	६
४. अणुव्रत-आंदोलन : समय की मांग	७
५. संयम जीवन का सौंदर्य है	१०
६. विद्यार्थियों की जीवन-दिशा	१२
७. रक्षक स्वयं सुरक्षित बनें	१५
८. आत्म-चिकित्सक बनें	२०
९. जीवन की सार्थकता	२३
१०. स्वतंत्र भारत और वर्तमान शिक्षा-प्रणाली	२६
११. व्यापारी आंतरिक दरिद्रता मिटाएं	२९
१२. संयम ही जीवन है	३१
१३. अपना वर्तमान संवारे	३२
१४. धर्म का स्वरूप	३५
१५. जैनों का संयुक्त उत्तरदायित्व	३८
१६. आत्म-सुख की प्राप्ति का मार्ग	४०
१७. दो करणीय कार्य	४२
१८. अविस्मरणीय दृश्य	४४
१९. अणुव्रत-आंदोलन : चारित्रिक रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	४७
२०. महावीर के उपदेश जीवन में उतारें	५०
२१. सच्चा सुख	५१
२२. गणतंत्र-दिवस	५३
२३. सबसे बड़ी संपत्ति	५५

२४. छात्र-छात्राओं की जीवन-दिशा	५८
२५. धार्मिक शिक्षा का महत्त्व	६०
२६. घर का वातावरण स्वस्थ बनाएं	६२
२७. धर्म का सार्वजनिक रूप प्रकट हो	६३
२८. मोक्ष पुरुषार्थसाध्य है	६५
२९. वर्धमान महावीर के उपदेशों की व्यापकता	६६
३०. धार्मिक कौन	७०
३१. कर्तव्य-पालन के प्रति सजग बनें	७२
३२. अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप	७६
३३. विद्याध्ययन क्यों	७९
३४. राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो	८५
३५. आर्य कौन	८८
३६. शांति और सुख का मार्ग	९०
३७. धर्म के दो रूप	९२
३८. मुक्ति का मार्ग	९४
३९. आत्मा के तीन रूप	९६
४०. अर्थ के प्रति सम्यक दृष्टिकोण बने	९८
४१. शक्ति और सुख की दिशा	१००
४२. संयम का वातावरण निर्मित हो	१०२
४३. पुरुषार्थ-चेतना जागे	१०४
४४. श्रेय का संग्रहण करें	१०६
४५. गुरु कैसा हो	१०८
४६. सभ्यता और संस्कृति	११०
४७. कर्म-बंधन के प्रति सजग बनें	११३
४८. व्यापारी सत्यनिष्ठ एवं प्रामाणिक बनें	११६
४९. आचार जीवन की मूल पूंजी है	११९
५०. अहिंसा प्राणिमात्र के लिए क्षेमंकरी है	१२२
५१. आशातना से बचें	१२४
५२. जैन-आगमों में भारतीय जीवन	१२६
५३. विरोध भी उपयोगी है	१२८

५४. विद्यार्थी-काल : जीवन-निर्माण की स्वर्णिम वेला	१३०
५५. संतों के स्वागत की स्वस्थ विधा	१३२
५६. छात्राणं समाज की भावी निर्मात्रियां हैं	१३४
५७. मैत्री-दिवस : अभिप्रेत और स्वरूप	१३६
५८. मैत्री : आधार और स्वरूप	१४०
५९. सच्चा सुख क्या है	१४२
६०. वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों का दायित्व	१४४
६१. साधना की तेजस्विता	१४५
६२. धार्मिक और लौकिक विनय का महत्त्व	१४८
६३. अणुव्रत : अध्यात्म-पक्ष को सुदृढ़ बनाने का आंदोलन	१५०
६४. जैन-दर्शन में कर्म	१५३
६५. ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद	१५६
६६. आचरण-शुद्धि के धरातल पर धार्मिक बनें	१५८
६७. शांति और सुख का आधार	१६०
६८. अणुव्रत आंदोलन आत्म-सुधार का आंदोलन है	१६२
६९. लोभ : सबसे बड़ा खतरा है	१६४
७०. लोभ के चार प्रकार	१६६
७१. अहिंसा की व्यापकता	१६८
७२. श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार का समवाय ही मोक्ष-पथ है	१७०
७३. साधना-पथ	१७२
७४. संवर : मुक्ति का मार्ग	१७४
७५. ज्ञेय नव ही तत्त्व हैं	१७६
७६. उपासक : उपासना : उपास्य	१७८
७७. भय, शोक और जुगुप्सा से बचें	१८०
७८. व्यावहारिक जीवन में धर्म का प्रयोग	१८४
७९. आध्यात्मिक व नैतिक विकास ही वास्तविक विज्ञान है	१८७
८०. महारंभ और महापरिग्रह से बचें	१९२
८१. वंचनापूर्ण व्यवहार से बचें	१९५
८२. देवायुष्य बंधन के कारण	१९७
८३. नैतिक दुर्भिक्ष कैसे मिटे	१९९

८४. लेश्या : एक विवेचन	२०१
८५. जैन-एकता का पथ	२०४
८६. भारतीय संस्कृति का लक्ष्य : चरित्र-विकास	२०९
८७. अणुव्रत-आंदोलन : एक नैतिक अभियान	२१४
८८. तेजःलेश्या के लक्षण	२१७
८९. धर्मनिष्ठ की पहचान	२१९
९०. पद्मलेश्या का अधिकारी कौन	२२१
९१. शुक्ललेश्या की परिणति	२२३
९२. सुख-दुःख समभाव से सहें	२२५
९३. शांति का मार्ग	२२७
९४. संस्कृत और संस्कृति	२२९
९५. भौतिकता से अध्यात्म की ओर मुड़ें	२३१
९६. मानव अपनी पहचान करे	२३२
९७. अंतर्मुखी बनने का दिन	२३४
९८. एक दिव्य महापुरुष : आचार्य भिक्षु	२३६
९९. विधायकों के लिए आचार-संहिता बने	२३८
१००. अहिंसा व्यवहार में आए	२४०
१०१. अणुव्रत-आंदोलन अपने ध्येय में सफल है	२४२
१०२. कर्तव्य-पूर्ति के लिए नया मोड़ आवश्यक	२४५
१०३. अणुव्रती धार्मिक जीवन का उदाहरण उपस्थित करें	२४९
१०४. प्रतिलेखन का दिन	२५१
१०५. दीक्षा : क्या : क्यों	२५३
१०६. महिलाएं अपनी शक्ति पहचानें	२५६
१०७. चरित्र-शुद्धि का अभियान आगे बढ़ाएं	२५८
१०८. अणुव्रत जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है	२६०
१०९. सत्य धर्म को पहचानें	२६२
११०. जीवन-उत्थान का आधार	२६५
१११. जनता सही मार्ग-दर्शन की प्यासी है	२६७
११२. व्यापारी सत्य के प्रति दृढ़निष्ठ बनें	२६९
११३. आज का युग और धर्म	२७१

११४. अणुव्रती बनने का अधिकारी	२७६
११५. मानव सुरखी कब	२७७
११६. धर्म और समाज	२७८
११७. शांति का स्रोत	२८२
११८. भारतीय संस्कृति का स्वरूप	२८४
११९. अहिंसा-दिवस का अभिप्रेत	२८६
१२०. प्रकाश की आवश्यकता	२८८
१२१. व्यापक मैत्री का वातावरण निर्मित हो	२९०
१२२. मनोनुशासन का पथ अपनाएं	२९२
१२३. श्रद्धा और तर्क	२९४
१२४. शांति : स्रोत और आधार	२९६
१२५. मैत्री के साधन पुष्ट हों	२९८
१२६. विकार का परित्याग मोक्ष का हेतु है	३००
१२७. संयम और अनुशासन की समृद्धि का संकल्प करें	३०२
१२८. सबसे बड़ा धर्म क्या है	३०४
१२९. जैन-दर्शन का मौलिक स्वरूप	३०६
१३०. शांति : उत्स और साधन	३०८
१३१. श्रमण-संस्कृति का संदेश	३१०
१३२. संकल्प-चेतना जगाएं	३१३
१३३. स्वधर्म उज्ज्वल बनाएं	३१७
१३४. सबसे बड़ी क्रांति	३१९
१३५. उपासना के सर्व-सामान्य सूत्र	३२१
१३६. उपासना : क्या : क्यों	३२४
१३७. व्रत-चेतना जागे	३२७
१३८. धर्म की आत्मा को पहचानें	३२९
१३९. अपने-आपको सुधारें!	३३६
१४०. अज्ञ और मूढ़	३३९
१४१. पुरानी और नई पीढ़ी के बीच	३४२
१४२. जीवन और अर्थ	३४५
● परिशिष्ट	३४९

१ : अध्ययन और अध्यापन के प्रति सम्यक दृष्टिकोण बने

विद्याध्ययन क्यों

आज मैं आरा के विद्या-प्रांगण में आया हूँ। मेरे सामने सहस्रों की संख्या में विद्यार्थी उपस्थित हैं। विद्यार्थी किसी समाज और राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं, भविष्य होते हैं। उनके निर्माण के आधार पर ही समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। विद्याध्ययन विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण के लिए है, पर मुझे लगता है कि आज के विद्यार्थियों ने विद्याध्ययन का यह पवित्र उद्देश्य भुला दिया है। उसके स्थान पर उसे पैसा कमाने का साधन बना लिया है। उसके माध्यम से डिप्लोमा या कोई अन्य आकर्षक-सी डिग्री प्राप्त कर ऊंची नौकरी प्राप्त कर लेना उनका लक्ष्य बन गया है। किसी को यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण लग सकती है, पर मेरी दृष्टि में यह एक कटु यथार्थ से परिचित होना है। यदि यह यथार्थ न हो तो वे परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए कभी अनुचित साधन नहीं अपनाते, उनका खुलकर उपयोग नहीं करते। कहने में संकोच होता है, पर स्थिति तो यहां तक पहुंच गई है कि विद्यार्थियों के लिए परीक्षाकेंद्रों में पुलिस तैनात करनी पड़ती है। ओह! कितना गिर गया है राष्ट्र के विद्यार्थियों का नैतिक स्तर! आप तुलना करें, एक तरफ तो विदेशों में, जैसाकि मैंने सुना है, परीक्षाकेंद्र में निरीक्षक का उपस्थित रहना भी विद्यार्थी अपना अपमान समझते हैं और दूसरी तरफ इस भारत राष्ट्र में, जो अतीत में सारे संसार को अध्यात्म और चरित्र की शिक्षा देने के लिए प्रतिष्ठित था, गौरवान्वित था, पुलिस के कड़े पहरे में परीक्षाएं संपन्न करानी पड़ती हैं। क्या भारतीय विद्यार्थियों के लिए यह शर्म की बात नहीं है? मैं तो मानता हूँ कि यह शर्म महसूस करने से भी अधिक उनके लिए आत्मालोचन का विषय है। मैं उपस्थित विद्यार्थियों के माध्यम

अध्ययन और अध्यापन के प्रति सम्यक दृष्टिकोण बने ————— १ •

से राष्ट्र के करोड़ों-करोड़ों विद्यार्थियों से कहना चाहता हूँ कि वे गंभीरतापूर्वक आत्मालोचन करें। इससे सारी स्थिति उनके सामने बिलकुल स्पष्ट हो जाएगी और यह स्पष्टता उन्हें आत्मानुशासन की ओर अभिमुख करेगी, आत्माभ्युदय की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करेगी। अणुव्रत-आंदोलन का राजपथ उनके सामने है। वे इस राजपथ पर आएँ। इससे आत्मानुशासन और आत्माभ्युदय की दिशा में गति सहज हो जाएगी।

अध्यापकों की जीवन-दिशा

अध्यापक भी मेरे सामने बड़ी संख्या में उपस्थित हैं। इस अवसर पर उनसे भी एक-दो बातें कहना चाहता हूँ। भारतीय लोक-जीवन की ऐसी मान्यता रही है कि सज्जनपुरुषों का अल्पकालिक समागम भी करोड़ों अपराध नष्ट करनेवाला होता है। इस परिप्रेक्ष्य में वे अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करें। वे विद्यार्थियों के जीवन-निर्माता कहलाते हैं। क्या उनका जीवन इस दृष्टि से सही ढांचे में ढला हुआ है? क्या वह विद्यार्थियों को चरित्रनिष्ठ बनने की प्रेरणा देनेवाला है? कहीं वह बुराइयों/दुर्व्यसनों से ग्रस्त तो नहीं है? स्वयं बुराइयों से ग्रस्त होकर वे विद्यार्थियों को सुसंस्कारी कैसे बना सकेंगे? उनके जीवन का सही निर्माण कैसे कर सकेंगे? उन्हें ध्यान होना चाहिए कि विद्यार्थियों पर उनके कथन का उतना असर नहीं होता, जितना उनके आचरण और व्यवहार का होता है। यदि उनका आचरण और व्यवहार विद्यार्थियों के लिए सदाचार, संयम और सात्त्विकता की प्रेरणा नहीं बनता है, तो उनकी मौखिक हित-शिक्षा का उन पर कोई विशेष असर पड़नेवाला नहीं है।

अध्यापन क्यों

दूसरी बात अध्यापन के बारे में उनकी दृष्टि सम्यक होनी चाहिए। दृष्टि सम्यक होने से मेरा तात्पर्य यह है कि वे अध्यापन को अपना पुण्य कर्तव्य समझें, अर्थार्जन का साधन नहीं। आज ऐसे अध्यापक बहुत ही कम देखने को मिलते हैं, जो अर्थार्जन की बात गौण कर कर्तव्यबुद्धि से अध्यापन कार्य करते हों। यदि सचमुच ही उनकी कर्तव्यबुद्धि जाग्रत होती तो वे विद्यार्थियों के लिए एक खुली पुस्तक होते। वे उनके लिए आदर्श होते। उनके हर आचरण और व्यवहार की विद्यार्थियों के जीवन पर छाप पड़ती।

अणुव्रत-आंदोलन की चर्चा अभी आपके सामने आई। इस दिशा में यह आपका पथ-दर्शन करता है। यह जितना विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और उपादेय है, उतना ही आप अध्यापकों के लिए भी। इसकी आचार-संहिता स्वीकार करके आप अपना जीवन सुसंस्कारित बना सकते हैं, जो कि विद्यार्थियों के लिए भी सुसंस्कारी बनने की प्रेरणा बनेगा। मुझे आशा है, विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही वर्ग इस बारे में गंभीरता से सोचेंगे और अपना जीवन सही दिशा में मोड़ेंगे।

एच. डी. जैन कॉलेज, आरा

३ जनवरी १९५९

२ : जैनों का कर्तव्य

एक अरसा से हम बिहार प्रांत में विहरण कर रहे हैं। बिहार भगवान महावीर की मुख्य कर्म-भूमि रहा है। पर कैसी स्थिति है कि जिस बिहार भूमि को महावीर ने अपने उपदेशों से सींच-सींचकर सरसब्ज बनाया था, आज वह मरुस्थल-सी लगती है! उनके द्वारा प्रचारित तत्त्व एवं दर्शन के अनुयायी यहां इने-गिने ही देखने में आ रहे हैं। इसके विपरीत मरुस्थल कहलानेवाला राजस्थान आज महावीर-वाणी के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से सरसब्ज बन रहा है। जैन-धर्म का वहां व्यापक प्रभाव और फैलाव है। उसकी ज्योति वहां के भूले-भटके लोगों को राह दिखाने का महनीय कार्य कर रही है। इसके बावजूद बिहार की इस यात्रा से मैं अत्यंत आह्लादित हूं। इसका एक महत्वपूर्ण कारण है। महावीर के अनुयायियों की क्षीण संख्या के बावजूद यहां के कण-कण में महावीर-वाणी की गूंज है। उस गूंज का मैं बहुत स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा हूं। हमारा, आपका और सबका यह पुनीत कर्तव्य है कि सार्वजनीन, सावदेशिक और सार्वकालिक हित की दृष्टि से महावीर द्वारा उच्चारित और प्रचारित वाणी की प्राप्ति की दृष्टि से सतत प्रयत्नशील रहें, जागरूक रहें।

मैं मानता हूं, यह महावीर-वाणी एक अमूल्य निधि है। इसे प्राप्त करके जैन लोगों को अपने-आपमें संपन्नता की अनुभूति करनी चाहिए।

स्याद्वाद का मूल्य

जैनों के पास स्याद्वाद जैसा महान समन्वयकारी सिद्धांत है, इसका उन्हें गौरव होना चाहिए। यह एक ऐसा सिद्धांत है, जो द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों को एक कर सकता है, ईश्वरकर्तृत्ववादी और अनिश्वरवादी में परस्पर सामंजस्य बिठा सकता है, आस्तिक और नास्तिक का भेद पाट सकता है। मैं मानता हूं कि व्यक्तिगत स्तर से लेकर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर तक उभरनेवाले विभिन्न विवाद इस

सिद्धांत के माध्यम से बहुत सुंदर ढंग से सुलझाए जा सकते हैं। इसी लिए बड़े-बड़े विद्वान इससे अत्यंत प्रभावित हैं, इसके प्रति प्रणत हैं, पर कैसी बात है कि जैन लोग इस सिद्धांत के प्रति उदासीन हैं ! बहुत सही तो यह है कि वे इसका सही-सही मूल्यांकन ही नहीं कर रहे हैं, अन्यथा कोई कारण नहीं कि वे इसे अपने जीवन-व्यवहार में स्थान न देते। यदि वे इसका सही-सही मूल्यांकन करके इसे उचित महत्त्व देते तो आज उनके जीवन की धारा कुछ भिन्न ही होती। वे छोटे-छोटे नाकुछ विवादों में उलझते हुए दिखाई नहीं देते। क्या यह जैनों के लिए गंभीर चिंतन की बात नहीं है? जैन लोग अब भी अपने जीवन को एक नया मोड़ दें। वे स्याद्वाद के इस महान सिद्धांत के प्रयोक्ता बनें। यह प्रयोग निश्चय ही उनके जीवन को एक नया निखार देनेवाला सिद्ध होगा, वे महावीर के सच्चे अनुयायी कहलाने के अधिकारी बन सकेंगे।

मतभेद मनभेद न बने

इस सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में जब मैं जैनों के विभिन्न संप्रदायों की मान्यताएं एवं सिद्धांत देखता हूं तो मुझे बहुत स्पष्टतया ऐसा अनुभव होता है कि परस्पर मौलिक मतभेद की मात्रा बहुत ही कम है, अभेद ही ज्यादा है। वैसे जैनों के विभिन्न संप्रदायों में ही क्यों, विभिन्न धर्मों के संदर्भ में भी तो यही बात है। परस्पर मतभेद की बातें बहुत थोड़ी हैं। इस संदर्भ में एक बात और है। कोई मतभेद है तो वह मतभेद के धरातल तक ही रहे, उसे परस्पर विचार-विनिमय तक ही सीमित रखें। उसे मनभेद का रूप न दें, उसके कारण विवादास्पद स्थितियां पैदा न करें। स्याद्वाद का सिद्धांत सामने रखकर धार्मिक सहिष्णुता और सांप्रदायिक सद्भाव का वातावरण निर्मित करें। यह जैन-शासन की बहुत बड़ी सेवा हो सकेगी।

जैन-सिद्धांत भवन, आरा

४ जनवरी १९५९

३ : वर्तमान जीवन को स्वर्ग बनाने की प्रक्रिया

भारतीय धर्मों और दर्शनों में स्वर्ग, नरक, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि की विस्तृत चर्चा हुई है। मैं इसे अहेतुक, अनुपयोगी और अनावश्यक नहीं मानता। इसकी उपयोगिता और आवश्यकता स्वीकार करता हूँ, तथापि अभी आप लोगों को इस चर्चा में नहीं ले जाना चाहूँगा। स्वर्ग कहां है, वह किसे मिलता है, कैसे मिलता है—इन बातों की चर्चा करने के बजाय मैं यह बताना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि अपने वर्तमान को स्वर्ग कैसे बनाया जाए, उसका स्वरूप कैसा हो। यदि आपका आचार पवित्र है, व्यवहार शुद्ध है, विचार सात्त्विक हैं, दुष्प्रवृत्तियां हावी और प्रभावी नहीं हैं तो आप अपने जीवन में अनिर्वचनीय सुख और आनंद का अनुभव करेंगे। आपके लिए यह जीवन स्वर्ग ही होगा। शुद्धाचार और सात्त्विक विचार की भीति पर हमने एक कार्यक्रम चला रखा है। अणुव्रत-आंदोलन के नाम से पहचाने जानेवाले इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन-जन की जीवन-शैली स्वस्थ बने, धर्म के मौलिक तत्त्व उसके जीवन में मूर्त बनें, वह अपने वर्तमान जीवन में शांति और आनंद का अनुभव करे। हमारी इस धरती पर मैं जिस स्वर्ग की कल्पना करता हूँ, उसे साकार करने की प्रक्रिया यह कार्यक्रम ही है। इस कार्यक्रम की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय, लिंग, भाषा आदि की कोई बाधा नहीं है। कोई भी व्यक्ति, जिसका शुद्धाचार और उच्च विचार की जीवनशैली में विश्वास है, इसे अपनाकर अपना जीवन स्वर्ग बना सकता है। क्या आप लोग अपना जीवन स्वर्ग, बनाना नहीं चाहेंगे? अवश्य चाहेंगे। इस चाह की राह यही है कि आप संकल्प के स्तर पर अणुव्रत-आंदोलन की आचार-संहिता स्वीकार करें। निश्चय ही आपको अवाच्य आत्म-तोष मिलेगा।

शांतिनाथ जिन मंदिर, आरा ४ जनवरी १९५९

४ : अणुव्रत-आंदोलन : समय की मांग

वर्षों की साध पूरी हुई

पाटलिपुत्र एक ऐतिहासिक नगर है, प्रसिद्ध सांस्कृतिक केंद्र-स्थल है और बिहार प्रदेश की राजधानी है। यहां पहुंचकर मेरी वर्षों की साध पूरी हुई है, प्रतीक्षा को विराम मिला है, चित्त आह्लादित हुआ है। मैंने पूर्व में गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि प्रदेशों की भी यात्राएं की हैं, पर उन यात्राओं की प्रसन्नता की तुलना में आज यहां पहुंचने की प्रसन्नता कुछ अतिरिक्त ही है। यहां पहुंचकर मैं अपने-आपको सौभाग्यशाली महसूस कर रहा हूं। कारण स्पष्ट ही है। बिहार प्रदेश भगवान महावीर का प्रमुख विहार-क्षेत्र रहा है। ढाई हजार वर्ष पूर्व यहां के कण-कण में उनकी वाणी गूंजी थी। इसलिए इस भूमि के प्रति मेरे मन में एक विशेष आकर्षण का भाव रहा है।

जब से मैंने बिहार प्रांत की सीमा में प्रवेश किया है, मैं इस बात का अनुभव कर रहा हूं कि यहां की ग्रामीण जनता के मन में महावीर-वाणी के प्रति सहज श्रद्धा का भाव है। यदि कोई उसे वह वाणी, संदेश-उपदेश सुनाता है तो वह बड़े प्रेम और ग्रहणशील मानस से सुनती है। वैसे भी ग्रामीण लोगों के जीवन में सहजता होती है। उनमें काम करना मेरी विशेष रुचि का विषय है। तेरापंथ के प्रणेता आचार्य भिक्षु ने कहा था—‘साधुओ ! यदि तुम्हें धर्म-प्रचार करना है तो शहरी सुख-सुविधाएं छोड़कर गांवों में जाओ।’ कैसी बात है कि दो सौ वर्ष पूर्व की उनकी बात आज नवीन-सी लगती है! जो तत्त्व सामान्य लोग वर्तमान में देखते हैं, महापुरुष उसे बहुत पहले ही देख लेते हैं। इसी लिए तो वे भविष्य-द्रष्टा कहलाते हैं।

अणुव्रत-आंदोलन का अभिप्रेत

मैं अपने संपर्क में आनेवालों के समक्ष तथा प्रवचन-सभाओं में

अणुव्रत-आंदोलन : समय की मांग

अणुव्रत-आंदोलन की चर्चा करता रहता हूँ। इस आंदोलन से आपको भी परिचित होना है। यह कोई आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक या सांप्रदायिक आंदोलन नहीं है और न इसके पास लोगों को देने के लिए कोई भौतिक वस्तु ही है। कोई लेना ही चाहे तो यह उसे *अणुव्रती* का पद देता है और उसकी एवज में संयम का शुल्क लेता है।

अणुव्रत-आंदोलन एक व्यापक क्रांति कर स्वस्थ समाज की संरचना करना चाहता है। इसकी प्रक्रिया के रूप में यह व्यक्ति-व्यक्ति को सुधार की दिशा में स्वयं शुभ शुरुआत करने की बात कहता है। इसकी दृष्टि है कि व्यक्ति स्वयं सुधरकर ही दूसरों के लिए प्रेरक बन सकता है, उन्हें सुधार सकता है। स्वयं सुधरे बिना दूसरों का सुधारने की बात करने की कोई सार्थकता नहीं है।

अणुव्रत-आंदोलन लगभग एक दशक से निरंतर कार्य कर रहा है। जिस व्यापक स्तर पर इस आंदोलन को जन-समर्थन मिला है, वह इस बात की सूचना है कि यह एक समय की मांग है।

राजनेता अपनी जीवन-धारा बदलें

एक समय था, जब समाज में राजनीतिक लोगों का अच्छा प्रभाव था। लोग उनके प्रति गहरी आस्था रखते थे, उनकी बातों पर विश्वास करते थे। इसलिए उनके एक आह्वान पर वे मौत का आलिंगन करने तक की बात भी सहर्ष स्वीकार कर लेते थे, पर धीरे-धीरे उनकी कर्तृत्व-शक्ति क्षीण होती चली गई। आज स्थिति यह बनी है कि उनकी वाणी लोगों के कानों तक तो अवश्य पहुंचती है, पर हृदय को नहीं छू पाती। मैं उनसे कहना चाहूंगा कि वे अब संभलें। अपने जीवन को एक मोड़ दें। अपना आचरण सुधारें। कथनी और करनी की एकरूपता पर ध्यान केंद्रित करें। आत्मानुशासन का व्रत लें। अपना जीवन संयमय बनाएं। इससे जनता पर उनका सहज असर पड़ेगा।

धार्मिक अनास्था क्यों

धार्मिक क्षेत्र की स्थिति भी तो अच्छी नहीं है। धर्म एवं धार्मिक नेताओं के प्रति लोगों में अश्रद्धा की भावना पैदा हो रही है। कुछ लोग इसका कारण बढ़ती बौद्धिकता तथा विज्ञान को बता सकते हैं, पर यह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता है—तथाकथित धर्माधिकारियों के गलत कारनामे। उन्होंने धर्म के नाम पर हिंसा, शोषण और भ्रष्टाचार का खेल

खेला। इन्हें मान्यता दी, प्रोत्साहन दिया। मैं पूछना चाहता हूँ कि धर्म के नाम पर क्या-क्या अन्याय नहीं हुआ। और तो क्या, भारत का विभाजन भी तो धर्म के नाम पर हुआ। यह अवांछनीय स्थिति आज भी बनी हुई है। धर्म के नाम पर जैसी-जैसी गलत प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उन्हें देख-सुनकर कई बार मन में प्रश्न उभरता है कि फिर अधर्म नाम का तत्त्व क्या है, पाप क्या है।

धर्म को उपासना तक सीमित बना देना भी धर्म व धर्माधिकारियों के प्रति अनास्था पैदा होने का एक बड़ा कारण बना है। लोग मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा में पूजा, अर्चना, पाठ आदि कर अपनी धार्मिकता की इतिश्री कर लेते हैं, अपने विचार और आचार पवित्र बनाना आवश्यक नहीं समझते। सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, ईमानदारी, सदाचार आदि धर्म के तत्त्वों को जीवन-व्यवहार से संपृक्त करने की कोई अपेक्षा महसूस नहीं करते। इसलिए उनके जीवन में शोषण, धोखाधड़ी, कालाबाजारी, रिश्वत-जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। आश्चर्य है, इन सबके चलते भी उपासना और बाह्य क्रियाकांडों के कारण वे धार्मिक कहलाते हैं! इन तथाकथित धार्मिकों का जीवन-व्यवहार देखकर आज की नई पीढ़ी के लोगों में धर्म के प्रति अनास्था का भाव पैदा होता है तो किसी को विस्मय क्यों होना चाहिए? हाँ, यदि नहीं होता है तो अवश्य विस्मय करने-जैसी बात है। अणुव्रत-आंदोलन धार्मिक क्षेत्र की विकृतियाँ दूर कर उसे अपनी सही प्रतिष्ठा देना चाहता है। उसे धर्मस्थानों एवं धर्मग्रंथों की सीमा से बाहर निकालकर जन-जन के जीवन-व्यवहार में मूर्तिमान बनाना चाहता है। मैं धर्म के तथाकथित नेताओं से कहना चाहता हूँ, यदि वे अपना नेतृत्व सुरक्षित रखना चाहते हैं तो अपनी सोच और कार्यशैली बदलें। वे स्वयं त्याग और व्रतमय जीवन जिएं तथा अपने अनुयायियों को भी इस दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करें। जब तक धर्म को आचरणात्मक रूप प्रदान कर व्यक्ति-व्यक्ति के दैनंदिन जीवन से संपृक्त नहीं किया जाएगा, तब तक पवित्रता और शांति के रूप में उसका वास्तविक फलित सामने नहीं आ सकेगा। ऐसी स्थिति में वह जन-आकर्षण का केंद्र भी नहीं बन सकता। अपेक्षा है, इस बिंदु पर गंभीरता से चिंतन किया जाए।

ह्रीलर सीनेट हॉल, पटना, ७ जनवरी १९५९

५ : संयम जीवन का सौंदर्य है

मैं एक सप्ताह से बिहार प्रांत में प्रवास कर रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यहां के जन-जीवन में सहज सादगी है। यह निष्कारण नहीं है। बिहार भगवान महावीर और गौतम बुद्ध का प्रदेश है। मुझे प्रतीत होता है कि ढाई हजार वर्ष बीत जाने के पश्चात भी उनके उपदेशों का असर समाप्त नहीं हुआ है। भले जैन और बौद्ध कहलानेवालों की संख्या यहां कम है, पर विचार, संस्कार और व्यवहार के स्तर पर आज भी बड़ी संख्या में लोग जैन हैं, बौद्ध हैं।

संयम का माहात्म्य

मैं भगवान महावीर की परंपरा का आचार्य हूँ। महावीर के समग्र उपदेश का यदि हम एक शब्द में बांधना चाहें तो उसे *संयम* में बांध सकते हैं। महावीर ने कहा—‘एक व्यक्ति प्रतिदिन दस लाख गायों का दान करता है, पर उसके बनिस्बत वह व्यक्ति महान है, जो संयमी है, जबकि वह एक भी गाय का दान नहीं करता।’ वस्तुतः संयम जीवन का सौंदर्य है। जो लोग संयममय जीवन जीते हैं, वे सचमुच अत्यंत सौभाग्यशाली हैं। इससे उनके आत्म-विकास की दिशा बन जाती है। इतना ही नहीं, उनका जीवन संसार के लिए भी आत्म-विकास की मूक प्रेरणा बनता है। मैं यहां संयम का कार्यक्रम लेकर आया हूँ। अणुव्रत-आंदोलन के नाम से पहचाने जानेवाले इस कार्यक्रम का घोष ही हैं—**संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है।** इतने मात्र से आप समझ सकते हैं कि यह आंदोलन संयम को कितना महत्व और बल देता है। इसका अभिप्रेत है कि व्यक्ति-व्यक्ति अपने जीवन को संयम की साधना से भावित करे। यह संयम की साधना उसे महानता की ओर ले जाती है। महावीर के अनुसार व्यक्ति पूज्य नहीं होता, पूज्यत्व संयम में सन्निहित है। साधु-संतों के स्वागत-सम्मान-अभिनंदन की परंपरा का आधार यही तो है। साधु-संत स्वयं संयम का जीवन जीते हैं और जन-जन को संयमाभिमुख

बनने की प्रेरणा देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संयम के प्रतीक होते हैं। इसलिए साधु-संतों का स्वागत-अभिनंदन प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से संयम का ही स्वागत-अभिनंदन है।

भारतीय जनों से अपेक्षा

भारतीय संस्कृति संयमप्रधान संस्कृति रही है। संसार-भर के लोग भारतवर्ष से चरित्र और संयम की शिक्षा लेते रहे हैं। आज भी संपूर्ण विश्व की दृष्टि भारतवर्ष पर टिकी है, लेकिन हम यदि देश की आंतरिक स्थिति का अवलोकन करें तो वह बड़ी दयनीय-सी प्रतीत होती है। यह कितनी विषमता की बात है ! पर इससे भी अधिक यह भारतीय जनों के लिए गंभीर आत्मालोचन एवं चिंतन की बात है। इस संदर्भ में एक बात समझने की है। जिस अतीत की परंपरा के नाते विश्व में भारत का गौरव है, उससे उन्हें अहंकार व अपनी आंतरिक दुरवस्था में हीनभाव नहीं लाना है। भगवान महावीर ने कहा—**नो हीणे नो अइरित्ते।** अर्थात् व्यक्ति न तो अपने को हीन माने और न ही अतिरिक्त। उन्होंने हीनभाव को उतना ही हेय माना, जितना अहंभाव को। जहां अहंकार आत्म-गुणों को ढकता है, वहीं हीनभावना उनके प्रकटीकरण एवं विकास में बाधक है। भारतीय चिंतन-परंपरा में अपने कर्तृत्व का विगलन करके उसे ईश्वरार्पण (सब-कुछ ईश्वर ही करता है) की जो वृत्ति देखने को मिलती है, उसके मूल में शायद अहंकार-निरसन की भावना ही रही हो। कृतियों में जरा भी अहंभावना न आ पाए, इस उदात्तभावना ने संभवतः उसे पनपाया हो। मैं भारतवासियों को लक्ष्य कर विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि वे अहंकार-वर्जन के साथ-साथ अपनी असीम आत्म-शक्ति का उत्कर्ष भी न भूलें। वे स्मरण रखें कि वे जड़ और मिट्टी नहीं हैं, चेतन हैं। इसलिए उन्हें अपने बल, वीर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ को जाग्रत करके नैतिक एवं चारित्रिक अधःपतन से स्वयं को उबारना है। असंयम के युग-प्रवाह में न बहकर प्रतिस्रोत में गति करनी है, अपनी जीवनशैली संयममय बनानी है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि वे बहुत-कुछ करने की क्षमता रखते हैं, बशर्ते कि अपनी सुप्त आत्म-शक्तियां यथावत पहचानें, जाग्रत करें और उन्हें सत्प्रयुक्त करें।

हिंदी साहित्य सम्मेलन भवन, पटना

७ जनवरी १९५९

संयम जीवन का सौंदर्य है

● ११ ●

६ : विद्यार्थियों की जीवन-दिशा

विद्याभ्यास क्यों

विद्यार्थियों की वह विशाल परिषद देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है। चूंकि मैं भी एक विद्यार्थी हूँ, इसलिए विद्यार्थियों के बीच आने और उनसे अपनी बात कहने में सहज प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। मेरी दृष्टि में विद्यार्थीकाल जीवन का सर्वोत्कृष्ट काल है। क्यों? यह इसलिए कि यह निर्माण का समय है। इस काल में जीवन-निर्माण की प्रक्रिया चलती है। गहराई से देखा जाए तो विद्याध्ययन का मूलभूत उद्देश्य जीवन-निर्माण ही है। यदि वर्षों के विद्याध्ययन के बाद भी जीवन निर्मित नहीं हुआ, सुसंस्कारित नहीं बना, उसमें सद्गुणों की महक नहीं फूटी तो उसकी क्या सार्थकता है? प्राप्त उपाधियों की क्या उपयोगिता है? भारतीय संस्कृति के आचार्यों ने विद्या को परिभाषित करते हुए कहा— **सा विद्या या विमुक्तये**—विद्या वही है, जो जीवन को विमुक्ति की दिशा में ले जाए, उसे दुर्गुणों, दुर्वृत्तियों और कुसंस्कारों के दुर्धर्ष बंधन से छुड़ा सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियाँ एवं सत्संस्कारों के विशुद्ध वातावरण में लाए।

भगवान महावीर ने विद्याध्ययन के उद्देश्यों का निरूपण करते हुए कहा—

- सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
- एग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
- अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
- ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
- 'मैं जानी बनूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
- 'मैं एकाग्रचित्त बनूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
- 'मैं अपनी आत्मा को धर्म (शुद्ध आचार-विचार) में स्थापित

करूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

- 'मैं धर्म (शुद्ध आचार-विचार) में स्थित होकर दूसरों को भी इस दिशा में मोड़ूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

इस निरूपण के परिप्रेक्ष्य में जब हम शिक्षा जगत की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करते हैं तो यह बात बहुत स्पष्ट रूप में सामने आती है कि विद्यार्थियों ने विद्याध्ययन के मूल उद्देश्य भुलाकर उसे अक्षर-ज्ञान और डिग्री की प्राप्ति तक सीमित कर दिया है। मेरी दृष्टि में यह भयंकर भूल हो रही है। इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थियों का जीवन अभिशाप बन रहा है। वे अंधकार में भटक रहे हैं। विद्या-संस्थान शिक्षा के बजाय राजनीति के अड्डे बन रहे हैं। मैं विद्यार्थियों से कहना चाहूंगा कि वे विद्याध्ययन के मूल उद्देश्य समझें, उन पर अपना ध्यान केंद्रित करें। राजनीति का दुश्चक्र बड़ा भयंकर होता है। इसलिए वे उससे सलक्ष्य बचें। अपने-आपको विद्यार्जन के लिए समर्पित कर दें। नैतिकता एवं सच्चरित्र से अपना जीवन भावित करें। इससे उनका जीवन सार्थक हो जाएगा। जीवन-निर्माण की दिशा स्वतः बन जाएगी।

जाग्रत धर्म का स्वरूप

धर्म जीवन-जाग्रति एवं पवित्रता का एकमात्र साधन है। शांति का महामंत्र है। आप धर्म के नाम से चौंके नहीं। वैसे आपका चौंकना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज उसका स्वरूप विकृत हो गया है। वह बाह्य क्रियाकांडों एवं रूढ़ियों में जकड़ गया है। इसलिए जीवन-जाग्रति एवं पवित्रता के उद्देश्य की पूर्ति करने में अक्षम हो रहा है, जीवन में शांति की अनुभूति कराने में नाकाम सिद्ध हो रहा है। ऐसे धर्म के प्रति लोगों में अनाकर्षण का भाव हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, पर मैं आप लोगों से जिस धर्म की बात कह रहा हूँ, वह रूढ़िरूप धर्म नहीं, अपितु जाग्रत धर्म है। वह अपनी गुणात्मकता पूर्ण रूप से सुरक्षित रखे हुए है। वह धर्म है—सत्य और अहिंसा की साधना, संयम और समता की आराधना। धर्म के इन मौलिक सिद्धांतों की भित्ति पर हमने अणुव्रत-आंदोलन के रूप में एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम शुरू कर रखा है। इसके अंतर्गत समाज के सभी वर्गों के लिए ऐसे छोटे-छोटे संकल्प रखे गए हैं, जिन्हें व्यक्ति बिना किसी विशेष कठिनाई के निभा सकता है, पर छोटे-छोटे होने के बावजूद, उनमें अद्भुत सृजनात्मक शक्ति है। आज

अणु की शक्ति से कौन अपरिचित है? विद्यार्थी-वर्ग के लिए इसमें निम्नांकित पांच संकल्प हैं—

- मैं परीक्षा में अवैधानिक तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
- मैं तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
- मैं विवाहादि के प्रसंग में रूपए आदि लेने का ठहराव नहीं करूंगा।
- मैं धूम्रपान व मद्यपान नहीं करूंगा।
- मैं रेलवादि से बिना टिकट यात्रा नहीं करूंगा।

विद्यार्थियों से अपेक्षा है कि वे इन संकल्पों की मूल भावना आत्मसात करके इन्हें अपने जीवन का हिस्सा बनाएं। इससे उनके विकास का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाएगा।

शिक्षाधिकारियों से अपेक्षा

मेरे समक्ष शिक्षाधिकारी भी उपस्थित हैं। उन्हें यह बात गंभीरता से समझने की अपेक्षा है कि आज के विद्यार्थी समाज और राष्ट्र के भावी नेता और कर्णधार हैं। मेरी दृष्टि में विद्यार्थी-वर्ग समाज और राष्ट्र की सबसे बड़ी पूंजी है, पर यह कितने खेद की बात है कि समाज और राष्ट्र के वर्तमान नेताओं और अधिकारियों की निगाह अन्यान्य पूंजियों के विकास की ओर लगी है। वे इस पूंजी के संरक्षण एवं विकास के प्रति अपेक्षा का भाव अपनाए हुए हैं। यदि वे इस पूंजी का यथार्थपरक मूल्यांकन करते तो आज शिक्षा-जगत की स्थिति कुछ भिन्न ही होती। हालांकि आज शिक्षण-संस्थानों की कोई कमी नहीं है, स्थान-स्थान पर नए-नए शिक्षण-संस्थान और खुल रहे हैं, पर मूलभूत प्रश्न तो यह है कि इनसे शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य कहां तक पूरा हो रहा है। जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही कहा था, शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य जीवन-निर्माण है। यह एक कटु सचाई है कि आज की शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति करने में निरुपाय और अक्षम-सी है। मैं शिक्षाधिकारियों से बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति गंभीर बनते हुए राष्ट्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पूंजी के संरक्षण एवं संवर्धन पर अपना पूरा ध्यान केंद्रित करें। सुचिंतित रूप से शिक्षा-प्रणाली को इस रूप में ढालें कि वह अपने मूलभूत उद्देश्य के अनुरूप परिणाम दे सके। मैं आशा करता हूं कि शिक्षाधिकारी इस बिंदु पर गहराई से सोचेंगे और अपनी कार्यशैली बदलेंगे। इससे वे समाज और राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा कर सकेंगे।

ह्रीलर सीनेट हॉल, पटना, ८ जनवरी १९५९

७ : रक्षक स्वयं सुरक्षित बनें

जन-कल्याण भी साधना है

आज मैं पुलिस के लोगों के बीच उपस्थित हूँ। उनसे मैं कुछ बातें कहना चाहता हूँ। आपमें से कुछ लोग इस भाषा में सोच सकते हैं कि साधुओं का संसार से क्या संबंध; उन्हें तो अरण्य में वास करते हुए अपनी साधना करनी चाहिए। यद्यपि सापेक्ष दृष्टि से मैं यह चिंतन गलत नहीं मानता, क्योंकि अरण्यवासी साधकों की भी एक परंपरा है। वे अरण्य में रहकर ही साधना करते हैं, समाज के बीच नहीं आते, पर भगवान महावीर से मुझे जो साधना का क्रम मिला है, वह इससे भिन्न है। वह क्रम है—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा.....अर्थात् साधना ग्राम में की जा सकती है, नगर में की जा सकती है, अरण्य में की जा सकती है, अन्यत्र कहीं भी की जा सकती है। उसे किसी स्थानविशेष से अनुबद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः साधना के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। इसलिए उन्होंने साधक को उभयानुकंपी बताया। वह स्वकल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण, जन-कल्याण के लिए भी प्रयत्नशील रहे, जनता का मार्ग-दर्शन करे, उसे आत्म-विकास की प्रेरणा दे। उन्होंने जन-कल्याण के इस कार्य को भी उसकी साधना का ही एक अंग बताया। उन्होंने कहा—‘मौन रहना तपस्या है तो जन-कल्याण के लिए उपदेश देना भी तपस्या है। भूखा रहना तपस्या है तो स्वाध्याय, सेवा आदि के लिए भोजन करना भी तपस्या है। ध्यान तपस्या है तो सोद्देश्य चलना भी तपस्या है.....बस, इतना-सा ध्यान रखना अपेक्षित है कि हर क्रिया सावधानीपूर्वक हो, संयमपूर्वक हो।’ महावीर द्वारा बताया गया यही साधना-क्रम स्वीकार कर हम अपनी साधना कर रहे हैं। अतः हमने स्व-कल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण के कार्य के साथ भी स्वयं को जोड़ रखा है। उसी क्रम में आज मैं आपके बीच आया हूँ।

सेवा पेशा न बने

आपने सेवा का व्रत लिया है। सेवा का व्रत बहुत कठिन होता है। राजर्षि भर्तृहरि ने तो यहां तक कह दिया—**सेवादधर्मः परम गहना योगिनामप्यगम्यः।** यानी सेवा धर्म परम गहन है। योगीजनों के लिए भी वह अगम्य है। भले सेवा धर्म कठिन है, उसे समझना सहज नहीं है, पर आपने जब सेवा का व्रत लिया है, तब आपको तो उसे समझना ही होगा, अन्यथा उसे सम्यक रूप से कैसे निभाएंगे? निभाने का प्रश्न फिर भी आगे का है, उससे पहले तो प्रश्न यह है कि उसे व्रत मानते भी हैं या नहीं। मुझे ऐसा लग रहा है कि आज सेवा व्रत नहीं, अपितु पेशा बन रही है, आजीविका का साधन बन रही है। किसी को गलतफहमी न हो, इसलिए इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि मैं पारिश्रमिक लेने के खिलाफ नहीं हूं। वह तो उसके साथ सहज रूप से जुड़ी हुई बात है, तथापि इतना स्पष्ट है कि वह गौण बात है। मुख्य बात सेवा को व्रत के रूप में स्वीकार करने की है, उसे अपना कर्तव्य मानने की है। जब तक सेवा को अपना कर्तव्य नहीं समझेंगे, तब तक आप उसके साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। इसलिए मैं कहना चाहता हूं कि आप मुख्य बात पर ध्यान केंद्रित करें, आजीविका तो उससे सहज रूप से प्राप्त होती ही है। उसे मुख्य न बनाएं।

कौन होता है रक्षक

दूसरी बात—आप पर रक्षा की जिम्मेदारी है। रक्षा का दायित्व क्षत्रियों का है। जैन-परंपरा के अनुसार भगवान ऋषभनाथ के शासनकाल में सबसे पहले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में तीन वर्णों की व्यवस्था हुई। यह व्यवस्था कार्य-दायित्व के आधार पर थी। इसमें छोटे-बड़े, ऊंच-नीच की कोई भावना नहीं थी। जिन्होंने रक्षा का दायित्व संभाला, वे क्षत्रिय कहलाए। **क्षत्रात् त्रायते इति क्षत्रियः।** इसी क्रम में वैश्यों एवं शूद्रों का भी अपना-अपना दायित्व था।

आज यह व्यवस्था बदल गई है। रक्षा का दायित्व आप पर है, भले आप क्षत्रिय नहीं कहलाते। कौन हो सकता है रक्षक ? क्या इस प्रश्न का उत्तर आपमें से कोई दे सकता है? मैं ही दे देता हूं। रक्षक वही हो सकता है, जो स्वयं की रक्षा करने में सक्षम हो। जो स्वयं की रक्षा करने में ही सक्षम न हो, अपने-आपमें ही सुरक्षित न हो, वह दूसरों

की रक्षा कैसे कर सकता है? आप जनता की सुरक्षा का महान दायित्व सफलतापूर्वक तभी निभा पाएंगे, जब आप अपने-आपमें सुरक्षित बनें। आप कहेंगे कि हम तो अपने-आपमें सुरक्षित ही हैं। नहीं, मैं जिस सुरक्षा की बात कह रहा हूँ, उस दृष्टि से संभवतः आपने ध्यान नहीं दिया है। मैं सुरक्षा चाहता हूँ—बुराइयों से, दुष्प्रवृत्तियों से, दुराचार से। जो स्वयं दुराचार में डूबा है, दुष्प्रवृत्त है, पतित है, वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकेगा?

आज की स्थिति कैसी है, यह बात आपसे छिपी नहीं है। लोग कहते हैं कि जब रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं, तब त्राण की आशा कहां से करें। कहते हैं, रामराज्य में गुड़ ने रामचंद्रजी से शिकायत के स्वर में कहा— 'प्रभो ! आपके राज्य में सभी सुखी हैं, किंतु मैं कैसा अभागा हूँ कि दुखी हूँ।' रामचंद्रजी ने पूछा—'क्या दुःख है?' गुड़ बोला—'दुःख यही कि मुझे सभी खाते हैं। मनुष्यों और पशुओं की तो खैर बात ही क्या, जरा-जरा-सी मक्खियां और चींटियां भी मुझे नहीं छोड़ती।' रामचंद्रजी ने पूछा—'ऐसा कौन-सा गुण है तुममें?' गुड़ बोला—'प्रभो ! मैं मीठा हूँ।' मुस्कराते हुए-से रामचंद्रजी बोले—'भाई! तब तो मेरा मन भी खाने को चलता है।' गुड़ ने सोचा—बस, हो गया न्याय! अब किससे पुकार करूं! रक्षक ही जब भक्षण को ललचाते हैं, तब दूसरा तो कोई रक्षा कर ही कैसे सकता है!

जरूरी है आत्म-निरीक्षण

यह बात कितनी यथार्थपरक है, इस चर्चा में आप न जाएं, पर इसमें जो मर्म छिपा है, उसे अवश्य पहचानें। रक्षक ही जब भक्षक बनने लगें, तब जनता पर क्या गुजरती है, इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। लोग आपको रक्षक समझकर आपके पास आते हैं, पर उनके साथ कैसा व्यवहार होता है, यह अस्पष्ट नहीं है। रिश्वत का ऐसा चक्र चलता है कि कुछ कहने की बात नहीं। उनका छोटा-से-छोटा काम भी इसके बिना होना कठिन हो जाता है। लोग कहते हैं कि भगवान घट-घटव्यापी हैं, पर वर्तमान में सरकारी कर्मचारियों की स्थिति देखकर तो ऐसा लगता है कि आज रिश्वत घट-घटव्यापी है। आप कहेंगे कि जब सरकार से मिलनेवाले वेतन से काम नहीं चलता, तब क्या करें। हम भी तो बाल-बच्चेदार हैं। मैं समझता हूँ कि इस तर्क का कोई अर्थ नहीं

रक्षक स्वयं सुरक्षित बनें

है। आपकी तरह ही दूसरे-दूसरे वर्गों के लोगों के सामने भी तो ऐसी ही स्थिति है, फिर आप उन्हें दोष क्यों देते हैं? उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार की चर्चा क्यों करते हैं? आप पहले स्वयं सुधरें। स्वयं सुधरकर ही आप दूसरों को कहने के अधिकारी बन सकेंगे। इसके लिए आपको वेद और आगम पढ़ना जरूरी नहीं है। पिटक, कुरान, गुरुग्रंथसाहिब आदि देखना आवश्यक नहीं है। उसका तो एक छोटा-सा सूत्र है—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं। यानी आत्म-निरीक्षण। जीवन में बदलाव लाने का यह बहुत ही महत्वपूर्ण सूत्र है। आपमें से प्रत्येक व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करे, अपने जीवन पर सूक्ष्मता से ध्यान दे कि उसमें कौन-कौन-सी बुराइयां घर किए हुए हैं। आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया से गुजरते हुए जो-जो बुराइयां ध्यान में आएँ, उन्हें एक-एक कर बाहर कर दे। इस प्रकार उसका जीवन शुद्ध हो जाएगा, अपने-आपमें सुरक्षित हो जाएगा। दूसरों की रक्षा करने में सक्षम बन जाएगा। उसका रक्षक कहलाना सार्थक बन जाएगा।

बहुत-सी समस्याओं की जड़

मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि बहुत-सी समस्याओं की जड़ व्यक्ति की असीमित लालसा है। आप जीते हैं भारतवर्ष में, नौकरी करते हैं भारतवर्ष में, वेतन पाते हैं भारतवर्ष में और उड़ान भरते हैं—रूस के रॉकेट की तरह! यह कहां तक उचित है? आप धनकुबेर बनने की लालसा छोड़ें, अपनी आवश्यकताएं सीमित करें। आकांक्षा का कोई अंत नहीं होता। वह आकाश की तरह अनंत है।

मद्यपान घातक है

मैं पूछना चाहता हूं कि आप मदिरा क्यों पीते हैं। रोटी की आवश्यकता समझ में आती है, दूध भी आवश्यक हो सकता है, पर मदिरा तो आवश्यक नहीं। फिर मदिरा तो बहुत नुकसानदेह भी है, बहुत-सी बुराइयों की जननी भी है। मद्यपान के परिणाम बहुत ही घातक हैं। क्या आप नहीं जानते कि यादव वंश का नाश इसी के कारण हुआ था? वस्तुतः मदिरा व्यक्ति का मस्तिष्क ठिकाने नहीं रहने देती, उसे असंतुलित और उन्मत्त बना देती है। आप जरा सोचें कि जब व्यक्ति का दिमाग ही ठिकाने नहीं होगा, संतुलित और स्वस्थ नहीं होगा, तब वह गलत काम कैसे नहीं करेगा, बुराइयों में प्रवृत्त कैसे नहीं होगा। मैं पूछना

चाहता हूँ कि असंतुलित और अस्वस्थ दिमाग से आप धन-जन की रक्षा का दायित्व सही ढंग से कैसे निभा सकेंगे; अपने कर्तव्य का पालन कैसे कर सकेंगे। मुझे आपके उत्तर की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह बहुत स्पष्ट है। आप तो यह संकल्प करें कि हम मद्यपान नहीं करेंगे। महात्मा बुद्ध ने पांच शीलों में इसे एक शील बताया है। अन्यान्य धर्म-प्रवर्तकों ने भी इस दुष्प्रवृत्ति से बचने की प्रेरणा दी है। हम अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से यह बुराई छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मैं पुनः आपको मद्यपान न करने का संकल्प करने की प्रेरणा देता हूँ। इसके साथ ही आपको तीन संकल्प और करने चाहिए—

१. मैं रिश्वत नहीं लूंगा।
२. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करूंगा।
३. मैं जनता और सरकार को धोखा नहीं दूंगा।

मैं मानता हूँ, यदि ये चार बातें आप स्वीकार कर लें तो आपके जीवन में एक गुणात्मक परिवर्तन आ सकता है।

उपस्थित अधिकारियों से एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। सामान्य पुलिसकर्मी आपके निर्देश में काम करते हैं। आपका उन पर सहज असर होता है। इसलिए आप ये चारों संकल्प अनिवार्य रूप से स्वीकार करें। इससे आपका जीवन तो अच्छा बनेगा ही, आपके नीचे काम करनेवाले पुलिसकर्मियों को भी सक्रिय प्रशिक्षण मिलेगा। मैं आशा करता हूँ, अधिकारी और सामान्य पुलिसकर्मी सभी मेरे आह्वान पर गंभीरता से चिंतन कर सकारात्मक उत्तर देंगे।

न्यू पुलिस लाइन्स, पटना

८ जनवरी १९५९

८ : आत्म-चिकित्सक बनें

मैं एक जैन-मुनि हूँ, पदयात्री हूँ। पदयात्रा मेरा जीवन-व्रत है। राजस्थान से पदयात्रा करता हुआ आज इस मेडिकल कॉलेज में छात्रों एवं प्राध्यापकों के बीच पहुंचा हूँ। क्यों आया हूँ? क्या कुछ देने के लिए? क्या कुछ लेने के लिए? न मैं केवल देने के लिए आया हूँ और न केवल लेने के लिए ही, बल्कि देने एवं लेने दोनों के लिए आया हूँ; और यह केवल यहां की बात नहीं है, अपितु जहां भी जाता हूँ, वहां यही क्रम रहता है। मैं क्या देता हूँ? देने के लिए मुझ अकिंचन के पास मात्र एक चीज है—जीवन-शुद्धि और आत्म-जागरण का संदेश। यह तत्त्व मैं सर्वत्र उन्मुक्त भाव से बांटता हूँ। मेरी भावना और प्रयास है कि यह संदेश अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुंचे। अब रही लेने की बात। जैसा कि मैंने अभी कहा, मैं अकिंचन हूँ, गृहत्यागी हूँ। मुझे सोना-चांदी नहीं चाहिए, रुपयों की भेंट भी मुझे नहीं चाहिए। फिर मुझे क्या चाहिए? मुझे चाहिए आपकी बुराइयों की भेंट। प्यारी-प्यारी बुराइयों की भेंट। आप यह भेंट मुझे दें। इसमें मजे की बात यह है कि मेरे पास वे बुराइयां किंचित भी प्रश्रय नहीं पाएंगी, बल्कि भस्मसात हो जाएंगी और आपको उनसे मुक्ति मिल जाएगी। मैं देख रहा हूँ कि आज असत्य, हिंसा, प्रतिहिंसा, अनुशासनहीनता, विश्वासघात-जैसी अनेक बुराइयां मानव-समाज में व्याप्त हैं। इस कारण समाज का ढांचा जर्जरित हो रहा है। समाज का एक भी वर्ग इनसे अछूता नहीं है। यहां तक कि विद्यार्थी एवं अध्यापक भी इनकी गिरफ्त से बचे हुए नहीं हैं। मेरी वृद्ध मान्यता है कि जब तक इन बुराइयों से छुटकारा नहीं होगा, तब तक जीवन-विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा।

अनुपेक्षणीय है आंतरिक स्वस्थता

यह बहुत स्पष्ट है कि यहां शारीरिक बीमारियों की चिकित्सा का शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इस शिक्षण-प्रशिक्षण का अपना उपयोग

है। इसे मैं निरर्थक नहीं मानता, पर विद्यार्थियों एवं अध्यापकों से मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या इस शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ-साथ आपका आंतरिक बीमारियों की चिकित्सा पर भी कुछ ध्यान है। मेरी दृष्टि में आंतरिक स्वस्थता भी शारीरिक स्वस्थता की तरह ही आवश्यक है, बल्कि कहना चाहिए कि अपेक्षाकृत ज्यादा आवश्यक है, सर्वथा अनुपेक्षणीय है। यह कैसी स्थिति है कि चंद्रलोक में आबाद होने का ख्वाब भरनेवाला मानव अपने मूल आधार से बेखबर है! वह इस बिंदु पर चिंतन ही नहीं करता कि गुणात्मक दृष्टि से वह मानव है या नहीं। आज मानव की जो स्थिति है, वह आप सबसे अज्ञात नहीं है। मानव की मानवता का बड़ी तीव्र गति से लोप होता जा रहा है। इसी का यह दुष्परिणाम है कि सर्वत्र अशांति और संघर्ष का वातावरण बना हुआ है। मेरी दृष्टि में यह सबसे भयंकर आंतरिक बीमारी है। काय-चिकित्सा के प्रशिक्षकों एवं विद्याध्येताओं को इस बारे में सोचना है, बल्कि गहराई से सोचना है। सोचने से मेरा तात्पर्य है कि उन्हें काय-चिकित्सक के साथ-साथ आत्म-चिकित्सक भी बनना है। इसके लिए सबसे पहले उन्हें स्वयं आत्मव्याधियों से छुटकारा पाना होगा। अणुव्रत-आंदोलन की चर्चा अभी आपके समक्ष की गई। यह आंदोलन और कुछ नहीं, बस मानव की आंतरिक बीमारियों की चिकित्सा कर उसे स्वस्थता प्रदान करने का उपक्रम है। वे आंतरिक बीमारियाँ अनाचार, भ्रष्टाचार, झूठ, फरैब, वैमनस्य आदि विविध रूपों में प्रकट हो रही हैं। अध्यापकों और विद्यार्थियों से अपेक्षा है कि वे इस आंदोलन की आत्मा से परिचित होकर इसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करें। इससे उनका स्वयं का जीवन तो स्वस्थ बनेगा ही, समाज और राष्ट्र की स्वस्थता में भी वे हेतुभूत बन सकेंगे।

जीवन का स्वर्णिम काल

कॉलेज के विद्यार्थियों से एक-दो बातें विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। वे सामंजस्य की चेतना जाग्रत करने का प्रयत्न करें। छोटे-मोटे विवाद आपसी समझ, पारस्परिक नैकट्य, आत्मीयता और लचीले दृष्टिकोण के द्वारा सुलझाने का प्रयास करें। यह संभव है कि कॉलेज-प्रशासन के कुछ निर्णयों से वे संतुष्ट न हों। उनकी अपनी कुछ मांगें भी हो सकती हैं। मैं यह नहीं कहता कि वे अपना विरोध न जताएं, अपनी उचित मांगें न रखें। इसके लिए वे सावकाश हैं, पर इस हेतु अनशन-जैसा आत्म-शुद्धि का पवित्र साधन हथियार के रूप में काम लिया

जाए, इसे मैं उचित नहीं मानता। उसका उपयोग तो आत्म-शोधन के लिए ही होना चाहिए।

दूसरी बात—यह उनके जीवन का निर्माण-काल है। इस अपेक्षा से इसे स्वर्णिमकाल भी कहा जा सकता है। विद्यार्थी इसका अच्छा-से-अच्छा उपयोग करें। अच्छा-से-अच्छा उपयोग करने से मेरा आशय है कि वे अपना यह काल सद्गुण बटोरने में लगाएं। इसे विनय, अनुशासन, सत्यनिष्ठा, अहिंसा, समत्व, सहिष्णुता आदि शाश्वत मूल्यों से जीवन को सुसंस्कारित करने में लगाएं। यदि वे ऐसा करेंगे तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह विद्यार्थी-जीवन उनके लिए वरदान सिद्ध होगा। आशा करता हूँ, विद्यार्थी मेरी बातों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन कर अपना जीवन सही दिशा में मोड़ेंगे।

पटना मेडिकल कॉलेज, पटना

९ जनवरी १९५९

९ : जीवन की सार्थकता

चार दुर्लभताएं

भगवान महावीर ने कहा—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमंमि य वीरियं॥

— चार बातें प्राणी के लिए परम दुर्लभ हैं। वे हैं—मनुष्यत्व की प्राप्ति, सही तत्त्व का श्रवण, सुनकर उस पर श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

इनमें पहली बात मनुष्यत्व की दुर्लभता की है। सड़क से गुजरते हुए हमने पूरे आकारवाला एक मनुष्य देखा। उसकी आंत-आंत दिखाई पड़ रही थी। कहने को वह भी मनुष्य था, पर जीवन न होने के कारण वस्तुतः वह अस्थि-पंजर मात्र था। इसी प्रकार आज ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं, जिनमें जीवन का सही सत्त्व हो। वे कहने भर के मनुष्य हैं।

मनुष्य जीवन प्राप्त करके भी सबको सही तत्त्व सुनने का अवसर उपलब्ध नहीं होता। कुछ-एक व्यक्ति ही यह अवसर प्राप्त कर पाते हैं, फिर आज तो लोगों की जीवन-चर्या ही इतनी व्यस्त हो गई है कि उन्हें जीवन-निर्माण की बातें सुनने का समय ही नहीं मिलता। एक कारण यह भी है कि सही तत्त्व की बात सुनानेवाले लोग भी बहुत कम मिलते हैं। फिर बौद्धिक लोगों में तो सदुपदेश सुनने की प्रवृत्ति ही कम है।

श्रद्धाहीनता बड़ी बुराई है

सुनने का अवसर भी मिल जाता है तो उस पर श्रद्धा होना दुर्लभ है। मैं देख रहा हूँ, आज सम्यक श्रद्धा का तो मानो अकाल-सा पड़ गया है। सत्य, ईमानदारी, प्रामाणिकता, नैतिकता आदि तत्त्वों के प्रति आदमी अनास्थाशील बन रहा है। वह यह मानने को तैयार नहीं है कि इन तत्त्वों से जीवन-व्यवहार चल सकता है। मेरी दृष्टि में यह मानव का बहुत

गहरा पतन है। असत्य, अप्रामाणिकता, चोरी, अनैतिकता आदि बातें निश्चय ही बुरी हैं, पर सत्य, प्रामाणिकता नैतिकता के प्रति अनास्थाशील होना उनसे भी अधिक बुरी बात है, भयंकर बुरी बात है। एक व्यक्ति भले आज असत्य, बेईमानी, अप्रामाणिकता, चोरी-जैसी बुराइयों से आक्रांत है, पर वह यदि सत्य, प्रामाणिकता, ईमानदारी, सदाचार आदि के प्रति आस्थाशील है तो देर-सवेर उसके इन बुराइयों से छूटने की प्रबल संभावना है। इसके विपरीत जो व्यक्ति सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, सदाचार आदि के प्रति अनास्थाशील है, वह असत्य, अनैतिकता, अप्रामाणिकता, चोरी-जैसी बुराइयों कैसे छोड़ेगा? मजबूरी न होने के बावजूद वह उनसे उपरत होने की चेष्टा नहीं करेगा। इसी लिए मैंने कहा कि सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता आदि के प्रति अनास्थाशील होना असत्य, अप्रामाणिकता, चोरी आदि से भी अधिक बुरी बात है।

दुर्लभता के क्रम में अंतिम बात संयम में पराक्रम करने की है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। व्यक्ति सम्यक तत्त्व के बारे में सुनता है, पर मैं नहीं समझता कि उस श्रवण की उसके लिए क्या कीमत है, जब वह उस पर आस्था करता हुआ भी उसका आचरण नहीं करता। व्यक्ति सम्यक देखता है, पर मैं नहीं समझता कि उस देखने का क्या मूल्य है, जब वह उसके अनुरूप अपना जीवन नहीं ढालता। कहने का तात्पर्य यह कि सम्यक तत्त्व की प्राप्ति तभी पूरी सार्थक होती है, जब व्यक्ति उस पर घनीभूत आस्था करता हुआ उसके अनुसार जीवन जिए।

सुधार की प्रक्रिया

आज आचरण के क्षेत्र में एक बड़ा-सा शून्य नजर आ रहा है। बुराइयों का इतना व्यापक फैलाव हुआ है कि समाज का कोई भी वर्ग इनसे सर्वथा अस्पृष्ट नहीं है। यहां तक कि शासकीय वर्ग भी इनसे बचा हुआ नहीं है। पक्षपात, अधिकार का दुरुपयोग-जैसी अनेक अनाचरणीय प्रवृत्तियों का वह अड्डा-सा बना हुआ है। रिश्वत की दुष्प्रवृत्ति तो इतनी अधिक है कि इसके बिना सरकारी महकमों में कोई काम हो सकता है, इस बात से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। जब सरकारी अफसरों और कर्मचारियों से इस संदर्भ में कुछ कहा जाता है तो उनका प्रायः इस आशय का उत्तर मिलता है कि रिश्वत न लें तो हमारा काम कैसे

चले। हम भी बाल-बच्चेदार हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि क्या व्यापारी आदि दूसरे-दूसरे वर्गों के लोग बाल-बच्चेदार नहीं हैं; उनके घर-परिवार नहीं है; फिर वे उन्हें दोष क्यों देते हैं; बाजार से मिलावटी समान मिलने पर व्यापारियों को क्यों कोसते हैं; उनमें व्याप्त बुराइयों की चर्चा क्यों करते हैं। सुधार की प्रक्रिया यह है कि हर व्यक्ति, हर वर्ग स्वयं को टटोले, स्वयं के दोष देखे, दूसरों के नहीं। जब तक यह दृष्टि नहीं बनती है, तब तक समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।

वास्तविक जीवन

मैं मानता हूं, अनाचरणीय प्रवृत्तियों के मूल में व्यक्ति की निरंकुश भोगवृत्ति है। इसलिए अपेक्षित है कि व्यक्ति संयम और सादगी अपनाए, अपनी आवश्यकताएं कम करना सीखे। इससे उसका जीवन सहज रूप से सदाचारमय बना रहेगा। ध्यान रहे, सदाचारमय जीवन ही वास्तविक जीवन है। सच्चा सुख इसी जीवन में प्राप्त होता है।

कलेक्टरी, पटना

९ जनवरी १९५९

१० : स्वतंत्र भारत और वर्तमान शिक्षा-प्रणाली

अंक बिना शून्य की कीमत नहीं

आज की इस सभा में विश्वविद्यालय एवं विभिन्न महाविद्यालयों के विभागाध्यक्ष, प्राचार्य तथा प्राध्यापक उपस्थित हैं। उच्च शिक्षा-क्षेत्र के दायित्वशील लोगों के बीच अपने विचार रखते हुए अत्यंत प्रसन्नता है। आज की शिक्षा-प्रणाली में विद्यार्थियों के बाह्य जीवन-विकास की दृष्टि से काफी ध्यान दिया गया है, पर आंतरिक विकास की बात उपेक्षित-सी है, बल्कि कहना चाहिए कि उस दृष्टि से ध्यान ही नहीं दिया गया है। यह एक भयंकर भूल हुई है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आंतरिक विकास के बिना बाह्य या भौतिक विकास अधूरा है। जिस प्रकार अंक के बिना शून्य की कोई कीमत नहीं होती, उसी प्रकार आंतरिक विकास के अभाव में भौतिक विकास की कोई सार्थकता प्रकट नहीं होती। इस आंतरिक विकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है, जो कि आध्यात्मिक शिक्षा से ही संभव है।

शिक्षा के दो रूप

शिक्षा के दो पक्ष हैं—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। दोनों ही पक्ष अपने-आपमें आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं, पर वर्तमान शिक्षा तो मात्र ग्रहण शिक्षा है। आसेवन शिक्षा तो उपेक्षित-सी कर दी गई है। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है। विद्यार्थियों का जीवन कोरा-का-कोरा रह जाता है। सीखा हुआ ज्ञान उनके आचरण में नहीं आता। जब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा, विद्यार्थियों का आचरण उन्नत नहीं बन सकता। इसके लिए संयम का अभ्यास अपेक्षित है; और संयम के अभ्यास के लिए अध्यापकों को अपने जीवन और जीवन-व्यवहार से पढ़ाना होगा। पुस्तकीय पढ़ाई वहां काम नहीं देगी।

शिक्षा का उद्देश्य

गहराई से देखा जाए तो शिक्षा का उद्देश्य जीवन का सर्वांगीण विकास करना है। इस दृष्टि से सही शिक्षा वही है—जो इस कसौटी पर खरी उतरे। सर्वांगीण विकास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. भौतिक ज्ञान २. बौद्धिक ज्ञान ३. आत्मिक ज्ञान।

भौतिक ज्ञान भौतिक या बाह्य पदार्थों की सम्यक जानकारी के लिए आवश्यक है। जीवन का यह एक पक्ष है। मानसिक विकास जीवन का दूसरा पक्ष है। इसके लिए बौद्धिक ज्ञान अपेक्षित है। जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है—आध्यात्मिक विकास। यह आत्मिक ज्ञानसापेक्ष है। आज की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष गौण और उपेक्षित हो गया है। इसकी दुष्परिणति हमारे सामने हैं। संसार में चारों ओर हाहाकार मचा है, सृजन के नाम पर संहार हो रहा है। अनाचार तेजी से बढ़ रहा है। हम यह बात समझें कि भौतिक और बौद्धिक ज्ञान पर आत्मिक ज्ञान का नियंत्रण न होना एक खतरनाक स्थिति है। इससे अनाचार को फैलने का खुला मौका मिल जाता है। चूंकि आज की शिक्षा-प्रणाली भौतिक एवं बौद्धिक ज्ञान तक अपना ध्यान केंद्रित किए हुए है, इसलिए इस स्थिति के निर्माण की बहुत बड़ी जिम्मेदारी भी उसी की है। वह अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकती। अपेक्षा है, इस बिंदु पर गंभीरता से चिंतन हो और आत्मिक ज्ञान विकसित करने के लिए सुनियोजित प्रयत्न किया जाए।

जरूरी है धार्मिक शिक्षा

इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि धार्मिक शिक्षा अनिवार्य पाठ्यक्रम में जोड़ी जाए। यद्यपि इस कार्य में एक कठिनाई अवश्य है कि कौन-से धर्म की शिक्षा दी जाए। इस संदर्भ में मैं शिक्षाधिकारियों को समाधान और सुझाव की भाषा में कहना चाहता हूं कि वे सभी धर्मग्रंथों का निचोड़ निकालें और उसे व्यवस्थित रूप देकर चालू पाठ्यक्रम में जोड़ दें। मैं मानता हूं कि भेद विभिन्न धर्म-संप्रदायों की उपासना-पद्धतियों में है, धर्म के मौलिक सिद्धांत तो सबके एक ही हैं। उनमें भेद-जैसी कोई बात नहीं है। मैं पूछना चाहता हूं कि सत्य को कौन-सा धर्म-संप्रदाय नहीं मानता; अहिंसा में किस धर्म-संप्रदाय की आस्था नहीं है। सत्य और अहिंसा की तरह ही और भी अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें सभी

धर्मग्रंथों में समान मूल्य दिया गया है। इन तत्त्वों की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाएगी, तभी उनमें मानवीय गुणों का सम्यक विकास हो सकेगा। यह विकास ही उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता-जैसी अनेक समस्याओं का समाधान है। कहना नहीं होगा कि इन समस्याओं के कारण आज का विद्यार्थी-वर्ग स्वयं समस्या बन रहा है। मैं आशा करता हूँ, शिक्षाधिकारी मेरी भावना समझेंगे और शिक्षा-प्रणाली को सही स्वरूप प्रदान करने की दिशा में कोई सार्थक प्रयत्न प्रारंभ करेंगे। राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से यह उनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान होगा।

ह्वीलर सीनलेट हॉल, पटना

१० जनवरी १९५९

११ : व्यापारी आंतरिक दरिद्रता मिटाएं

आज मुझे व्यापारियों से कुछ कहना है। व्यापारी लोगों का अपना व्यक्तिगत जीवन तो होता ही है, उन्हें समाज व राष्ट्र की भी एक महत्वपूर्ण संपत्ति माना जाता है, आदान-प्रदान के प्रमुख स्रोत होने कारण वे जन-संपर्क के प्रमुख केंद्र भी हैं। अतः समाज और राष्ट्र पर उनकी प्रतिच्छाया पड़ना स्वाभाविक है। उनके सद्गुणों की प्रतिच्छाया पड़ती है तो दुर्गुणों की भी पड़ती है। मैं व्यापारियों से कहना चाहता हूँ कि वे यह बात ध्यान में रखते हुए अपने जीवन में एक नया मोड़ लें, पर मेरे इस कथन का कोई व्यापारी यह अर्थ न निकाले कि मैं व्यापार-व्यवसाय छोड़ने के लिए कह रहा हूँ। यह व्यावहारिक बात नहीं है। मैं अव्यावहारिक बात नहीं कहना चाहता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपना व्यावसायिक व्यवहार शुद्ध बनाएं। चोरबाजारी करना, बेमेल मिलावट करना, नकली को असली बताकर बेचना, तौल-माप में कमी-बेशी करना, विश्वासघात करना-जैसी दुष्प्रवृत्तियों से बचें। वे यह बात समझें कि ऐसी प्रवृत्तियां मानवता पर कलंक हैं। वे यह कभी न भूलें कि वे पहले मानव हैं, फिर व्यापारी। इसलिए ऐसी दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा वे मानवता की होली न खेलें।

कुछ लोग युगीन परिस्थितियों का तर्क देते हैं। वे कहते हैं कि आज परिस्थितियां ही कुछ ऐसी हैं कि व्यापारियों को गलत काम करने पड़ते हैं। यदि न करें तो उनका काम नहीं चलता। वे एकदम गरीब रह जाते हैं। इस प्रकार के तर्क देनेवाले लोगों से मैं कहना चाहूंगा कि वे निर्धन, जो सदाचार को जीते हैं, अप्रामाणिक और अनैतिक काम नहीं करते, उन लखपतियों एवं करोड़पतियों के बनिस्बत कहीं अच्छे हैं, जो शोषण, धोखा, अनाचार और बेईमानी से अर्थोपार्जन करते हैं। वह गरीबी भी उनके लिए शृंगार है, जबकि उन लखपतियों, करोड़पतियों के लिए वह अमीरी अभिशाप है। मुझे ऐसा लगता है कि आज अर्थ लोगों

के जीवन का साध्य बन गया है, जबकि वह जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का मात्र साधन है। अर्थ की इस अस्थानीय प्रतिष्ठा ने वैचारिक एवं आचरणात्मक अनेक विकृतियां पैदा की हैं। व्यक्ति पैसे की प्राप्ति के लिए नीचे-से-नीचे स्तर तक उतर आता है। आश्चर्य है, उसे ऐसा करते कोई संकोच और शर्म महसूस नहीं होती! मेरी दृष्टि में अनुचित साधनों से उपार्जित धन के आधार पर बना धनी आंतरिक दृष्टि से दरिद्र है, महादरिद्र है। व्यापारी लोग इस बिंदु पर गंभीरता से चिंतन करें। चिंतन का तात्पर्य है, वे सलक्ष्य इस दारिद्र्य से बचें। यदि दुर्भाग्य से कहीं यह आ गया है तो इसे प्रयत्नपूर्वक दूर करें, संकल्पपूर्वक दूर करें। संकल्प में अचिंत्य शक्ति होती है। वह कठिन को भी सरल बना देता है। अणुव्रत-आंदोलन आपके लिए पथ का आलोक है। उसके अंतर्गत व्यापारियों के लिए निर्धारित छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार कर आप अपने जीवन को सही दिशा दे सकते हैं। आशा करता हूं, आप सही दिशा में प्रयाण करेंगे।

वाणिज्य मंडल, पटना

१० जनवरी १९५९

१२ : संयम ही जीवन है

संयम जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सारभूत तत्त्व है, बल्कि कहना चाहिए कि संयम ही जीवन है। मैं त्याग और संयम को जीवंतता का आधार मानता हूँ, जीवन की पहचान मानता हूँ। मूलभूत बात है जीवन का विकास। संयम जीवन-विकास का मौलिक आधार है। जो व्यक्ति जितना अधिक संयममय जीवन जीता है, उसके विकास और उत्थान का मार्ग उतना ही अधिक प्रशस्त हो जाता है। मैं देख रहा हूँ, आज सर्वत्र भौतिकता प्रभावी हो रही है। मानव भौतिक ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति के लिए बेतहाशा दौड़ रहा है। वह इस शाश्वत सचाई को क्यों नहीं समझ रहा है कि संयम के अभाव में सभी प्रकार की भौतिक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ निरर्थक प्रमाणित होती हैं, बल्कि व्यक्ति के अहित और अनिष्ट का कारण भी बनती हैं? हमने अणुव्रत-आंदोलन के नाम से एक संयममूलक कार्यक्रम चला रखा है। इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि जन-जीवन में संयम का उच्च मूल्य प्रतिष्ठित हो। व्यक्ति-व्यक्ति स्वयं से संयम-साधना की शुभ शुरुआत करे। इससे उसका स्वयं का जीवन तो ऊंचा उठेगा ही, दूसरों के लिए भी वह सहज प्रेरणा-स्रोत बन सकेगा, भौतिकता एवं असंयम के अरण्य में भटकते लोगों को भी इस राजपथ पर ला सकेगा। इस प्रकार जीवन-सुधार का यह अभियान व्यक्ति से आगे बढ़ता हुआ समाज और राष्ट्र को स्वस्थ एवं उन्नत बनाना चाहता है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग संयम का सही-सही मूल्यांकन करते हुए इस कार्यक्रम के साथ जुड़ेंगे—न केवल वैचारिक समर्थन के स्तर पर, अपितु इसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करके क्रियात्मक स्तर पर भी। इससे आपके जीवन के अभ्युदय की दिशा उद्घाटित हो जाएगी।

राजभवन, पटना

१० जनवरी १९५९

संयम ही जीवन है

● ३१ ●

१३ : अपना वर्तमान संवारे

धर्म की कसौटी

धर्म जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है। लोग कहते हैं कि धर्म से परलोक सुधरता है। मैं भी मानता हूँ कि धर्म से परलोक सुधरता है, पर उसका सीधा संबंध वर्तमान से है। जिस क्षण व्यक्ति उसकी आराधना करता है, उस क्षण में ही वह उसकी आत्म-शुद्धि करता है, उसे शांति प्रदान करता है, उसे आनंद की अनुभूति से आप्लावित करता है। यह धर्म की वास्तविक कसौटी है। जो धर्म इस कसौटी पर खरा उतरता है, वही वास्तव में धर्म है। ऐसे धर्म से परलोक तो सुधरता-ही-सुधरता है। वस्तुतः परलोक/भविष्य तो वर्तमान जीवन पर आधारित होता है। यदि वर्तमान शुद्ध है, स्वस्थ है तो भविष्य/परलोक के बिगाड़ने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता, परंतु जो धर्म वर्तमान जीवन बिगाड़कर अथवा उसके परिष्कार की बात किए बिना परलोक और भविष्य के सुधार की बात करता है, उसे मेरी आत्मा धर्म के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। जो लोग अपने वर्तमान जीवन की स्वस्थता पर ध्यान दिए बिना ही परलोक सुधरने के प्रति आशान्वित और आश्वस्त बने बैठे हैं, उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि वे भ्रान्ति में हैं। उन्हें यह भ्रान्ति दूर कर यथार्थ का साक्षात्कार करना चाहिए। यदि वस्तुतः ही वे अपने भविष्य और परलोक-सुधार के प्रति गंभीर हैं तो उन्हें अपना ध्यान अपने वर्तमान जीवन पर केंद्रित करना चाहिए। उसे स्वस्थ और अच्छा बनाना चाहिए। अपने विचार सात्त्विक और आचार उन्नत बनाना चाहिए।

कुछ लोग भविष्य और परलोक की चिंता तो नहीं करते, पर अतीत के गौरव-गीत बहुत गाते हैं। मैं उनसे भी कहना चाहता हूँ कि वे केवल अतीत की गौरव-गाथाओं में भूले न रहें। यदि उनका वर्तमान उज्ज्वल और स्वस्थ नहीं है तो अतीत का स्वर्णिम इतिहास काम नहीं

आएगा। अतीत तो प्रेरणा लेने के लिए होता है। उससे प्रेरणा लेकर अपने वर्तमान का निर्माण और विकास करना ही व्यक्ति के कर्तृत्व एवं विवेक की कसौटी है।

संयम का मूल्य

अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति का वर्तमान जीवन स्वस्थ और शुद्ध देखना चाहता है। उसकी प्रक्रिया के रूप में वह संयम की बात बताता है, आत्मानुशासन का पाठ पढ़ाता है। संयम वह तत्त्व है, जो व्यक्ति का आचरण उन्नत बनाता है, उसके विचारों को सात्विकता प्रदान करता है। पर कैसी बात है कि प्रकृति-विजय का दम भरनेवाले आज के आदमी के समक्ष जब संयम की बात आती है, आत्मानुशासन का स्वर पहुंचता है तो वह अपने-आपको पीछे हटा लेता है, उसे स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता! उसे समझना चाहिए कि संयम के द्वारा अपनी उच्छृंखल वृत्तियों पर नियंत्रण करनेवाला ही सच्चा विजेता है। स्वयं पर अनुशासन ही सबसे बड़ी विजय है। अणुव्रत के छोटे-छोटे नियम ग्रहण करके आदमी संयममय जीवन जी सकता है, आत्मानुशासन का अभ्यास कर सकता है, सच्चा धार्मिक बन सकता है।

सर्वधर्म-समन्वय की दिशा

आज के धार्मिक लोगों की स्थिति बड़ी चिंतनीय है। वे लोग धर्म के नाम पर परस्पर संघर्ष करते हैं, कदाग्रह और वैमनस्य पैदा करते हैं। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि धर्म के नाम पर कैसा संघर्ष ! कैसा कदाग्रह ! कैसा वैमनस्य ! धर्म तो संघर्ष और क्लेश मिटानेवाला तत्त्व है, कदाग्रह और वैमनस्य का शमन करनेवाला तत्त्व है। वह तो आग पर पानी डालने का काम करता है, आग लगाना उसका काम नहीं। मैं धार्मिक लोगों से कहना चाहता हूँ कि वे धर्म का सही मर्म समझें और उसके अनुरूप अपना चिंतन और व्यवहार ढालें। वे एक-दूसरे को काटने नहीं, जोड़ने का काम करें; कैंची का नहीं, सूई का काम करें; वैचारिक मतभेदों के बावजूद परस्पर प्रेम से रहना सीखें; विरोधी विचारों में भी तटस्थभाव और सापेक्ष दृष्टि से सत्य खोजने का प्रयत्न करें। इससे सर्वधर्म-समन्वय की दिशा स्पष्ट होगी। उनकी धार्मिकता को सार्थकता मिलेगी। अणुव्रत-आंदोलन सर्वधर्म-सद्भाव की बात कहता है। इसलिए

एक अणुव्रती किसी धर्म-संप्रदाय का अनुयायी होता हुआ भी सभी धर्मसंप्रदायों के प्रति सद्भाव रखेगा, किसी के प्रति घृणा या तिरस्कार की भावना नहीं रखेगा। अपेक्षा है, धार्मिक कहलानेवाले सभी लोगों की सोच और व्यवहार इस सांचे में ढले।

आर्य समाज मंदिर, पटना

११ जनवरी १९५९

१४ : धर्म का स्वरूप

धर्म क्यों

भगवान महावीर धर्म के एक महान प्रवक्ता थे। धर्म को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि मानव-जीवन का परम लक्ष्य आत्म-परिमार्जन है; और आत्म-परिमार्जन का जो साधन है, वह धर्म है। इसलिए धर्म का आचरण आत्म-शुद्धि के लिए ही करना चाहिए। ऐहिक सुख और स्वर्गीय भोगों की प्राप्ति उसका उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

धर्म का स्वरूप बताते हुए उन्होंने कहा कि धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। वह किसी वर्ग, वर्ण और जातिविशेष के लिए नहीं, अपितु मानवमात्र के लिए है, प्राणिमात्र के लिए है। जो भी प्राणी उसकी आराधना करता है, उसके लिए वह पवित्रता और सुख-शांति का आधार बनता है।

उनके द्वारा प्ररूपित इस धर्म के साथ कोई भी संकीर्ण विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता। विशेषण जोड़ना ही चाहें तो अध्यात्म, अहिंसा-जैसे व्यापक विशेषण ही जोड़े जा सकते हैं। ऐसे व्यापक धर्म के प्रचार-प्रसार के माध्यम से उन्होंने जन-जन के अभ्युदय का प्रयत्न किया।

धर्म के दो रूप

भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म के संदर्भ में लोगों के मन में एक आम अवधारणा है कि वह अत्यंत कठिन है, उत्कृष्ट तपस्या का पथ है। इस संदर्भ में समझने की बात यह है कि महावीर ने दो तरह के धर्म का प्रतिपादन किया है—अणगार धर्म और अगार धर्म। अणगार धर्म उत्कृष्ट तपस्या का रूप है, पर उसका विधान मात्र गृहत्यागी साधु-साध्वियों के लिए है। गृहस्थों के लिए उसका विधान नहीं है। उनके लिए अगार धर्म है। यह एक प्रकार से मध्यम-मार्ग का संदेश है। अपने गृहस्थ जीवन की विभिन्न जिम्मेदारियां और कर्तव्य अच्छी तरह से

निभाता हुआ व्यक्ति इस धर्म की आराधना कर सकता है। इसे निभाने में उसके समक्ष कोई अड़चन नहीं आती। आप देखें, भगवान महावीर के अनुयायी श्रावकों में राजा, मंत्री, सेनापति, कोट्याधीश श्रेष्ठि आदि सभी प्रकार के लोग थे। भगवान का प्रमुख श्रावक आनंद बहुत संपन्न व्यक्ति था। दूसरी-दूसरी संपन्नताओं की बात तो अलग है, उसके दस तो गोकुल थे; और प्रत्येक गोकुल में चालीस हजार गाएं थीं। इससे स्पष्ट है कि महावीर का धर्म उत्कृष्ट तपस्वियों का ही नहीं अपितु जन-साधारण का भी था, पर यह हम लोगों की भूल रही कि हम इस धर्म का संदेश जन-जन तक नहीं पहुंचा सके। इस भूल का ही परिणाम है कि जन-साधारण इससे अपरिचित-सा रहा। यह अपरिचय 'महावीर का धर्म अत्यंत कठिन है, उत्कृष्ट तपस्या है' जैसी अवधारणा के बनने का कारण बना। उसके फलस्वरूप जन-साधारण इससे विरत-सा रहा। हमें अपनी इस भूल का तीव्रता से अनुभव हुआ है, इसलिए इसका परिमार्जन कर जन-जन तक महावीर का अगार धर्म पहुंचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। युगीन संदर्भों में हमने इसे अणुव्रत-आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया है। मैं मानता हूं, महावीर के इस धर्म का, धर्म-संदेश का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ तो लोगों की गलत अवधारणा टूटेगी और उसके प्रति एक आकर्षण का भाव पैदा होगा।

जरूरी है सर्वधर्म-सद्भाव

धार्मिक लोगों को एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। धर्म के प्रवर्तकों/प्रवक्ताओं की विभिन्नता के कारण अनेक धर्मपंथ और संप्रदाय हमारे सामने हैं। उनमें अनेक बातों में मतैक्य है तो कुछ बातों में विभेद भी है, पर यह विभेद पारस्परिक संघर्ष का कारण नहीं बनना चाहिए। मतभेद कब नहीं था? अतीत में सदा मतभेद रहा है। भविष्य में भी यह सर्वथा समाप्त हो जाएगा, यह संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में समाधायक बिंदु यही है कि हम सौहार्द के साथ अनाग्रही दृष्टिकोण से एक-दूसरे के विचार समझने-समझाने का प्रयत्न करें। इसके उपरांत भी जो विचार-भेद शेष रह जाए, उसे विचार-भेद तक ही सीमित रहने दें, मन-भेद न बनाएं। उसके प्रति सहिष्णु रहें। उसके कारण परस्पर कोई विवाद या संघर्ष न करें, एक-दूसरे को काटने का प्रयत्न न करें। विभिन्न जैन-संप्रदायों के पारस्परिक सौहार्द की दृष्टि से मैंने पांच सूत्र सुझाए थे। मैं समझता हूं, वे पांचों सूत्र सभी धर्म-संप्रदायों को अपनाने

चाहिए, ताकि धार्मिक सद्भाव और एकता का वातावरण निर्मित हो। वे पांच सूत्र हैं—

१. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।
२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
३. दूसरे संप्रदाय के साधु-साध्वियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
४. संप्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाए। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
५. धर्म के सर्वसंप्रदायमान्य सिद्धांतों का संगठित रूप में प्रचार किया जाए।

अपेक्षा है, सभी धर्मावलंबी इन पांचों सूत्रों को अपने पारस्परिक व्यवहार की मर्यादाएं बनाएं। इससे धार्मिक जगत में एक स्वस्थ वातावरण निर्मित होगा।

१५ : जैनों का संयुक्त उत्तरदायित्व*

अपने घर में

जब से मैंने बिहार प्रांत में प्रवेश किया है, मेरा आनंद द्विगुणित ही नहीं, पंचगुणित हो गया है, फिर आज राजगृह पहुंचकर तो कहना ही क्या ! मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूं कि मानो अपने घर में ही आ गया हूं। राजगृह वह क्षेत्र है, जिसकी झांकी यहां की पर्वतमाला और भूमि ही नहीं, अपितु जैनों के *आगम* एवं बौद्धों के *पिटक* भी दिखा रहे हैं। इतिहास बताता है कि भगवान महावीर ने अपने चौदह चातुर्मास इसी राजगृह में व्यतीत किए थे। निःसंदेह, यह इस क्षेत्र तथा इस क्षेत्र की जनता के असाधारण सौभाग्य का सूचक है। यहां की जनता के मन में भगवान महावीर के प्रति जो असामान्य आदर की भावना है, उसे देख मैं गद्गद हूं।

महापुरुष सार्वजनीन होते हैं

भगवान महावीर एक दिव्य महापुरुष थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने धर्म का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत किया। उनकी वाणी सर्वप्राणिहिताय, सर्वप्राणिसुखाय है। उसमें संकीर्णता को किंचित भी कोई स्थान नहीं है। महावीर की इस व्यापकता के समक्ष दूसरे-दूसरे लोगों की व्यापकता बहुत बौनी रह जाती है। उनकी व्यापकता मानव-जाति तक सीमित है। कहां तो मानव-जाति के हित की बात और कहां महावीर की प्राणिमात्र के हित और कल्याण की बात! महावीर का संपूर्ण बल इस बात पर है कि व्यक्ति अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक किसी प्रवृत्ति से संसार के किसी छोटे-से-छोटे प्राणी का भी अहित न करे, उसे कष्ट व दुःख न पहुंचाए। किसी को सुखी बना सके, यह उनके वश की बात नहीं, पर किसी के सुख में

*जैन-संस्कृति समारोह में प्रदत्त वक्तव्य।

बाधक न बने, उसे न छीने, यह उसके हाथ की बात है; और यह उसका सबसे बड़ा धर्म है, बल्कि प्राणिमात्र का धर्म है। महावीर की इस वाणी के व्यापक प्रचार-प्रसार के गर्भ में मैं संसार का बहुत बड़ा हित देख रहा हूँ, पर मुझे सखेद कहना पड़ता है कि महावीर की इस वाणी के समुचित प्रचार का स्वरूप देखने में नहीं आ रहा है। लोग समझते हैं कि जैन-धर्म वैश्यों का धर्म है। मुझे यह देख-सुनकर आंतरिक पीड़ा होती है। मेरे मन में विचार आता है कि लोग यह तथ्य क्यों भूल रहे हैं कि महापुरुष सार्वजनीन होते हैं। वे तथा उनके आदर्श व विचार किसी कठघरे में नहीं बंधते, किसी बड़ी-से-बड़ी सीमा में नहीं समाते। पर दोष किसे दिया जाए? जैनों ने स्वयं भी तो महावीर-वाणी की गहराई और व्यापकता नहीं समझी है। ऐसी स्थिति में दूसरों को उसके रूप का दर्शन करा भी तो कैसे सकते हैं? अपेक्षा है, जैन लोग स्वयं संकीर्णता से मुक्त बनें और महावीर-वाणी को संकीर्णता के घेरे से बाहर निकालकर सही रूप में विश्व के समक्ष रखें, उसके व्यापक स्वरूप से जन-जन को परिचित कराएं। मैं मानता हूँ, यह महावीर के प्रति उनकी सच्ची भक्ति और श्रद्धाभिव्यक्ति होगी, जैन-शासन की महान सेवा होगी।

संसार की अमूल्य निधि

मैं आज नालंदा के पुस्तकालय में गया था। वहां मैंने विश्व की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में बौद्ध-साहित्य देखा। संसार के कुछ देश मूल *त्रिपिटक* मान्य करते हैं तो कुछ देश उत्तरवर्ती साहित्य। बावजूद इसके, उनमें परस्पर टकराहट-जैसी कोई बात नहीं है। जैन-परंपरा में भी एक वर्ग मूल प्राकृत वाङ्मय में विश्वास करता है तो दूसरा वर्ग उत्तरवर्ती साहित्य में, पर इस बात पर जैन लोगों का परस्पर उलझना, विवाद में पड़ना कहां तक उचित है? जरूरत तो इस बात की है कि वे संगठित रूप में जैन-संस्कृति और जैन-वाङ्मय जन-जन तक पहुंचाने लिए प्रयत्न करें, ताकि संसार उनसे लाभान्वित हो सके। मैं मानता हूँ, जैन-संस्कृति जीवन-विकास की अजस्र धारा है, जैन वाङ्मय विश्व की एक अमूल्य निधि है। वह अत्यंत सौभाग्य का दिन होगा, जिस दिन जैन-संस्कृति और जैन-वाङ्मय सही रूप में संसार के समक्ष आएगा। उस सौभाग्य-दिवस की मैं आतुरता से प्रतीक्षा में हूँ। आशा करता हूँ, जैन लोग अपने संयुक्त उत्तरदायित्व के प्रति गंभीर बनेंगे। जैन-संस्कृति समारोह की आयोजना की पृष्ठभूमि में यही भावना रही है।

राजगृह, १७ जनवरी १९५९

जैनों का संयुक्त उत्तरदायित्व

१६ : आत्म-सुख की प्राप्ति का मार्ग*

सच्चा धार्मिक कौन

भगवान महावीर और गौतम बुद्ध जनता के बीच उपस्थित होते थे, जनता की भाषा में बोलते थे और जन-जन के जीवन से संबद्ध विषय छूते थे। लोगों पर उनकी वाणी का सीधा असर होता था। फलतः उनके जीवन-व्यवहार में एक परिवर्तन घटित होता था। आज आवश्यकता इस बात की है कि तत्त्व-चिंतन मात्र तत्त्व-चिंतन के लिए नहीं, अपितु जन-जन के जीवन-व्यवहार को उन्नत और परिमार्जित करने के लिए हो। जब तक व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध नहीं बनेगा, जीवन ऊंचा नहीं उठेगा, तब तक वह वास्तव में धार्मिक नहीं बन सकेगा।

जरूरी है अग्र और मूल का छेद

धार्मिक व्यक्ति की यह एक बहुत बड़ी पहचान है कि वह आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए सतत जागरूक रहता है, उसके लिए पुरुषार्थ करता है। भगवान महावीर ने बताया है कि आत्म-सुख प्राप्त करने के लिए अग्र और मूल का छेदन करो। विषैले वृक्ष की टहनियां काट देने मात्र से विष कैसे दूर होगा, जब तक कि उसकी जड़ नहीं काट दी जाती? सुखेच्छु व्यक्ति को आत्म-सुख का निरोध करनेवाले हेतुओं के बाहरी प्रसार व उनके मूल का उच्छेद करना होगा। गौतम बुद्ध के दर्शन में यहां अंतर आता है। उदाहरणार्थ, विषदिग्ध बाण से आहत व्यक्ति अपनी चिकित्सा के लिए समागत वैद्य से कहता है कि जब तक आप यह नहीं बता देते कि यह बाण किसका बना है, कहां बना है, कब बना है, कहां से आया है.....तब तक मैं इसे नहीं निकलवाऊंगा। यहां बुद्ध का कथन यह है कि यदि बाण नहीं निकाला जाएगा तो ये सारी बातें अज्ञात रह जाएंगी और आहत पहले ही मर जाएगा। इसलिए सारी बातें

*जैन संस्कृति समारोह में प्रदत्त वक्तव्य।

छोड़कर केवल वह बाण निकाल दिया जाना चाहिए, पर महावीर का चिंतन इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि दुःख का बहिरूप तो तत्काल मिटा देना अपेक्षित है ही, साथ ही यदि उसका मूल नहीं मिटाया गया तो न जाने वह बहिरूप पुनः कब उभर आए। इसी लिए उन्होंने अग्र और मूल दोनों के छेदन की बात कही।

अनासक्त भाव जागे

भगवान महावीर की यह बात इतनी सुबोध है कि हर-कोई बहुत आसानी से समझ सकता है, पर कैसी बात है कि लोग सुनते हैं, समझते हैं और ऐसा कहते भी हैं, किंतु इसे जीवन में उतारने की तैयारी नहीं दिखाते! दूसरे शब्दों में वे अपने को ज्यों-का-त्यों रखना चाहते हैं। वे दिखावा तो बढ़-चढ़कर करते हैं, पर पाप से भय नहीं खाते। इस कोटि के लोग मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि वह है, जिसके अंतःकरण में पाप का भय हो। ऐसा व्यक्ति निर्लेप-भाव से अपना जीवन-व्यवहार चलाता है। आप जानते हैं कि धाय माता बच्चे का लालन-पोषण करती है, तथापि उसका बच्चे के प्रति मां-जैसा ममत्व नहीं होता। वह सदा इस भाषा में सोचती है कि बच्चा मेरा नहीं है। ठीक इसी प्रकार अपने पारिवारिक और सामाजिक कार्य करता हुआ सम्यग्दृष्टि व्यक्ति उनमें आसक्त नहीं होता। वह उनसे निर्लिप्त रहता है। यह निःस्पृह और अनासक्त वृत्ति व्यक्ति को आत्म-सुख की अनुभूति कराने में बहुत सहयोगी होती है। आशा है, क्या व्यापारी और क्या अन्य वर्ग के लोग सभी इस पर गंभीरता से चिंतन करेंगे और अपना जीवन सही दिशा में मोड़ने के लिए प्रेरित होंगे।

राजगृह

१८ जनवरी १९५९

१७ : दो करणीय कार्य*

आगम-संपादन

मेरे समक्ष दो प्रमुख करणीय कार्य हैं। प्रथम है—साहित्य-साधना का और दूसरा है—विभिन्न संप्रदायों में पारस्परिक समन्वय लाने का। *आगमों* के संदर्भ में हमारी एक पूरी योजना है, उसे क्रियान्वित करने का एक संकल्पात्मक चिंतन है। हालांकि यह एक बहुत विशाल कार्य है, तथापि मुझे इस बात का संतोष है कि यह कार्य अपनी गति से उत्तरोत्तर आगे बढ़ रहा है। यह भी अत्यंत प्रसन्नता की बात है कि इस कार्य के संदर्भ में देश के विशिष्ट विद्वानों से नैकट्य बन रहा है। उनके नए-नए उपयोगी सुझाव प्राप्त हो रहे हैं। भविष्य में भी उनका अपेक्षित सहयोग हमें प्राप्त होता रहेगा, इसके प्रति मैं आशान्वित हूँ।

मेरा सौभाग्य

मैं इस अर्थ में अपने-आपको अत्यंत सौभाग्यशाली महसूस करता हूँ कि मुझे एक व्यवस्थित और अनुशासित धर्मसंघ मिला। सुव्यवस्थित एवं अनुशासित संघीय जीवन के फलस्वरूप आगम-संपादन जैसे कार्यों की दुरूहता भी सुकरता में बदल गई है। परस्पर इतना सहज ऐक्य-भाव है कि कहीं कोई द्विरूपता नजर नहीं आती। आचार्य आत्मा और संघ के साधु-साध्वियां शरीर। इस स्थिति में साधु-साध्वियों की बड़ी शक्ति का सुयोग सहज रूप से किसी कार्य में उपलब्ध हो जाता है। आगम-संपादन के इस कार्य में भी उसका सहज योग प्राप्त है। हालांकि पदयात्रा के कारण प्रारंभ में इस कार्य के संपादन में कुछ कठिनाइयां और समस्याएं भी उपस्थित हुईं, तथापि साधु-साध्वियों के दृढ़ संकल्प, लगन एवं परिश्रम के समक्ष वे अवरोध नहीं बन सकीं।

सांप्रदायिक एकता एवं समन्वय

दूसरा प्रमुख करणीय कार्य है—सांप्रदायिक एकता एवं समन्वय का।

*जैन संस्कृति समारोह में प्रदत्त वक्तव्य।

मुझे इस बात का अंतस्तोष है कि विगत वर्षों के प्रयास के फलस्वरूप इस क्षेत्र में एक सुंदर वातावरण निर्मित हो रहा है। परस्पर निकट आने और एक-दूसरे को समझने-समझाने की भूमिका बन रही है। मुझे आशा है कि सामंजस्य, सद्भाव और मंडनात्मक नीति के व्यापक प्रसार से यह भूमिका और अधिक विस्तृत और सुदृढ़ बनेगी। अपेक्षा है, सभी जैन-संप्रदाय इस कार्य का महत्त्व समझें। वे अपनी सोच विधेयात्मक बनाएं, अपने व्यवहार से एकता पर बल दें। सामूहिक प्रयत्न से ही यह कार्य सफलता के बिंदु तक पहुंच पाएगा।

मनुष्य पहले मनुष्य है

इन दोनों कार्यों के साथ-साथ लोक-जीवन के सांस्कृतिक और चारित्रिक अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना भी मेरा लक्ष्य है। मैं मानता हूँ कि यह आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है। इस दृष्टि से हमने अणुव्रत-आंदोलन का कार्यक्रम चला रखा है। इस कार्यक्रम को सभी वर्गों व धर्मों के लोगों का व्यापक समर्थन और सहयोग प्राप्त हो रहा है। यह प्रसन्नता की बात है, भविष्य के लिए एक शुभ शकुन है। वैसे कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें इस व्यापक कार्यक्रम में भी संकीर्णता नजर आती है, सांप्रदायिकता की बू आती है। इसलिए कहीं-कहीं यदा-कदा यह आशंका का स्वर भी सुनने को मिलता है कि अणुव्रत-आंदोलन के बहाने कहीं सभी को तेरापंथी बनाने का प्रयास तो नहीं है। मैं बहुत स्पष्ट शब्दों में उन्हें आश्वस्त करते हुए कहना चाहता हूँ कि हमारा सबसे पहला प्रयास सबको मनुष्य बनाने का है। मनुष्य पहले मनुष्य है, बाद में धार्मिक या और कुछ—यह मेरी पुष्ट मान्यता है। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से सांस्कृतिक एवं चारित्रिक अभ्युदय के पीछे मानवता की प्रतिष्ठा की ही भावना है, मानव को मानवीय सद्गुणों के सांचे में ढालने का ही लक्ष्य है। मेरे समक्ष अनेक विद्वान बैठे हैं। विद्वानों के पास चिंतन और कलम की अद्भुत शक्ति होती है। मैं उन्हें आह्वान करता हूँ कि मानवता के परित्राण और निर्माण के इस महनीय कार्य में वे अपनी शक्ति का नियोजन करें। इससे उनकी विद्वत्ता को सच्ची सार्थकता मिलेगी।

राजगृह

१८ जनवरी १९५९

दो करणीय कार्य

● ४३ ●

१८ : अविस्मरणीय दृश्य

वह दिन

सुजानगढ़ की उस दिन की घटना साधु-साध्वियां भूले नहीं होंगे। मेरा चौवालीसवां जन्म-दिन था। न जाने क्यों मेरे मन में एक अद्भुत हर्ष उमड़ रहा था। मुझे याद है, उस दिन मैंने अपने हाथ से सभी साध्वियों को कुछ-न-कुछ अवश्य दिया था। उस दिन मेरे मन में विचार आया—साहित्य-साधना का विशाल कार्य मेरे सामने है। दूसरा विचार रह-रह कर उठ रहा था कि मैं यात्रा करूं, पर इसके साथ ही यह प्रश्नचिह्न भी उभर रहा था कि यह कैसे संभव है। साहित्य-साधना का महत्त्व मैं अच्छी तरह से महसूस कर रहा था, पर साथ ही यात्रा का महत्त्व भी कुछ कम नजर नहीं आ रहा था। मुझे यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं कि इसके लिए मुझे एक अज्ञात प्रेरणा मिल रही थी। कोई कल्पना नहीं थी कि उत्तरप्रदेश की यात्रा इतनी शीघ्र हो सकेगी। दूसरों की तो बात ही क्या, मैं स्वयं भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकता था, किंतु सहसा एक स्फुरणा मिली। आगे चलकर इसका व्यवस्थित कार्यक्रम बना। यात्रा की बात सुन-जानकर लोगों के मन बांसों उछल पड़े।

उत्तरप्रदेश और फिर आगे बिहार आकर हमने पाया कि यात्रा के द्वारा जन-जन में एक नवीन ज्योति और जाग्रति पैदा हो रही है। सर्वधर्म-समन्वय, साहित्य-साधना एवं उसके प्रसार का कार्य भी जन-जागरण के साथ-साथ हो रहा है। हमने साक्षात् देखा—बनारस, पटना, नालंदा आदि के अल्पकालीन प्रवास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। राजगृह का कार्य तो आशातीत ही रहा है। पत्रकार कहते हैं कि वर्षों में इस ढंग का यह पहला कार्यक्रम है।

यात्रा की मंगल कामना

आज यहां मंत्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी तथा मातुश्री वदनाजी

उपस्थित होते तो कितनी प्रसन्नता की बात होती! मंत्री मुनि के मन में यह आता रहा होगा कि आचार्यश्री किधर पधारेंगे, कहां पधारेंगे, पर मेरा मन कहता है कि अब उनका चित्त भी हर्ष से प्रफुल्लित होगा। जैसाकि मैं सुनता हूं, वे कहते हैं कि आचार्यप्रवर को उधर पधारना ही चाहिए।

मुझे स्मरण है, जब मैंने राजस्थान से यात्रा के लिए प्रस्थान किया, तब मातुश्री वदनाजी ने कितने उल्लास के साथ मुझे विदा दी थी! उन्होंने कहा था कि आप सुखपूर्वक यात्रा करें।

दोनों वृद्ध हैं और मंत्री मुनि तो अस्वस्थ भी हैं। इस स्थिति में मेरा यह कर्तव्य होता है कि उनके संयम-जीवन में विशेष सहाय्य दूं, पर उन्होंने मुझे कभी रोकने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि यात्रा के प्रति बहुत-बहुत मंगल भावना व्यक्त की।

आज के दिन मैं अपने सभी साधु-साध्वियों को भी स्मरण करता हूं। मैं सुदूर प्रदेशों की यात्रा पर हूं। वे यहां से बहुत दूर-दूर हैं, पर यह दूरी मात्र शरीर के स्तर पर है। आत्मा के स्तर पर तो वे सब मेरे सन्निकट ही हैं। हों भी कैसे नहीं ? वे अपना एकमात्र आधार और सर्वस्व आचार्य और गुरु को मानते हैं। मैंने प्रस्थान से पूर्व साधु-साध्वियों से यात्रा के संदर्भ में पूछा था। यह इसलिए कि संघपति और उनका परस्पर आत्मा और शरीर-जैसा अभिन्न संबंध है। मेरे पूछने पर उन्होंने बड़े उल्लसित मन से कहा था—‘आपकी यात्रा हो। वह सुखद हो, सफल हो।’

आह्लाद एवं तोष का विषय

मेरे लिए यह अत्यंत आनंद का विषय है कि हमारे धर्म-शासन द्वारा मानव-जाति की उल्लेखनीय सेवा हो रही है। यह भी मेरे लिए कम तोष की बात नहीं है कि मन और वाणी-सहित मेरा शरीर शासन-सेवा एवं जन-जागरण के पुनीत कार्य में लग रहा है। यदि यह समूचा भी काम आ जाए तो भी किंचित भी चिंता नहीं है, बल्कि परम प्रसन्नता का विषय है। इन दोनों कार्यों में संलग्न रहते हुए मुझे न भूख सताती है और न नींद ही। मुझे विश्वास है, यह प्रयत्न धर्म-शासन के अभ्युदय तथा मानव-जाति के आध्यात्मिक एवं धार्मिक उत्कर्ष का हेतु बनेगा।

महावीर बोल रहे हैं !

आज का यह दृश्य, पुढ्वीशिला का यह आसन कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। मुझे तो ऐसा प्रतिभासित होता है कि मैं तो एक आकार हूं, माध्यम हूं। वास्तव में तो अदृश्य रूप में भगवान महावीर बोल रहे हैं। मैं आज आनंद-विभोर हूं, गद्गद हूं। किसी ने यह कब कल्पना की थी कि मैं इस पुढ्वी-आसन पर आसीन होकर बोलूंगा। साधु-साध्वियां कितने मनोरम लगते हैं! हमारे संघीय जीवन के अनुशासन में स्वतंत्रता है और स्वतंत्रता में अनुशासन है। यहां अनुशासन थोपा नहीं जाता, बल्कि स्वेच्छा से सहर्ष स्वीकार किया जाता है।

यह दृश्य देख श्रावक-श्राविकाएं कितने प्रसन्न हैं, इसका अनुमान उल्लसित चेहरा-चेहरा देखकर लगाया जा सकता है। मेरी यह भावना है कि मैं साधु-साध्वियों की तरह ही इन्हें भी निरंतर प्रगति की राह पर आगे बढ़ाता चलूं। आगम-साहित्य में आचार्य को गोप और सायात्रिक कहा गया है। मैं चाहता हूं, उनके अनुरूप मैं अपना उत्तरदायित्व निभाता रहूं।

एक संकल्प की अभिव्यक्ति

यह सप्तपर्णी गुफा एक ऐतिहासिक स्थान है। बौद्धों की प्रथम संगीति यहीं हुई थी। मैं भी इस ऐतिहासिक स्थल पर एक संकल्पात्मक विचार व्यक्त करना चाहता हूं कि पांच वर्षों की अवधि में हमें समस्त मूल आगमों का संपादन कर लेना चाहिए। इस कार्य में हम जुटे रहेंगे और उपलब्ध सामग्री के आधार पर इसे आगे से आगे बढ़ाने का हमारा प्रयत्न चलता रहेगा।

सप्तपर्णी गुफा, राजगृह

१९ जनवरी १९५९

१९ : अणुव्रत-आंदोलन : चारित्रिक रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा

प्रकृति में जो सहज सौंदर्य होता है, वह विकृति में कहां ? प्रतिमा के मूल रूप में जो सौंदर्य मिलता है, वह उसे चांदी और सोने से मढ़ देने के बाद कहां ? प्रकृति में आकर्षण होता है, इसी लिए मैं अनिमंत्रित भी प्राकृति के साम्राज्य में जाता हूं और उसका स्वागत लेता हूं। राजगृह और क्षत्रियकुंड अभी गया था और आज जसडीह आया हूं। किसने निमंत्रण दिया था ? किसी ने नहीं। प्रकृति में मेरी रुचि है और आकर्षण है, इसी लिए ऐसे प्राकृतिक स्थानों पर मैं जाता रहता हूं।

प्रकृति से उपलब्ध सामग्री के उपयोग में मुझे जो आनंद मिलता है, वह कृत्रिमता में नहीं। इसी प्रकृति के हेतु मैं किसी वाहन का प्रयोग नहीं करता, पैदल चलता हूं; और वह भी नंगे पैर। पंखे का उपयोग भी नहीं करता। बावजूद इसके, मैं प्रसन्नचित्त हूं, क्योंकि कृत्रिमता के प्रति मेरा किंचित भी आकर्षण नहीं है। बच्चे की बोली में जो माधुर्य होता है, वह बड़ों की बोली में कहां ? प्रकृति में रमण करनेवालों को विकृति अच्छी नहीं लगती।

कल की घटना है। हम नवादा से जसीडीह की ओर चले। ढाई मील प्राकृतिक-कच्चे रास्ते पर चले। फिर एक मील विकृति-सड़क पर चले। सड़क खराब थी। चलने में कष्ट होना स्वाभाविक ही था। विकृति में वह आनंद कैसे मिले ?

एक कार्यकर्ता दौड़ता हुआ-सा मेरे पास आया और बोला-‘चार मील के बाद जो कच्चा रास्ता था, वह वर्षा के कारण खराब हो गया है। मिट्टी चिकनी होने के कारण पैर फिसलते हैं। चलने में कठिनाई होगी। इसलिए आपको सड़क का मार्ग लेना चाहिए। तीन मील अधिक तो अवश्य पड़ेगा, पर चलने में सुविधा रहेगी।’

मैंने उसकी बात सुनी अवश्य, पर मुझे जंची नहीं। मैंने कहा— 'हम पूर्व-निश्चित मार्ग से ही जाएंगे, भले वह दुर्गम क्यों न बन गया हो। वर्षा हमारी परीक्षा ले रही है तो भले ले, पर हम प्रकृति के पुजारी हैं, पीछे नहीं हटेंगे। परीक्षा के समय कष्ट देखकर घबराना कायरता है।'

प्रकृति—कच्चे मार्ग पर हम चल पड़े। विकृति से वापस प्रकृति में आने में जोर पड़ता है। पैर फिसलने लगे। बूँदा-बूँदी भी होने लगी। कई बार बूँदों ने उग्र रूप धारण किया, पथ रोकने का प्रयास किया, मार्ग को कीचड़मय बना दिया, फिर भी हमारे मानस में खेद की जरा भी संवेदना नहीं उभरी। एक-एक पैर संभालकर रखते हुए हम प्रसन्नतापूर्वक गंतव्य स्थान पर पहुंच गए। कई बार वर्षा के कारण झोंपड़ियों में रुकने से सुरक्षित रहे, विशेष भीगे नहीं। ऐसा लगा, यदि हम विकृत मार्ग—सड़क से जाते तो भीग जाते। कारण यह कि मार्ग में बस्ती नहीं थी, जंगल-ही-जंगल था। पूर्व भावना को बल मिला कि मनुष्य को प्रकृति में ही रमण करना चाहिए, चाहे कष्ट ही क्यों न उठाना पड़े।

आज प्रकृति से विकृति में आकर मनुष्य अपना मूल स्वरूप भूल रहा है। वह शोषण, नीतिभ्रष्टता, संग्रह, मिलावट आदि विकृतियों में रच-पच रहा है। अणुव्रत-आंदोलन उसे वापस प्रकृति में लाने का एक प्रयत्न है।

दवा रोग का शमन करने का एक साधन है, पर आज उसमें भी विकृति—मिलावट हो गई है। इस विकृति—रोग को मिटाने के लिए किसी दवा का प्रयोग नहीं करना होगा। केवल विकृति हटाने की जरूरत है। विकृति का आवरण हटा कि प्रकृति शेष रह जाएगी। मिट्टी दूर करने से स्वर्ण स्वयं मूल रूप में आ जाएगा।

स्वास्थ्य शब्द का अर्थ अपनी शब्द-रचना में निहित है। अपने स्वरूप में रहनेवाला स्वस्थ होता है। स्वत्व से परत्व में जाना विकृति है। संपूर्ण विकृति न मिटे, तब तक व्यक्ति स्वस्थ नहीं कहलाता।

अपने असंयम से मनुष्य रोग का शिकार बनता है और विवश होकर उसे परिणाम भी भोगना पड़ता है। भूलों का सुधार किए बिना वह स्वस्थ नहीं बनता। स्वास्थ्य के लिए वर्तमान की भूलों के सुधार के साथ-साथ भविष्य में उन्हें पुनः न करने का संकल्प भी आवश्यक है। अतीत का प्रायश्चित्त और भविष्य में वैसा न करने का संकल्प ही

स्वस्थता का लक्षण है। स्वस्थ बनने के लिए ही साधक संकल्प करता है—असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि—असंयम का परित्याग कर संयम के पथ पर चलूंगा।

प्राकृतिक चिकित्सा

रोग के प्रतिकार की प्रक्रिया का नाम चिकित्सा है। प्राकृतिक चिकित्सा की भी अपनी एक स्वतंत्र पद्धति है। मिट्टी, पानी, उपवास आदि से चिकित्सा करना और खाद्य वस्तुओं में संयम रखना। यह एक सरल और सुगम चिकित्सा-पद्धति है। साधुओं के लिए भी यह अनुकूल है, पर इस चिकित्सा-पद्धति की एक-दो बातें चिंतन मांगती हैं—

१. दवा का ऐकांतिक निषेध। २. फलों के रस का अत्यधिक व्यय।

प्राकृतिक औषधियों का निषेध भी अनावश्यक प्रतीत होता है। कहा गया है—

**हरीतकी मनुष्याणां, मातेव हितकारिणी।
कदाचित् कुप्यते माता, न जातुचिद् हरीतकी॥**

हरड़ कभी हानिप्रद नहीं है, प्राकृतिक वस्तु है। बावजूद इसके, मात्र औषध के रूप में काम आने के कारण उसका निषेध हो, तब क्या अन्न भी औषध नहीं है? उसका सेवन क्यों होता है? आगमों में साधुओं के लिए ग्राह्य चौदह वस्तुएं बताई गई हैं। उनमें औषध और भेषज को भी सम्मिलित किया गया है।

कई लोग दवा का अतिरेक करते हैं। बारह ही महीने दवा के आधार पर ही रहते हैं। निद्रा के लिए भी गोली तथा इंजेक्शन लेते हैं। यह भी अच्छा नहीं। दर्शन-ग्रंथों में न्याय यष्टिवत होता है, वैसे ही औषधि का भी कदाचित् आवश्यकतावश प्रयोग किया जाता है। अतिभाव और अभाव दोनों ही ऐकांतिक हैं। साधारणतया मध्यम मार्ग है—अल्प भाव।

जन-साधारण और साधु-संतों के लिए फलों के रस पर रहना कठिन-सा है, क्योंकि उन्हें यह सहज उपलब्ध नहीं हो सकता। इस ओर ध्यान न दिए जाने के कारण आज यह चिकित्सा जन-साधारण की चिकित्सा न रहकर अमीरों की चिकित्सा बन गई है। यदि सहज प्राप्य सामग्री के आधार पर इसे विकसित किया जाता तो संभवतः यह अधिक व्यापक और उपयोगी बन पाती। अपेक्षा है, इस संदर्भ में अब भी गंभीरता से चिंतन किया जाए।

जसीडीह, २० जनवरी

२० : महावीर के उपदेश जीवन में उतारें

आज हम क्षत्रियकुंड पहुंचे हैं। यह एक प्रसिद्ध क्षेत्र है। यद्यपि नाम के आधार पर यह भगवान महावीर का जन्मस्थल प्रतीत होता है, तथापि इस संदर्भ में निर्णायक रूप में कुछ भी कहा जाना संभव नहीं है, क्योंकि इस बिंदु पर लोगों में मतैक्य नहीं है। जहां एक ओर परंपरा इसे भगवान महावीर के जन्म-स्थल के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करती है, तत्कालीन कुमारग्राम से वर्तमान कुमारग्राम का संबंध जोड़ा जाता है, वहीं दूसरी ओर अनेक इतिहासकार इससे अपनी असहमति प्रकट करते हैं। वे इसकी जगह वैशाली को भगवान महावीर का जन्म-स्थान मानते हैं। इस संदर्भ में मेरा व्यक्तिगत चिंतन यह है कि यह एक शोध का विषय है। पूरे शोध के पश्चात ही किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। इसी प्रकार बिहार प्रदेश में और भी अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनके साथ भगवान महावीर के जीवन से संबद्ध घटनाएं जुड़ी हुई हैं, पर अमुक स्थान से अमुक घटना संबद्ध है, यह स्पष्ट निर्णय करने के लिए, जैसा कि मैंने कहा, शोध अपेक्षित है। उसके बिना किसी स्थान के इतिहास की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं होती। बावजूद इसके, इतना तो स्पष्ट है कि वे पहाड़, वे चट्टानें, वे पुढवी-शिला पट्ट, जिनका कि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उल्लेख है, सहस्रों वर्ष पुराने हैं। उनका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। ऐसे स्थानों में पहुंचकर, प्रवास कर मेरा चित्त अतिरिक्त प्रसन्नता की अनुभूति करता है।

भगवान महावीर से संबद्ध स्थलों का भी जब ऐतिहासिक महत्त्व है तब उनके उपदेशों, सिद्धांतों और विचारों के महत्त्व की तो बात ही क्या! वे तो व्यक्ति के लिए त्राण हैं, शरण हैं, गति हैं। बहुत सही तो यह है कि उनका महत्त्व है, तभी उनके स्थलों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

हम उनके उपदेशों, सिद्धांतों और विचारों का स्मरण करें, उन्हें अपने जीवन में उतारें, यही श्रेय-पथ है। इस श्रेय-पथ पर हम बढ़ते चलें, हमारा जीवन सार्थक हो जाएगा।

क्षत्रियकुंड, २३ जनवरी १९५९

२१ : सच्चा सुख

सामान्यतः लोग बाह्य सुविधाओं में सुख देखते हैं, सुख खोजते हैं, पर वास्तविकता कुछ और ही है। आप कल्पना करें, एक व्यक्ति के पास अच्छा मकान है, सब तरह की सुविधा-सामग्री है। सहसा उसके पेट में असह्य दर्द शुरू हो जाता है अथवा कहीं से अति अप्रिय समाचार का तार आ जाता है। ऐसी स्थिति में क्या वह आलीशान मकान और नानाविध साधन-सामग्री उसके लिए सुखद बनी रहेगी? उत्तर स्पष्ट ही है। सुखद बनी रहने की बात संभव नहीं लगती। बहुत संभावित तो यह है कि ऐसी स्थिति में वह दुःख से विलाप करने लगे। ज्ञानियों की दृष्टि में सच्चा सुख है—मन की समाधि। ध्यान रहे, यह मन की समाधि भौतिक साधन और सुविधा-सामग्री पर आधारित नहीं है, बिलकुल भी आधारित नहीं है। पाटलिपुत्र (पटना) में हम पांच लाख के विशाल भवन में रहे और यहां जमीन पर बैठे हैं, परंतु मैं अनुभव कर रहा हूं कि तुलनात्मक दृष्टि से मुझे यहां अधिक आनंद है, शांति है, क्योंकि यहां मैं विशेष मनःसमाधि पा रहा हूं, पर यह बात तब समझ में आती है, जब व्यक्ति की अंतर्दृष्टि जाग्रत हो जाए। जब तक वह बहिर्दृष्टि बना हुआ है, तब तक तो वह भौतिक साधन-सामग्री में ही सुख ढूंढता रहेगा। इसलिए अपनी अंतर्दृष्टि जगाने का सलक्ष्य प्रयत्न होना चाहिए।

सच तो यह है कि अंतर्दृष्टि बन जाने के पश्चात व्यक्ति के चिंतन की संपूर्ण धारा ही बदल जाती है, समग्र व्यवहार ही बदल जाता है। फिर वह दूसरों के अहित की कोई बात नहीं सोच सकता, ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं कर सकता, जिससे दूसरों को कष्ट पहुंचे, उनका सुख बाधित हो। आध्यात्मिक दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूर्ण स्थिति है। जो व्यक्ति इस स्थिति में पहुंच जाता है, उसका जीवन सुख

से भर जाता है, आनंद से आप्लावित हो जाता है, शांति से ओतप्रोत हो जाता है। आप भी अंतर्दृष्टि बनें, अपनी अंतर्दृष्टि जाग्रत करें। निश्चय ही आप अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति करेंगे, जीवन की धन्यता महसूस करेंगे।

अभ्रक गोदाम

२६ जनवरी १९५९

२२ : गणतंत्र-दिवस

आज गणतंत्र-दिवस है। भारतवर्ष के नागरिकों के लिए यह एक राष्ट्रीय महत्त्व का दिवस है, राष्ट्रीय पर्व-दिवस है। इसलिए इस दिन राष्ट्रवासी खुशियां मनाते हैं, उत्सव मनाते हैं। अन्यान्य राष्ट्रों के लोग आज के दिन के उपलक्ष्य में भारतीय लोगों को अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित करते हैं।

मैं खुशियां और उत्सव मनाने से लोगों को नहीं रोकता, पर इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि आज का दिन वे यहीं तक ही सीमित न रखें। वे आत्म-निरीक्षण करें। मेरी दृष्टि में यह सर्वाधिक जरूरी बात है। आज भारतवर्ष की जो स्थिति है, वह उसकी गरिमा के अनुरूप नहीं है। भारत के नागरिक मानवता की राह छोड़कर न जाने उज्जड़ में कहां-कहां भटक रहे हैं। उनके जीवन से नैतिकता, प्रामाणिकता, ईमानदारी-जैसे आवश्यक मानवीय गुण लुप्त होते जा रहे हैं। उनका चारित्रिक बल इतना क्षीण हो गया है कि छोटे-से-छोटे स्वार्थ के लिए वे गलत-से-गलत आचरण करते भी नहीं सकुचाते, अन्यथा मिलावट मत करो, तौल-माप में कमी-बेशी मत करो, बिना टिकट रेलानादि से यात्रा मत करो, दहेज के लिए ठहराव मत करो, वोटों की खरीद-बिक्री मत करो-जैसी छोटी-छोटी बातों के उपदेश की कोई जरूरत नहीं पड़ती। मैं राष्ट्र के नागरिकों को उद्दिष्ट कर कहना चाहूंगा कि इस राष्ट्रीय पर्व के उपलक्ष्य में वे प्रतिज्ञाबद्ध हों कि हम मिलावट, विश्वासघात, धोखाधड़ी, रिश्वत-जैसी प्रवृत्तियों से दूर रहेंगे। मानवीय और चारित्रिक मूल्यों के प्रति समर्पित रहेंगे। अपने किसी आचरण और व्यवहार से राष्ट्रीय चरित्र को क्षति नहीं पहुंचाएंगे। इसी से उनके विकास का सही मार्ग प्रशस्त हो सकेगा, समाज और समग्र राष्ट्र के विकास की सही दिशा का उद्घाटन हो सकेगा, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सही निर्माण हो सकेगा। हम अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से

मानवीय एवं नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए कार्य कर रहे हैं, जन-जन की चारित्रिक निष्ठा जगाने का प्रयास कर रहे हैं। आप लोग इसकी आचार-संहिता स्वीकार करें। आपका गणतंत्र-दिवस मनाना सार्थक बन जाएगा, यादगार बन जाएगा।

अभ्रक गोदाम

२६ जनवरी १९५९

२३ : सबसे बड़ी संपत्ति

आशा की किरण

संसार के अन्यान्य देशों की तरह भारतवर्ष में बड़े-बड़े कलकारखाने नहीं हैं, पूंजी का बहुत संचार नहीं है। चंद्रलोक को लांघकर उत्तरोत्तर आगे बढ़नेवाले रॉकेट बना सकने की स्थिति में भी भारत नहीं है, परंतु इसमें मुझे राष्ट्र की वह कमी नहीं लगती, जो इसमें लगती है कि आज इस राष्ट्र में महावीर, बुद्ध और व्यास-जैसे व्यक्तित्व पैदा नहीं हो रहे हैं। निश्चय ही यह एक खेदजनक स्थिति है।

भारतवर्ष में समय-समय पर अनेक दुष्काल पड़े, अनेक प्रकार की दूसरी-दूसरी कठिन परिस्थितियों से होकर भी राष्ट्र को गुजरना पड़ा, पर आज जैसी चिंता की स्थिति बनी है, वैसी अतीत में शायद कभी नहीं बनी। यह चिंता की स्थिति बनी है—नैतिक दुर्भिक्ष के कारण। आज अनैतिकता का प्रवाह जिस तेजी के साथ जन-जीवन को लीलता चला जा रहा है, उसे देख-सुन आत्मा में प्रकंपन पैदा होता है। मन में रह-रहकर यह विचार उठता है कि भारत की यह क्या स्थिति बनी है! जो राष्ट्र सारे संसार को नैतिकता और चरित्र की शिक्षा देता था, उस राष्ट्र में नैतिकता और चरित्र का इतना भयंकर दुर्भिक्ष! सचमुच यह एक गंभीर बात है। बावजूद इसके, मैं निराश-हताश नहीं हूँ, बल्कि इसके उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशान्वित हूँ। इस आशान्विति का आधार ? आधार यह कि यहां की नैतिकता सर्वथा समाप्त नहीं हुई है, मरी नहीं है। वह मात्र मूर्च्छित है। यदि उसे चेतना की संजीवनी बूटी मिले तो वह पुनः जाग्रत हो सकती है, भारत का उज्ज्वल और गौरवशाली अतीत वर्तमान में झलक सकता है। मैं भारतीय जनों को आह्वान करता हूँ कि वे अपने उज्ज्वल और गौरवशाली अतीत की पुण्य स्मृतियों से प्रेरणा लें, वे अपना वर्तमान संवारकर शुभ भविष्य का निर्माण करें। वे यह सचाई आत्मसात करें कि किसी राष्ट्र की सबसे बड़ी संपत्ति उसके नीतिनिष्ठ,

संयमशील और चरित्रवान नागरिक होते हैं। राष्ट्र के नागरिकों का सच्चरित्र और नीति-निष्ठा उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है।

विद्या का लक्ष्य

प्रश्न किया जा सकता है कि नागरिकों में सच्चरित्र और नीतिनिष्ठा कैसे पनपे; चरित्रवान और नीतिनिष्ठ नागरिकों का निर्माण कैसे हो। यह काम शिक्षा-केंद्रों का है। यदि वे अपने उद्देश्यों के अनुरूप सही काम करें तो इस दृष्टि से वे उर्वर भूमि प्रमाणित हो सकते हैं तथा राष्ट्र को एक बहुत बड़ी निधि दे सकते हैं, परंतु यह बहुत स्पष्ट है कि आज वे अपने उद्देश्यों के अनुरूप काम नहीं कर पा रहे हैं, अन्यथा कोई कारण नहीं कि राष्ट्र में नैतिकता के दुर्भिक्ष-जैसी दुःखद और विकट स्थिति पैदा होती। अपने उद्देश्यों के अनुरूप कार्य न कर सकने का कारण भी अस्पष्ट नहीं है। शिक्षा का मूलभूत लक्ष्य भुला-सा दिया गया है। शिक्षा का मुख्य काम आत्म-विकास के माध्यम से सर्वांगीण व्यक्तित्व के निर्माण का है, पर आज वह आजीविका का साधन बन गई है। विद्यार्थी इसलिए विद्याभ्यास करता है कि उसे ऊंची डिग्री उपलब्ध हो जाएगी और उसके माध्यम से उसे अच्छी नौकरी मिल जाएगी। विद्या से आत्म-विकास होता है और वह जीवन के सर्वतोमुखी विकास का आधार है—यह बात उसके चिंतन में नहीं आती, बल्कि कहना चाहिए कि यह लक्ष्य उसके दृष्टि-पथ से ओझल-सा हो गया है। मैं नहीं समझता, जब विद्यार्थियों के समक्ष विद्याभ्यास के लक्ष्य की ही स्पष्टता नहीं है, तब उनका लक्ष्य तक पहुंचना कैसे संभव हो सकता है। मैं शिक्षा-क्षेत्र से जुड़े सभी लोगों से कहना चाहूंगा कि वे **सा विद्या या विमुक्तये**—यह लक्ष्य या उद्देश्य सामने रखकर कार्य करें, ताकि सन्नागरिकों के निर्माण का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य वे सफलतापूर्वक संपादित कर सकें।

संयम और सदाचार को सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिले

मुझे ऐसा लगता है न केवल शिक्षा के क्षेत्र में, अपितु समाज के लगभग सभी क्षेत्रों में अर्थ को अतिरिक्त प्रतिष्ठा मिल रही है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वह प्रतिष्ठा के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन है, जीवन का सर्वोच्च मापदंड और मूल्य बन गया है। अर्थ की इस अतिरिक्त प्रतिष्ठा ने संयम और सदाचार का अवमूल्यन किया है।

उसके परिणामस्वरूप अनैतिकता, भ्रष्टाचार-जैसी बहुत-सी विकृतियाँ समाज में व्याप्त हो रही हैं। यदि हमें समाज को स्वस्थ बनाना है तो संयम और सदाचार को सर्वोच्च प्रतिष्ठा देनी होगी। अणुव्रत-आंदोलन संयम और सदाचार के प्रसार का अभियान है। छोटे-छोटे संकल्पों के माध्यम से वह समाज के हर वर्ग का जीवन-व्यवहार मांजना चाहता है। विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए भी उसके अंतर्गत कुछ संकल्प निर्धारित हैं। उन्हें ग्रहण कर विद्यार्थी और अध्यापक अपना जीवन संयम और सदाचार से भावित कर सकते हैं। आशा करता हूँ, विद्यार्थी और अध्यापक इस पर गंभीरता से चिंतन करेंगे।

बैजनाथ धाम, देवघर

३० जनवरी १९५९

२४ : छात्र-छात्राओं की जीवन-दिशा

शिक्षा का उद्देश्य

विद्यार्थी भविष्य-निर्माता होते हैं। समाज और राष्ट्र का भविष्य आज के विद्यार्थियों पर ही निर्भर होता है। उनका जीवन जितना अधिक सुसंस्कारित होता है, समाज और राष्ट्र का भविष्य उतना ही अधिक उज्ज्वल होता है। जीवन सुसंस्कारित होने से मेरा तात्पर्य विद्यार्थी समझते ही होंगे। वह सत्य, सदाचार और अनुशासन के सांचे में ढला हुआ होना चाहिए। आज के विद्यार्थियों में इन तत्त्वों की कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो उनके जीवन का सही निर्माण नहीं हो रहा है। इसका कारण भी अस्पष्ट नहीं है। शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य आज भुलाया जा रहा है। शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य जीवन का निर्माण करना है, पर दुर्भाग्य से आज वह पुस्तकें रट लेना और उपाधियाँ प्राप्त कर लेना बन गया है। मैं विद्यार्थियों से कहना चाहूँगा कि वे शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य पर अपनी दृष्टि केंद्रित कर अपने जीवन-निर्माण की दिशा का उद्घाटन करें।

विद्यार्थी योगी होता है

विद्यार्थी यह बात गंभीरता से समझें कि उनका यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समय है। अतः एक विद्यार्थी का जीवन कैसा होना चाहिए, इसकी स्पष्ट अवधारणा उनके मस्तिष्क में होनी चाहिए। मेरी दृष्टि में विद्यार्थी का जीवन एक योगी का जीवन है। योगी ध्यान-साधना में लगा रहता है। किसी के साथ वह अनुचित और अप्रिय व्यवहार नहीं करता। अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के प्रति वह एकनिष्ठ बनकर जीता है। उसकी जीवन-शैली संयममय होती है। ठीक इसी तरह एक विद्यार्थी अपना ध्यान आत्म-केंद्रित रखे। उसके व्यवहार में अनुशासनहीनता, अशालीनता और अनौचित्य न हो। ज्ञानार्जन के साथ जीवन-शोधन एवं जीवन-निर्माण का

जो महान लक्ष्य उसके सामने है, उसे प्राप्त करने में वह तन्मय बना रहे। उसका जीवन संयमोन्मुख बने, पर मुझे सखेद कहना पड़ता है कि आज का विद्यार्थी संयम की बात उपेक्षित और विस्मृत कर रहा है। उसके व्यवहार में संयम नहीं, कर्म में संयम नहीं, दृष्टि में संयम नहीं। छात्राओं को बुरी दृष्टि से देखना, उन्हें अश्लील शब्द कहना और छेड़-छाड़ करना-जैसी आम शिकायतें आज सुनने को मिलती हैं। छात्रों के लिए यह कहां तक शोभास्पद है, यह वे स्वयं अच्छी तरह से समझ सकते हैं। मैं उनसे बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि वे इन दुष्प्रवृत्तियों से सलक्ष्य बचें। यह पतन का मार्ग है। वे भूलें नहीं कि छात्र-छात्राओं में तो परस्पर भाई-बहन का पवित्र संबंध है। इसकी उपेक्षा कर अनुचित व्यवहार करना बहुत भयंकर पाप है।

स्वस्थ समाज निर्माण के उद्देश्य से हमने अणुव्रत-आंदोलन के नाम से एक व्यापक अभियान चला रखा है। इस अभियान के माध्यम से हम समाज के छोटे-बड़े सभी वर्गों को उनमें व्याप्त बुराइयों व विकृतियों से मुक्त करना चाहते हैं। विद्यार्थी-वर्ग के लिए भी उसमें पांच संकल्प रखे गए हैं। वे संकल्प स्वीकार कर विद्यार्थी अपने जीवन को सही दिशा दे सकते हैं। वे पांच संकल्प निम्नांकित हैं—

१. मैं अवैधानिक तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयास नहीं करूंगा।
२. मैं तोड़-फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
३. मैं विवाहादि के प्रसंग में रुपए आदि लेने का ठहराव नहीं करूंगा।
४. मैं धूम्रपान व मद्यपान नहीं करूंगा।
५. मैं रेलादि से बिना टिकट यात्रा नहीं करूंगा।

मैं आशा करता हूं कि विद्यार्थी उपर्युक्त संकल्पों की उपयोगिता समझेंगे और इन्हें हृदय से स्वीकार करेंगे।

सैंथिया

१० फरवरी १९५९

२५ : धार्मिक शिक्षा का महत्त्व

आज का युग शिक्षण-प्रशिक्षण का युग है। उसकी उपयोगिता प्रमाणित और स्थापित हो चुकी है। जीवन का हर महत्त्वपूर्ण पक्ष शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ जोड़ा जा रहा है। हंसना, खेलना, खाना आदि विभिन्न क्रियाओं की वैज्ञानिक पद्धति खोजने का प्रयत्न हो रहा है, उसके शिक्षण-प्रशिक्षण की अपेक्षित व्यवस्था के संदर्भ में चिंतन किया जा रहा है। पर कैसी बात है कि धार्मिक शिक्षण, जो कि जीवन का मूल है, आज उपेक्षित है। इसी का यह दुष्परिणाम है कि जन-जीवन अनेक तरह की बुराइयों से ग्रस्त होता जा रहा है। यदि इस स्थिति से उबरना है तो जन-जीवन में धर्म के मौलिक सिद्धांतों का व्यापक प्रसार करना होगा, पर इस संदर्भ में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं। धार्मिक शिक्षा से मेरा आशय किसी संप्रदायविशेष की शिक्षा से नहीं है। मेरा आशय सत्य, अहिंसा, सदाचार, संयम-जैसे तत्त्वों के शिक्षण से है। ये ऐसे तत्व हैं, जिन्हें सभी लोग समान रूप से स्वीकार करते हैं। मैं मानता हूं, धार्मिक शिक्षा के रूप में इन तत्त्वों का जितना अधिक फैलाव होगा, समाज और राष्ट्र का उतना ही हित होगा।

संयम का मूल्य

मैं देख रहा हूं, आज विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता एवं उच्छृंखलता की वृत्ति व्यापक रूप में पनप रही है। यह धार्मिक शिक्षण के अभाव की ही एक दुष्परिणति है। शिक्षा में संयम का मूल्य स्थापित नहीं हो पाया है। संयम के अभाव में इस तरह की और भी अनेक विकृतियां पैदा होती हैं। यदि हमें समाज को स्वस्थ बनाना है तो शिक्षा में संयम का मूल्य स्थापित करना ही होगा। संयम ही वह तत्व है, जो वृत्तियां सुसंस्कृत बनाने में सक्षम है। अपेक्षा है, शिक्षा-क्षेत्र के नीति-निर्धारक लोग इस बिंदु पर अपना ध्यान केंद्रित करें। मैंने ऐसा सुना है

कि भारत-सरकार ने शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के समावेश पर विचार-विमर्श करने के लिए एक समिति गठित की है। यह प्रसन्नता की बात है, सही दिशा में चरणन्यास है, एक शुभ शुरुआत है।

सैथिया

१२ फरवरी १९५९

२६ : घर का वातावरण स्वस्थ बनाएं

अणुव्रत-आंदोलन स्वस्थ समाज निर्माण का संकल्प है। इसके लिए वह व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को संयम, सादगी और सदाचार से भावित करना चाहता है। व्यक्ति के जीवन-निर्माण में परिवार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। परिवार का वातावरण जितना शांत, सात्त्विक और अणुव्रत-भावना के अनुरूप होता है, व्यक्ति के तदनुरूप ढलने की उतनी ही अधिक संभावना रहती है। इसलिए घर के वातावरण की स्वस्थता के प्रति सदैव सजगता बरतने की अपेक्षा है। इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है कि घर-घर में प्रति पक्ष एक पारिवारिक गोष्ठी हो, जिसमें कि घर-परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्य अनिवार्य रूप से सम्मिलित हों। यहां तक कि नौकर, कर्मचारी आदि की भी उसमें अनुपस्थिति नहीं रहनी चाहिए। उस गोष्ठी में अणुव्रत-प्रार्थना का संगान, अणुव्रत-साहित्य का वाचन और अणुव्रत-दर्शन व अणुव्रत-भावना पर चिंतन-मनन व विचार-विमर्श हो। इसके साथ ही घर-परिवार का प्रत्येक सदस्य पक्ष-भर में ज्ञात-अज्ञात में हुई भूलों, अशिष्ट व्यवहार एवं कटुता के लिए दूसरे-दूसरे सदस्यों से क्षमायाचना करे। इसी क्रम में मालिक नौकर से तथा नौकर मालिक से क्षमा मांगे। इससे घर-परिवार का वातावरण अत्यंत सौजन्यपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण बनेगा, पारस्परिक तनाव, कटुता, कलह और संघर्ष की स्थितियां नहीं रहेंगी, परिवार के प्रत्येक के मन सदस्य में अणुव्रत-भावना का सफल संचार होगा।

घर-परिवार के स्तर से प्रारंभ कर यह क्रम आगे नगरव्यापी/नगर स्तरीय बनाया जा सकता है, ताकि पूरे नगर का वातावरण स्वस्थ बने, नगरवासियों में मैत्री, सद्भावना और शांति का विकास हो। देखने में यह उपक्रम सामान्य-सा लग सकता है, पर स्वस्थ समाज निर्माण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रभावी है। आशा करता हूं, लोग इस उपक्रम का पूरा-पूरा मूल्यांकन करेंगे।

सैथिया, १८ फरवरी १९५९

२७ : धर्म का सार्वजनीन रूप प्रकट हो

भारतीय संस्कृति के प्राण-तत्त्व

समाज में दो तरह के लोग होते हैं—आदर्श को जीनेवाले तथा आदर्श की दिशा में यथाशक्य गति करने का प्रयास करनेवाले। साधु-संत आदर्श को जीनेवाले होते हैं। वे महाव्रती होते हैं, सर्वत्यागी होते हैं, पूर्ण संयम के आराधक होते हैं। समाज में उनका सम्मान होता है, बहुमान होता है। गहराई से देखा जाए तो उनका यह सम्मान-बहुमान, त्याग और संयम का सम्मान-बहुमान है। त्याग और संयम भारतीय संस्कृति के प्राण-तत्त्व हैं। इन्हें इस संस्कृति में सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। धन को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। उसे मात्र जीवन चलाने का साधन माना गया है, साध्य नहीं, पर दुर्भाग्य से आज वही धन-वैभव साध्य बन रहा है। ऐसा लगता है कि लोग उसकी आराधना में ही जीवन की सार्थकता देखते हैं। और तो क्या, देवी-देवताओं और साधु-संतों की उपासना भी इसलिए की जाती है कि उससे धन-संपत्ति मिले, ऐश्वर्य मिले। कहना चाहिए कि उपासना साधना नहीं रही, स्वार्थ बन गई है। जो उपासना जीवन-शुद्धि के लिए होनी चाहिए, वह आज स्वार्थ-सिद्धि के लिए हो रही है। यह मानवीय दृष्टिकोण का बहुत बड़ा विपर्यास है। इस विपर्यास के कारण अनेक प्रकार की विकृतियां पैदा हुई हैं, मानव अधःपतन के गहरे गर्त की ओर बढ़ रहा है। यदि अधःपतन के गर्त में गिरने से बचना है तो उसे अपनी दिशा बदलनी होगी, दृष्टिकोण बदलना होगा। धन-वैभव की आराधना छोड़कर ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना में लगना होगा, आत्मा की आराधना में लगना होगा।

धर्म का मौलिक स्वरूप

धर्म क्या है? ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना का नाम ही तो धर्म है, आत्माराधना ही तो धर्म है। धर्म जीवन-शुद्धि का एकमात्र मार्ग है।

धर्म का सार्वजनीन स्वरूप प्रकट हो

● ६३ ●

वह जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय, भाषा आदि सभी प्रकार की संकीर्णताओं से सर्वथा मुक्त है। साधु-संत धर्म के जीवंत प्रतीक होते हैं, वे स्वयं धर्म की आराधना करते हैं और जन-जन को इसकी आराधना करने की प्रेरणा देते हैं, पर आज तो स्थिति कुछ दूसरी ही नजर आती है। साधु-संत धर्म के स्थान पर धन-संपत्ति के आराधक बन रहे हैं। उन पर सांप्रदायिकता प्रभावी हो रही है। वे जातिवाद, वर्णवाद-जैसे संकीर्ण तत्त्वों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इसकी दुष्परिणति यह है कि धर्म का मौलिक और व्यापक स्वरूप जनता के सामने नहीं आ पा रहा है। ऐसी स्थिति में आज एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जो सार्वजनीन हो, सभी लोग जिसका बिना किसी भेद-भाव और संकीर्ण सीमा के आचरण कर सकें। वह धर्म मानव-धर्म हो सकता है। अणुव्रत-आंदोलन अपने मौलिक स्वरूप में मानव-धर्म ही है। उसमें किसी कोटि की कोई संकीर्णता को बिलकुल स्थान नहीं है। जीवन-शुद्धि में विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति, भले वह किसी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय.....से संबद्ध क्यों न हो, उसके साथ जुड़ सकता है, उसकी आचार-संहिता स्वीकार कर अपने जीवन को सही दिशा दे सकता है।

बोलपुर

२१ फरवरी १९५९

२८ : मोक्ष पुरुषार्थसाध्य है

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहां की संस्कृति विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। दार्शनिक परंपरा की दृष्टि से यह बहुत समृद्ध है। यहां की भूमि पर अनेक ऋषि, तपस्वी और तत्त्व-द्रष्टा पैदा हुए हैं। उनका अपना एक गौरवशाली एवं प्रेरक इतिहास है, एक पूरी समर्थ परंपरा है। निर्बाध रूप से उनकी वह परंपरा चली आ रही है। उसी निर्बाध रूप से चल रही परंपरा का ही यह परिणाम है कि यहां कण-कण में अध्यात्म व्याप्त है, जन-जन में आध्यात्मिक स्फुरण है। और तो क्या, छोटे बच्चे भी अध्यात्म और दर्शन की चर्चा करने में अभिरुचि रखते हैं। एक बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक दार्शनिक परंपराओं के बावजूद यहां का जन-मानस मूलतः अनुदार नहीं रहा है। यही तो कारण है कि चार्वाक (नास्तिक दर्शन) को भी विभिन्न दर्शनों में एक दर्शन गिना गया है।

जैन-दर्शन भारतीय दर्शन-परंपरा में एक प्रमुख दर्शन है। यह अपने-आपमें एक पूर्ण दर्शन है। सांसारिक जीव के मोक्ष तक की यात्रा की विस्तृत एवं सांगोपांग चर्चा इस दर्शन में की गई है। इसके अनुसार अपना स्वरूप भूलकर विभाव में जाना दुःख है। विभाव से छूटकर स्वभाव में रमण करना चिरंतन और शाश्वत सुख है। दुःख से ऐकांतिक और आंत्यतिक उन्मुक्ति की स्थिति मोक्ष है। मोक्ष किसी की कृपा या अनुग्रह का फल नहीं है। वह तो आत्मा के अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से ही साध्य बनता है। जब तक प्राणी मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है। संसार में परिभ्रमण करानेवाले हैं—कर्म। कर्म का आगम-द्वार आश्रव कहलाता है। आश्रव के निरोध का नाम संवर है। इससे नए कर्मों का आगमन रुक जाता है। पूर्व संचित कर्मों के अपाकरण को निर्जरा कहा जाता है। संसार-परिभ्रमण का हेतु एवं उससे छूटकर मोक्ष तक पहुंचने की यह पूरी प्रक्रिया गहराई से समझना अपेक्षित है, ताकि उस दिशा में गति की जा सके। शांति-निकेतन, २२ फरवरी १९५९

मोक्ष पुरुषार्थसाध्य है

• ६५ •

२९ : वर्धमान महावीर के उपदेशों की व्यापकता

आज हम भगवान वर्धमान महावीर के नाम से प्रख्यात वर्धमान नगर में आए हैं। पहले हम इसका नाम सुनते थे। इच्छा भी थी, कभी यहां आऊं, पर आज से पहले कभी यह संभव नहीं हो पाया। आज यह प्रसंग बना है, इसकी मुझे प्रसन्नता है। पर कैसी बात है कि जिस भूमि को भगवान वर्धमान ने अपना विहार-क्षेत्र बनाया, जहां अपनी अमृतवाणी की वर्षा की, आज वहां के लोग उनके उपदेशों से अपरिचित-से लगते हैं! पर इसका दोष भी किसे दें! भगवान वर्धमान के शिष्य साधु-संतों का लंबे अरसे से यह विहार-क्षेत्र नहीं रहा। इसलिए उनका यहां आना नहीं हुआ; और साधु-संतों के बिना धर्म का व्यवस्थित प्रचार संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में यहां की जनता का भगवान वर्धमान के उपदेशों से अपरिचित-सा होना अस्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता।

महावीर का उपदेश प्राणिमात्र के लिए है

भगवान वर्धमान ने जो मार्ग बताया, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यापक है। वह किसी जाति, वर्ण, वर्ग और संप्रदायविशेष के लिए नहीं है, केवल मानव के लिए भी नहीं है, अपितु प्राणिमात्र के लिए है। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—**चरत भिक्खवे बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**। लेकिन भगवान वर्धमान ने तो **सव्वजीव-रक्खणद्वाए**—सभी प्राणियों के हित के लिए उपदेश दिया। उन्होंने कहा—‘किसी को मत सताओ, किसी को दुःख मत दो, किसी का प्राण-वियोजन मत करो’..... प्रत्येक प्राणी को आत्मवत समझो।’ एक शब्द में कहें तो उन्होंने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया।

अहिंसा का व्यापक रूप

यों अहिंसा का उपदेश सभी महापुरुषों ने दिया है। संसार के समस्त धर्म अहिंसा को अपनाने की बात कहते हैं, परंतु दूसरे-दूसरे लोग

जहां कायिक हिंसा से बचने की बात कहते हैं, वहां वर्धमान महावीर की अहिंसा वाचिक और मानसिक स्तर तक जाती है। किसी के प्राण-वियोजन की तरह ही जबान से अपशब्द बोलना, अश्लील शब्द कहना आदि प्रवृत्तियां भी हिंसा की कोटि में समाविष्ट हैं। मन से दूसरों का बुरा चिंतन करना भी हिंसा ही है। आप यह बात समझें कि हिंसा मात्र अस्त्र-शस्त्र से ही नहीं होती, उसके दूसरे-दूसरे भी अनगिनत प्रकार हैं। व्यापारियों का अस्त्र-शस्त्र से भला क्या काम? पर मैं देखता हूं कि बहुत-से व्यापारियों की कलम ही छुरी का काम करती है। अनपढ़ गरीब आदमी को सौ रूपए देकर हजार लिख देना, क्या उसके गले पर छुरी फेरना नहीं है? क्या हिंसा नहीं है? राजनीतिक चुनावों के समय मतों की खरीद-फरोख्त चलती है। क्या इसे हिंसा नहीं मानेंगे? जननेता अपने सेवाव्रत की अनदेखी कर स्वार्थसिद्धि में जुट जाते हैं, रिश्वत लेते हैं। यह हिंसा नहीं तो और क्या है? सार-संक्षेप यह कि वर्धमान महावीर ने व्यक्ति की दुष्प्रवृत्तिमात्र को हिंसा माना है और उससे बचने का उपदेश और प्रेरणा दी है।

पंडित कौन

लोग पुस्तकीय ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति को पंडित मानते हैं, पर जानाजनों की दृष्टि में पंडित वह है, जो हिंसा, असत्य आदि से उपरत है। जो परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, वे भले कितने ही बड़े-बड़े ग्रंथ क्यों न पढ़ लें, वे सही अर्थ में पंडित नहीं हैं। वैज्ञानिकों का ज्ञान भी बहुत समृद्ध होता है, किंतु जब वे लड़ने-लड़ाने के काम में लगे हैं, तब पंडित कहां? मुझे उन लोगों की समझ पर बड़ा तरस आता है, जो एक तरफ तो अणुबम, उद्जनबम आदि के निर्माण-जैसी विध्वंसकारी प्रवृत्ति में संलग्न हैं और दूसरी तरफ धर्मस्थानों में जाकर शांति के लिए लंबी-लंबी प्रार्थनाएं करते हैं।

शांति का उपाय

अणुबम, उद्जनबम एवं घातक हथियारों का निर्माण क्यों किया जाता है? उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। सत्तालिप्सु लोग दूसरों के राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं, संसार को अपने अधिकार में करना चाहते हैं, पर इस सत्तालिप्सा एवं अंधी महत्त्वाकांक्षा के कारण वे यह नहीं सोचते कि इनके प्रयोग का परिणाम कितना भयावह आएगा।

वर्तमान के विध्वंस की तो बात ही क्या, सुदूर भविष्य तक उसके दुष्परिणाम भोगने पड़ेंगे। कई पीढ़ियों तक उसका असर रहेगा। लोगों को नाना प्रकार की व्याधियों, अंगहीनता आदि के रूप में उसका त्रास झेलने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। बड़े मजे की बात यह है कि वे अपनी सत्तालिप्सा या राज्याकांक्षा पर परदा डालते हुए उद्घोषणा यह करते हैं कि हम अस्त्र-शस्त्र तथा अणुबम व उद्जनबम शांति के लिए निर्मित कर रहे हैं! मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि यदि वास्तव में ही उनके मन में शांति की अभीप्सा है तो वे अहिंसा के राजमार्ग पर आएँ। शस्त्रास्त्र शांति के साधन नहीं हैं, वे तो शांति को दूर से दूर करनेवाले हैं, परोक्ष रूप से हिंसा और युद्ध को ही निमंत्रण देनेवाले हैं। दो महायुद्धों का परिणाम संसार देख चुका है। यह बात बहुत स्पष्ट हो चुकी है कि हिंसा और युद्ध किसी समस्या के स्थायी समाधान नहीं है। मनुष्य-जाति को यदि सुख से जीना है तो उसे हिंसा और युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करना होगा, सह-अस्तित्व और मैत्री की बातें अपनाती होंगी। ध्यान रहे, अनाक्रमण, सह-अस्तित्व और मैत्री अहिंसा के ही अंग-प्रत्यंग हैं।

भारतवर्ष सदा से अहिंसा का समर्थक रहा है। आज भी वह अनाक्रमण का सिद्धांत मान्य कर चलता है। पं. नेहरू द्वारा प्रचारित 'पंचशील' में भी एक शील है—'परस्पर अनाक्रमण का आवश्वासन।' यह अनाक्रमण की बात, जैसा कि मैंने अभी कहा, अहिंसा का ही हिस्सा है, उसकी ही प्रतिध्वनि है। इसलिए संसार विश्व-शांति के लिए भारत की ओर आशा-भरी नजर से देख रहा है।

भारत की वर्तमान स्थिति

दूसरी ओर भारत की आंतरिक स्थिति अच्छी नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि चिंताजनक है। राष्ट्रीय चरित्र में असामान्य गिरावट आई है। स्वार्थ-साधना जोरों-से चल रही है। कर्तव्य-बुद्धि का हास हो रहा है। राजनीति का क्षेत्र भ्रष्टाचार का क्षेत्र बनता जा रहा है। ऐसी-सी ही स्थिति व्यापार-क्षेत्र की है। गंभीर स्थिति यह है कि लोगों का राष्ट्र की प्रतिष्ठा की ओर कोई ध्यान नहीं है। उनका ध्यान अपनी हानि और लाभ पर है, अपना घर भरने पर है।

महावीर के संदेश की प्रासंगिकता

इस स्थिति से उबरने के लिए नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी। सदाचार को महत्त्व देना होगा। माना कि राष्ट्र के सभी लोग वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध नहीं हो सकते, पर सच्चे मानव तो बन ही सकते हैं। यदि मानव ही नहीं बने तो क्या अगली पीढ़ी हंसेगी नहीं? आप कहेंगे कि मानव तो सभी हैं ही, फिर मानव बनने से क्या तात्पर्य। तात्पर्य बहुत स्पष्ट ही है। जीवन में मानवता का समावेश होना अपेक्षित है। मानवता के बिना तो व्यक्ति केवल आकार का मानव है। ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्धमान महावीर ने जन-जन को मानवता का पाठ पढ़ाया था, मानवता का संदेश सुनाया था। यों तो उसकी प्रासंगिकता कभी समाप्त हुई ही नहीं, पर वर्तमान की परिस्थितियों में तो वह बहुत बढ़ गई है। अपेक्षा है, उनका वह संदेश आप समझें और उसे जीवन में उतारें।

वर्धमान

२७ फरवरी १९५९

३० : धार्मिक कौन

व्यक्ति का धार्मिक होना अपने-आपमें बहुत गौरव की बात है, पर मात्र पूजा-उपासना करने से वह धार्मिक नहीं बन जाता। उसके लिए आचरण की शुद्धि जरूरी है, बल्कि पूजा-उपासना से कहीं ज्यादा जरूरी है। इससे भी आगे मैं तो यहां तक कहता हूं कि कोई पूजा-उपासना नहीं भी करता है, पर अपने आचरण को शुद्ध बना लेता है तो वह धार्मिक ही है। मेरी दृष्टि में धार्मिकता की मूल कसौटी आचार-शुद्धि है। पूजा-उपासना तो गौण बात है। वह आचार-शुद्धि के साथ ही उपयोगी बनती है। प्रकारांतर से ऐसा भी कहा जा सकता है कि पूजा-उपासना वही उपयोगी और महत्वपूर्ण है, जो व्यक्ति के लिए आचार-शुद्धि की प्रेरणा बने। जो लोग मात्र पूजा-उपासना के आधार पर अपने-आपको धार्मिक मानते हैं, उन्हें जब मैं कुकृत्यों में फंसा हुआ देखता हूं, तब मेरे मन में बड़ा खेद होता है। वे लोग स्वयं के साथ तो धोखा करते ही हैं, धर्म के साथ भी प्रतारणा करते हैं, उसे भी बदनाम करते हैं। अपने-आपको जैन कहनेवाला यदि कालाबाजारी करता है तो वह कैसा जैन! वैष्णव कहलानेवाला यदि ग्राहकों के साथ धोखा करता है, व्यापार के नाम पर ठगाई और चोरबाजारी चलाता है तो वह कैसा वैष्णव! इसी प्रकार वासना में फंसा रहनेवाला अपने-आपको सिक्ख कहे, क्रूर कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति अपने-आपको मुसलमान कहे, क्या यह एक प्रकार की विडंबना नहीं है? व्यक्ति जैन, वैष्णव, सिक्ख, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई.....कुछ भी बनने और कहलाने से पहले सदाचारी बने, अपना व्यवहार सही बनाए, यह नितांत अपेक्षित है। तभी वह सच्चा धार्मिक है, तभी व सच्चा जैन, वैष्णव या सिक्ख कहलाने का अधिकारी है, तभी वह मुसलमान, बौद्ध या ईसाई कहलाने का वास्तविक हकदार है।

मानवता की सुरक्षा हो

आज के युग की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि मानवता पर संकट

के बादल मंडराए हुए हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, सृष्टि, प्रलय आदि की गंभीर दार्शनिक चर्चा एक बार छोड़कर मानव-मानव इस बात पर चिंतन करे, आत्मालोचन करे कि मैं वास्तव में मानव हूं या नहीं। निश्चय में मानव वही है, जिसमें मानवता की गुणात्मकता सुरक्षित हो; सत्य, शील, संतोष अहिंसा-जैसे मानवोचित गुण विद्यमान हो। मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि मानव-समाज में मानवोचित गुणों का तेजी से ह्रास हो रहा है। उसी की यह दुष्परिणति है कि चारों ओर भ्रष्टाचार, अनैतिकता का बोलबाला हो रहा है। यदि इस स्थिति से उबरना है तो हमें मानवोचित गुणों का ह्रास रोकना होगा, जन-जन में मानवता की प्रतिष्ठा करनी होगी। अणुव्रत-आंदोलन मानवता का आंदोलन है। यह मानवोचित गुणों के विकास के द्वारा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि विकृतियां दूर करना चाहता है। इसकी बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी धर्मविशेष को महत्त्व नहीं दिया गया है, बल्कि सभी धर्मों के मौलिक आदर्श सम्मिलित किए गए हैं। यही कारण है कि किसी धर्म से संबद्ध व्यक्ति को इसके साथ जुड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। आप लोग भी इसकी आचार-संहिता संकल्पपूर्वक स्वीकार करें। इससे आपकी मानवता सुरक्षित हो सकेगी, आप मानव कहलाने के सच्चे अधिकारी बन सकेंगे, आपका जीवन सहज धार्मिक बन सकेगा।

वर्धमान

२ मार्च १९५९

३१ : कर्तव्य-पालन के प्रति सजग बनें

मेरी चिंता

राष्ट्र की वर्तमान स्थिति देखकर नेतृ-वर्ग चिंतित है। उसकी चिंता का कारण यह है कि राष्ट्र की आबादी जिस तेजी के साथ बढ़ रही है, उस अनुपात में खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो रही है। वह चाहता है कि जैसे-तैसे आबादी का बढ़ना रुके। मेरी चिंता यह है कि मानव तो बढ़ रहे हैं, पर मानवता नहीं बढ़ रही है, बल्कि घट रही है। मानवता का हास कैसे रुके, उसका विकास कैसे हो, इस बिंदु पर सभी को गंभीरता से चिंतन करना चाहिए।

कर्तव्य-बोध जागे

मेरी दृष्टि में इस समस्या का समाधान यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति में कर्तव्य-बोध जागे और वह उसके पालन के प्रति सजग बने। जब तक यह स्थिति नहीं बनती, तब तक उसके उन्मार्ग में पड़ने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। एक भाई अपनी जीवन-कथा सुना रहा था। उसने बताया—'मैं पाकिस्तान में काम करता हूँ। मुझे पचहत्तर रुपए मासिक वेतन मिलता है। मेरे आठ बच्चे हैं। दो हम पति-पत्नी हैं। एक बड़ा भाई है। वह अचक्षु है। समस्या यह है कि मैं एक कमाता हूँ और ग्यारह प्राणी खानेवाले हैं। इतनी कम आय से घर का खर्च चलता नहीं। जीवन में रिश्वत कभी मैंने ली नहीं। सोचा कि यदि थोड़ी-बहुत रिश्वत ले भी लूंगा तो भी मुसीबत तो समाप्त होगी नहीं, वह तो वैसे ही बनी रहेगी, फिर अपनी मानवता क्यों बेचूँ, पर इस स्थायी मुसीबत से घबराकर कभी-कभी आत्म-हत्या करने का विचार मन में अवश्य आता है।' उसे सुनकर मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि कठिन परिस्थिति से घिरा होने के बावजूद इसके मन में मानवता के प्रति सम्मान की भावना है। जैसे-तैसे भी यह उसकी सुरक्षा करना चाहता है। इस बात

की भी कम प्रसन्नता नहीं हुई कि इसने आत्म-हत्या के विचार की अपनी कमजोरी भी ऋजुता के साथ यथारूप बता दी। मैंने उसे समझाया—‘आत्महत्या करना कमजोरी है, भयंकर पाप है। यह किसी समस्या का समाधान नहीं है। फिर समस्या और मुसीबत किसके समक्ष नहीं आती? पाप के पीछे पुण्य का और पुण्य के पीछे पाप का चक्र चलता रहता है। जब कोई स्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है, तब समझना चाहिए कि उसका अवसान दूर नहीं है। इसलिए सन्मार्ग पर चलनेवाले को कभी घबराना नहीं चाहिए, अपना मन अधीर और कमजोर नहीं बनाना चाहिए। कर्तव्य से च्युत होकर गलत निर्णय नहीं करना चाहिए।’

यह कर्तव्य-पालन की बात किसी व्यक्तिविशेष के लिए नहीं, अपितु सभी के लिए महत्वपूर्ण और आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में हर व्यक्ति अपना आत्म-निरीक्षण करे, अपने-आपको टटोले कि मैं अपने कर्तव्य-पालन के प्रति कितना सजग हूं। मैं समझता हूं कि यदि व्यापक रूप में यह वृत्ति पनप जाए तो बहुत-सी समस्याएं पैदा ही न हों। मेरे समक्ष बड़ी संख्या में मिल-मजदूर बैठे हैं। यदि मिलमालिक और मजदूर दोनों ही अपने-अपने कर्तव्य का ध्यान रखें तो परस्पर संघर्ष की स्थिति क्यों बने? पर कठिनाई यह है कि मिलमालिक तो चाहते हैं कि मजदूर लोग काम ज्यादा करें और दाम कम लगे तथा मजदूर लोगों की वृत्ति यह है कि काम कम करना पड़े और दाम अधिक मिले। जब लोगों की मनोवृत्ति बिगड़ जाती है, नीयत खराब हो जाती है तो उसका परिणाम भी वैसा ही आता है।

नीयत के अनुरूप परिणाम

सेठ ने भवन बनाने का निर्णय किया। काम शुरू हो गया। नींव खोदी जाने लगी। सहसा नींव खोदनेवाले मजदूर को जमीन में एक कलश प्राप्त हुआ। उसने साश्चर्य उसे देखा। वह गिन्नियों से भरा था। उसने सोचा कि यह पराया धन है। मैं इसे नहीं ले सकता। उसने तत्काल कारीगर को सूचित किया। कारीगर बोला—‘यह धन सेठ की जमीन से निकला है, इसलिए इस पर उसी का अधिकार है। मुझसे इसका कोई संबंध नहीं।’ सेठ को सूचित किया गया तो वह बोला—‘ठीक है, जमीन मेरी है, पर इस जमीन के वास्तविक मालिक तो राजाजी हैं।’

इसलिए यह धन उन्हीं का है। मैं इसे नहीं ले सकता।' राजा को खबर की गई। सुनकर राजा बोला—'धरती पर मेरा स्वामित्व है, पर धरती में गड़े धन पर मेरा स्वामित्व नहीं। अतः मैं यह धन नहीं ले सकता।'

कैसी विचित्र बात कि चारों में से कोई भी वह धन लेने के लिए तैयार नहीं हुआ! अतः निर्णय हुआ कि धरती का धन पुनः धरती को ही समर्पित कर दिया जाना चाहिए; और इस निर्णय के साथ ही गिन्नियों से भरा वह कलश पुनः धरती में गाड़ दिया गया।

कहा जाता है कि वह सतयुग का अंतिम दिन था। अगले दिन से कलियुग प्रारंभ हो रहा था। काल-प्रभाव भी एक तत्त्व है। प्रातः सूर्योदय के साथ ही चारों व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन आना शुरू हो गया। राजा ने सोचा कि मैंने बहुत बड़ी गलती की। सहज रूप में प्राप्त हो रही इतनी विशाल धन-राशि छोड़ दी। खैर, कोई बात नहीं, कल प्रातः जाकर वह धन-राशि प्राप्त कर लूंगा। सेठ के मन में विचार आया कि मैं भी कैसा नासमझ हूँ, जिसने द्वार पर आई लक्ष्मी को घर में प्रवेश करने से मना कर दिया। यदि कल मैं वह धन ले लेता तो आज बहुत धनाढ्य व्यक्ति होता। चलो, हुआ सो तो हुआ, पर अब मैं अवसर नहीं खोऊंगा। कल प्रातः जाकर वह सारा धन अपने कब्जे में कर लूंगा। कारीगर के दिमाग में चिंतन चला कि मैंने कितनी बड़ी भूल कर दी! मुझे इतना धन मिल रहा था, जितना शायद मैं उम्र-भर काम करके भी नहीं प्राप्त कर सकूंगा। मैंने व्यर्थ में ही ऐसा सुंदर अवसर खो दिया, पर अब भूल नहीं करूंगा। कल प्रातः ही गाड़े गए स्थान से कलश निकालकर सारा धन हस्तगत कर लूंगा। मजदूर ने भी विचारा कि मुझ-जैसा बुद्धिहीन व्यक्ति संसार में दूसरा कोई नहीं हो सकता। अनायास ही मुझे इतना धन प्राप्त हुआ था कि जिससे सदा-सदा के लिए मुझे इस कठिन मजदूरी से छुटकारा मिल जाता, बल्कि मेरी कई पीढ़ियों तक भी वह नहीं खूटता, पर मैंने उसे लिया नहीं।.....अब भी मुझे अपनी भूल सुधारनी चाहिए। कल प्रातः ही जाकर उसे ले लेना चाहिए।

कैसा संयोग कि दूसरे दिन प्रातः चारों ही व्यक्ति वह धन लेने के लिए एक ही समय उस स्थान पर पहुंचे, जहां पर कि वह गाड़ा गया था। पर आश्चर्य, जमीन खोदकर वह कलश संभाला गया तो उसके भीतर भरी सारी गिन्नियां कंकरों में रूपांतरित हुई मिलीं।

आप लोग यह बात समझें कि नीयत का शुद्ध रहना कितना महत्वपूर्ण है। नीयत बिगड़ी कि स्थितियां बदलते वक्त नहीं लगता। अनुकूलताएं प्रतिकूलताओं में ढल जाती हैं। अपनी शुद्ध नीयत से यदि आय कम भी होती है तो चिंता की बात नहीं। नीयत बिगाड़कर यदि आपने अधिक भी अर्जन कर लिया तो वह आपके लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा, बल्कि वह प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से कोई-न-कोई विकृति पैदा करेगा, आपके लिए नुकसानदेह सिद्ध होगा।

बड़ा कौन

मजदूर लोगों को एक बात गंभीरता से समझ लेने की है। जब तक उनकी जीवन-शैली परिष्कृत नहीं बनेगी, उनकी समस्याओं का अंत नहीं आएगा। मैं पूछता हूँ कि सुबह से शाम तक श्रम करनेवाला मजदूर भूखा क्यों। उत्तर स्पष्ट ही है। अधिकतर मजदूर शराब पीते हैं। कैसी बात है कि खाने को रोटी भले न मिले, पर शराब की बोतल तो चाहिए! मैं मानता हूँ, रोटी शरीर के लिए आवश्यक है। उसके बिना काम नहीं चलता, पर क्या शराब भी आवश्यक है? क्या उसके बिना भी काम नहीं चलता? मैं नहीं समझता कि जब मजदूर लोग अपने गाढ़े पसीने की कमाई का एक बड़ा हिस्सा शराब में खो देते हैं, तब उनकी गरीबी कैसे मिटे। फिर धूम्रपान, सिनेमा देखना, जुआ खेलना आदि प्रवृत्तियां भी तो व्यापक रूप में चलती हैं। ये भी उन्हें ऊपर न उठने देने में कम कारण नहीं हैं। मैं श्रमिकों से कहना चाहता हूँ कि धन का आकर्षण छोड़कर इन दुर्व्यसनों से छूटने के लिए कृतसंकल्प बनें। आप लोग पूंजीपति को बड़ा क्यों मानते हैं? यह मूल्य ही गलत है। जब तक बड़प्पन का मापदंड सही नहीं बनेगा, तब तक जीवन की दिशा सही नहीं बन सकेगी। आशा है, आप लोग अपनी दृष्टि बदलेंगे और जीवन को सही ढांचे में ढालने का प्रयत्न करेंगे।

श्रीरामपुर

५ मार्च १९५९

३२ : अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप

यात्रा का उद्देश्य

आज हम कलकत्ते के सन्निकट पहुंच गए हैं। कई लोगों ने पूछा—‘आपकी पदयात्रा का हेतु क्या है?’ मैंने कहा—‘यों तो हमारी यात्रा अहेतुक है। संन्यास का पालन करना हमारा लक्ष्य है। उसके लिए अहिंसा आदि व्रत निभाना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से पदयात्रा जरूरी है। यान-वाहन से यात्रा करने से यह व्रत पूर्णतया निभता नहीं। ऐसी स्थिति में संन्यास का पालन भी सम्यक रूप से नहीं होता, पर दूसरी अपेक्षा से यह सहेतुक भी है। हेतु क्या है? हेतु यह कि संन्यास-साधना के आधार पर हमने जो-कुछ पाया है, पा रहे हैं, उससे जन-जन को परिचित करवाना, उसे जनता में बांटना।’

पूर्वाचार्यों के पुण्य-प्रताप का फल

तेरापंथ संघ का प्रारंभ हुए दो सौ वर्ष हो रहे हैं। इस अवधि में मुझसे पूर्व आठ आचार्य हो चुके हैं, पर किसी पूर्वाचार्य ने इतनी लंबी यात्रा नहीं की। सबने अनुग्रह कर यह अवसर मुझे ही प्रदान किया है। कुछ लोग कहते हैं—‘यह तो आपका ही पुण्य-प्रताप है।’ पर मेरी दृष्टि में यह सही नहीं है। आठों पूर्वाचार्यों की साधना का सार मेरे पास है। उस धन से मैं धनी हूं। बेटा पिता की कमाई का उपयोग करे और उसे अपनी समझे—यह अनुचित है। यह गर्व उसकी अवनति का लक्षण और कारण है। मैं ऐसा गर्व नहीं करता। मेरे पास जो-कुछ है, वह सब पूर्वाचार्यों का ही है। मैं जो-कुछ हूं, वह भी उन्हीं की बदौलत हूं और जो कुछ करता हूं, वह उन्हीं के आलोक में करता हूं। यह प्रलंब यात्रा भी उन्हीं के पुण्य-प्रताप का फल है। मैं तो उनकी कृपा से निमित्त मात्र हूं।

संकीर्णता दृष्टि में होती है

मेरा रूप एक प्रकार का है और क्रिया-कलाप दूसरे प्रकार का। वेशभूषा जैन-मुनि की है और कार्यशैली असांप्रदायिक, पर मेरे लिए यह कोई समस्या नहीं है। जैन-तत्त्वों की साधना करने मात्र से संकीर्णता नहीं आ जाती। संकीर्णता तो दृष्टि में होती है। अहिंसा, सत्य आदि जिन तत्त्वों की साधना मैं करता हूँ, वे जैन-धर्म से संबद्ध अवश्य हैं, पर संकीर्ण नहीं हैं। वे तो सर्वथा व्यापक तत्त्व हैं। सभी धर्म उन्हें किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। शब्दांतर से कहूँ तो वे जन-तत्त्व हैं, सार्वजनीन तत्त्व हैं। सभी जाति, वर्ग, संप्रदाय के लोग उनकी साधना कर सकते हैं। आप भी उन्हें जन-तत्त्वों के रूप में पहचानें। आपको कहीं कोई संकीर्णता नजर नहीं आएगी। वैसे मुझे जैन नाम से कोई व्यामोह नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले जैन नाम था ही नहीं। प्राचीनकाल में जैन-धर्म को निगमंथं पवयणं—निगमंथं प्रवचन कहा जाता था। नाम तो समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। मूल बात है—तत्त्वों की। वे तत्त्व शाश्वत हैं, व्यापक हैं। अहिंसा, सत्य आदि उन तत्त्वों को मैं यदि जैन नाम से भी कहूँ तो मुझे उसमें कोई संकीर्णता नहीं लगती, क्योंकि मेरी दृष्टि संकीर्ण नहीं है। मैं व्यापक और असांप्रदायिक दृष्टिकोण से कार्य कर रहा हूँ।

अणुव्रत-आंदोलन असांप्रदायिक है

पिछले एक दशक से मैं अणुव्रत-आंदोलन का कार्यक्रम चला रहा हूँ। यह कार्यक्रम केवल जैन लोगों के लिए नहीं है, बल्कि मानव-मात्र के लिए है। किसी संप्रदाय, जाति, वर्ण, वर्ग और देश का व्यक्ति इसकी आचार-संहिता स्वीकार कर अणुव्रती बन सकता है। यह सर्वथा असांप्रदायिक एवं व्यापक कार्यक्रम है। कल ही गौरीनाथजी शास्त्री कह रहे थे—‘अणुव्रत-आंदोलन अपने-आपमें अंतरराष्ट्रीय कार्यक्रम है। किसी देश का वासी यह नहीं कह सकता कि इसकी आवश्यकता नहीं है। अलबत्ता इसकी आचार-संहिता का कोई नियम किसी राष्ट्र की स्थानीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अत्यावश्यक है तो दूसरे राष्ट्र की स्थानीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में कम आवश्यक, परंतु आचार-संहिता की आवश्यकता और उपयोगिता सभी के लिए असंदिग्ध रूप में है। वैसे प्रचार के स्तर पर यह अंतरराष्ट्रीय बन ही चुका है। अब अपेक्षा है, इसे

व्यावहारिक स्तर पर भी अंतरराष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया जाए।' मैंने उनसे कहा—'अंतरराष्ट्रीय शब्द के मोह में हमें नहीं जाना चाहिए। हम तो सतत अपना कार्य करते रहें। यदि इस कार्यक्रम में शक्ति है, इसकी व्यापक उपयोगिता है तो यह अंतरराष्ट्रीय स्वयं बन जाएगा। हमें इसके लिए अलग से प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है। वैसे इन दस वर्षों में सभी वर्गों के लोग इसके साथ जुड़े हैं। हमारा लक्ष्य भी है कि हम सभी वर्गों, संप्रदायों के लोगों को इसके साथ जोड़ें। मेरी दृष्टि में इसका सार्वजनीन रूप प्रतिष्ठित हो चुका है।'

इस आंदोलन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह केवल जैन-धर्म का आंदोलन नहीं है, बल्कि सभी धर्मों का आंदोलन है। दूसरे शब्दों में यह सभी धर्मों का नवनीत है। इसलिए आत्मशुद्धि या जीवन-शुद्धि में विश्वास करनेवाले सभी लोगों को मैं आह्वान करता हूँ कि वे व्यापक दृष्टिकोण से यह कार्यक्रम अपनाएं और अणुब्रती बनें। यह उनके स्वयं के लिए तो वरदायी बनेगा ही, मानवता की भी बहुत बड़ी सेवा होगी।

वाली (उत्तर पाड़ा)

६ मार्च १९५९

३३ : विद्याध्ययन क्यों

विद्यार्थी-वर्ग मेरा अत्यंत रुचिकर कार्यक्षेत्र है। छात्र-छात्राओं की परिषद में अपने विचार व्यक्त करने में मुझे सहज प्रसन्नता की अनुभूति होती है। बंगाल प्रांत में प्रवेश करने के पश्चात कॉलेज के छात्र-छात्राओं के बीच बोलने का आज यह प्रथम ही अवसर उपस्थित हुआ है।

शिक्षा का महत्त्व

विद्यार्थी यह बात समझें कि शिक्षा जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। भगवान महावीर ने रूपक की भाषा में कहा कि जैसे सूत्र में पिरोई हुई सूई खोती नहीं, उसी प्रकार सूत्र अर्थात् सत्शिक्षा में पिरोया हुआ जीवन संसार में ध्वस्त नहीं होता। इस एक बात से ही विद्यार्थी जीवन में शिक्षा का महत्त्व अच्छी तरह से समझ सकते हैं। समझने का फलित यह होना चाहिए कि वे शिक्षा की प्राप्ति के लिए सर्वात्मना समर्पित हो जाएं।

कैसा हो विद्यार्थी का जीवन

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं। अर्थात् विद्यार्थी को गुरु की सन्निधि में निवास करना चाहिए तथा तपमय एवं संयममय जीवन व्यतीत करना चाहिए। गुरु-सन्निधि का बड़ा महत्त्व है। उनके पास रहकर जो ज्ञान हासिल किया जा सकता है, वह पुस्तकों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। उनका जीवन, जीवन का हर व्यवहार और आचारण अपने-आपमें एक सक्रिय प्रशिक्षण होता है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी वर्षों तक गुरुकुल में गुरु-सन्निधि में रहकर विद्याभ्यास करते थे। गुरुकुल के गुरु तपस्या का जीवन जीते थे, संयममय जीवन जीते थे। इसलिए विद्यार्थियों को भी उनके जीवन से वैसी ही प्रेरणा मिलती थी। परिणामतः वे भी तप-संयममय जीवन व्यतीत करते, योगी का जीवन जीते। इंद्रिय-निग्रह, वाक्संयम, खाद्य-संयम,

दृष्टि-संयम आदि की साधना अत्यंत सजगतापूर्वक करते, पर आज कहां है यह संयम की साधना? जहां सह-शिक्षा चलती है, वहां यदि दृष्टि-संयम की साधना नहीं होती है तो अनेक प्रकार की विकृतियां पैदा होने लगती हैं। **मातृवत् परदारेषु** का आदर्श निभता नहीं, खंडित हो जाता है। प्राचीन समय में यदि कोई विद्यार्थी दृष्टि-संयम की साधना से स्खलित होकर किसी को विकार-दृष्टि से देख लेता तो अपने इस प्रमाद का प्रायश्चित्त करता।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैन-रामायण में एक घटना-प्रसंग आता है। राजा के दो कुमारों ने गुरुकुल में बारह वर्षों तक गहन अध्ययन किया। अध्ययन की संपन्नता के पश्चात परीक्षा हुई। परीक्षा में वे पूर्ण उत्तीर्ण हुए। गुरुकुल के कुलपति स्वयं उन्हें लेकर राजधानी पहुंचे। राजधानी में दोनों राजकुमारों का भव्य स्वागत हुआ। जब वे कुलपति के साथ राजसभा में प्रविष्ट हो रहे थे, तभी सहसा उन दोनों की दृष्टि राजभवन के एक झरोखे पर गई। झरोखे में एक कन्या खड़ी थी। पहली बार में ही दोनों राजकुमार उसके रूप-लावण्य पर मोहित हो गए। मन में विकार भावना पैदा हो गई। दोनों उसे पाने के लिए लालायित हो उठे।

राजसभा में पहुंचकर दोनों राजकुमारों ने राजा के पैर छुए। राजा अपने लाडलों का खिलता व्यक्तित्व देख अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने राजकुमारों की परीक्षा के लिए कुछ प्रश्न किए। दोनों कुमारों ने समुचित उत्तर देकर राजा को पूर्ण संतुष्ट किया। राजा ने कुलपति को पुरस्कृत कर ससम्मान विदा किया।

राजसभा से चलकर दोनों राजकुमार महल में आए और उन्होंने माता को प्रणाम किया। रानी का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

तभी वह कन्या भी वहां पहुंच गई। उसे देखते ही दोनों राजकुमारों ने अधीरतापूर्वक रानी से पूछा—‘मां! यह कौन है?’ रानी बोली—‘यह तुम्हारी ही तो छोटी बहिन है। इसे भी नहीं पहचानते? पर पहचानो भी तो कैसे! जब तुम गुरुकुल गए थे, तब यह मात्र पांच वर्ष की थी। अब यह सतरह वर्ष की हो चुकी है। इस अवधि में इसकी कद-काठी में बहुत बदलाव आ गया है।’

सुनकर दोनों राजकुमार भाइयों का मन अनुताप से भर गया।

उनके मन में आया—बारह वर्षों तक हमने अक्षर-ज्ञान पढ़ा, पर जीवन कढ़ा नहीं। अब तक विद्याध्ययन का भार ढोया है, उसका वास्तविक फल नहीं पाया, जीवन सुसंस्कारी नहीं बना। धिक्कार है हमारे अध्ययन को!.....अनुताप की भावधारा में बहते हुए उन्होंने अपने इस प्रमाद का प्रायश्चित्त करने का चिंतन किया और बहुत जल्दी ही वे एक निश्चय तक पहुंच गए। उन्होंने संकल्प किया—इस प्रमाद के प्रायश्चित्तस्वरूप हम दोनों आजीवन अविवाहित रहेंगे।

अपने निश्चय और मानसिक संकल्प से उन्होंने माता-पिता को अवगत करवाया। उन्होंने विचार-परिवर्तित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हुए। ज्यादा दबाव डाला तो दोनों भाई बोले—‘सगी बहिन पर विकार-दृष्टि करके हमने भयंकर पाप किया है। इस पाप का इससे छोटा कोई प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। इस प्रायश्चित्त से ही हमारी आत्मा इस भयंकर पाप से मुक्त हो सकेगी।’ दोनों के दृढ़ संकल्प के समक्ष राजा-रानी को अपना प्रयत्न और दबाव छोड़ना पड़ा।’

आचार : अनाचार

यह एक प्रेरक उदाहरण है। क्या आज के विद्यार्थी भी चक्षु-असंयम के प्रायश्चित्त की कोई बात सोचते हैं? मैं सभी छात्र-छात्राओं से कहना चाहता हूँ कि वे चक्षु-संयम की साधना करें। जहां-कहीं चक्षु-असंयम हो, उसका स्वेच्छा से उचित प्रायश्चित्त करें। इसी प्रकार अन्य-अन्य इंद्रियों के संयम की बात का अभ्यास करें, मन का संयम करना सीखें। मूलतः संयम जीवन का सारभूत तत्त्व है। संयम के बिना शिक्षा सफल नहीं हो सकती। अणुव्रत-आंदोलन विद्यार्थियों के जीवन को संयम के सांचे में ढालना चाहता है। छोटे-छोटे संकल्पों या नियमों के द्वारा वह विद्यार्थियों को आचारवान और चरित्रसंपन्न बनाना चाहता है। संयमयुक्त प्रवृत्ति आचार है, चरित्र है। इसके विपरीत असंयमपूर्ण हर प्रवृत्ति और व्यवहार अनाचार है। भोजन शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है, किंतु स्वाद लोलुपता के कारण कुछ भी खाया जाता है तो वह अनाचार है। इसी प्रकार बोलने में संयम नहीं है, विवेक का अंकुश नहीं है, उसके साथ प्रदर्शन की भावना जुड़ी हुई है तो वह अनाचार ही है। धूम्रपान और मद्यपान दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। इसलिए ये दोनों प्रवृत्तियां अनाचार में समाविष्ट हैं।

इससे भी आगे मैं तो यहां तक कहता हूँ कि इन्हें आवश्यक मानते हुए ऐसा कहना कि इनके बिना काम नहीं चल सकता, एक प्रकार का अनाचार ही है, वैचारिक अनाचार है। चोर द्वारा चोरी को अपरिपार्य मान लेने से क्या उसे आवश्यक माना जा सकता है? स्पष्ट है, नहीं माना जा सकता। मूलतः अपने असंयम या आदत की लाचारी के कारण कोई व्यक्ति किसी अवांछित और अनुचित प्रवृत्ति को भी आवश्यक मान सकता है, पर वास्तव में वह अनाचार ही है। अणुव्रत-आंदोलन ऐसे समाज की संरचना करना चाहता है, जो आचारनिष्ठ हो, चरित्रसंपन्न हो, जिसका ढांचा संयम की भित्ति पर खड़ा हो।

विद्या का फलित

छात्र-छात्राओं को यह बात गंभीरता से समझनी है कि विद्या चिंतन तक ही सीमित न रहे। यदि वह चिंतन तक ही सीमित रह जाती है तो मानना चाहिए कि वह भारभूत है। उसका फलित आचार है। यदि पढ़ा हुआ ज्ञान आचरण में नहीं ढलता है तो उसकी कोई सार्थकता प्रकट नहीं होती। धर्मशास्त्रों की परिभाषा के अनुसार सच्चा पंडित वही है, जो आचारवान हो। अनेक ग्रंथों का अध्येता भी यदि आचारसंपन्न नहीं है तो वह पंडित नहीं है। आपको सच्चा पंडित बनना है, इसलिए जो-कुछ पढ़ें, उसे आचरण में उतारने का लक्ष्य बनाएं।

प्रसंग युधिष्ठिर का

महाभारत में युधिष्ठिर का प्रसंग है। कौरव और पांडव द्रोणाचार्य के पास अध्ययन करते थे। अध्ययन के क्रम में एक दिन द्रोणाचार्य ने पाठ दिया—**क्रोधं मा कुरु**। इसका अर्थ होता है—क्रोध मत करो। पाठ देकर गुरु द्रोणाचार्य ने सभी विद्यार्थियों को पाठ याद करने का निर्देश दिया। निर्देशानुसार सभी विद्यार्थी पाठ याद करने लगे। कुछ देर पश्चात एक-एक कर सभी विद्यार्थियों ने पाठ सुना दिया। केवल एक युधिष्ठिर शेष रहा। जब उसे पाठ सुनाने के लिए कहा गया, तब वह बोला—‘मुझे अभी तक पाठ याद नहीं हुआ है।’ द्रोणाचार्य ने उपालंभ देते हुए अगले दिन पाठ याद कर आने का निर्देश दिया, पर अगले दिन भी उसने पाठ नहीं सुनाया। द्रोणाचार्य ने आज कड़ा उपालंभ दिया। बाबजूद इसके, तीसरे दिन बात वहीं-की-वहीं रही। इस क्रम से कई दिन और निकल गए। द्रोणाचार्य प्रतिदिन पाठ सुनाने के लिए कहते और युधिष्ठिर याद

न होने की बात दोहराता।

इस स्थिति ने द्रोणाचार्य को इतना कुपित कर दिया कि एक दिन उन्होंने युधिष्ठिर के गाल पर कसकर दो चांटे जड़ दिए। चांटे लगते ही युधिष्ठिर बोल पड़ा—गुरुदेव ! मुझे पाठ याद हो गया है।’ और सचमुच उसने पाठ सुना भी दिया। गुरु द्रोणाचार्य ने कहा—‘यदि मुझे ऐसा पता होता कि चांटे लगने से पाठ याद होता है तो मैं इतने दिन का समय व्यर्थ क्यों गंवाता ! पहले दिन ही यह प्रयोग कर लेता।’ लेकिन तुरंत ही वे गंभीर हो गए। उनके मन में चिंतन आया कि युधिष्ठिर एक प्रखर बुद्धिवाला छात्र है। उसे तीन शब्दों का छोटा-सा वाक्य—**क्रोधं मा कुरु** इतने दिनों तक याद न हो, यह कैसे संभव है। फिर एक बात और है। चांटे लगने के पूर्व क्षण तक यह पाठ याद न होने की बात कह रहा था, पर चांटे लगते ही इसे पाठ याद हो गया, इस बात में कोई गूढ़ रहस्य है। मुझे वह रहस्य जानना चाहिए। इस चिंतन के साथ उन्होंने संकेत से युधिष्ठिर को अपने समीप बुलाया और अत्यंत स्नेह-वत्सलतापूर्वक इस संदर्भ में पूछा। युधिष्ठिर बोला—‘गुरुदेव ! आपने ही तो हमें बताया था कि जो पढ़ो उसे अपने आचरण और व्यवहार में उतारो, अन्यथा पढ़ने की कोई विशेष सार्थकता नहीं है। **क्रोधं मा कुरु**—यह वाक्य तो मैंने प्रथम दिन ही याद कर लिया था, पर इसका भाव जीवनगत और आचरणगत नहीं बना था। मुझे गुस्सा बहुत आता था। ऐसी स्थिति में यदि मैं पाठ याद होने की बात कहता तो क्या वह अयथार्थ नहीं हो जाती ? इसलिए मैंने पाठ याद न होने की बात कही और साथ ही गुस्सा न करने का प्रयास करना शुरू कर दिया। कुछ दिनों के अभ्यास से मैं एक भूमिका तक तो पहुंच गया था। कोई मेरे साथ गलत व्यवहार करता, अपशब्द बोलता, तथापि मुझे गुस्सा नहीं आता, किंतु कोई मुझे पीटे, फिर भी गुस्सा न आए, इस बात की परख होनी अभी शेष थी। आज से पूर्व ऐसा कोई प्रसंग बना नहीं। आज आपका अनुग्रह हुआ और मैं इस कसौटी पर स्वयं को कस सका। चांटे लगने के बाद भी मेरे मन में जब गुस्से का तनिक भी भाव नहीं उभरा, तब मैं इस बात के लिए आश्वस्त हो गया कि पढ़ा हुआ पाठ जीवनगत हो गया है। इस आश्वस्ति के साथ ही मैंने आपसे पाठ याद हो जाने की बात कही और पाठ सुना भी दिया। गुरुदेव ! इतने दिन मेरे कारण आपको काफी कष्ट हुआ, इसके लिए पुनः-पुनः क्षमाप्रार्थी हूं।’ और वह

गुरु-चरणों पर प्रणत हो गया।

सुनकर द्रोणाचार्य के मन में चिंतन आया—अध्ययन की जिस गहराई तक यह युधिष्ठिर पहुंचा है, उस गहराई तक तो मैं भी नहीं पहुंच पाया हूँ। क्रोधं मा कुरु का पाठ पढ़ाता हुआ भी मैं गुस्सा करता हूँ और इसने यह पाठ पढ़कर गुस्सा करना छोड़ दिया। भले मैं गुरु कहलाता हूँ, पर वास्तव में तो यह मेरा गुरु है। अन्य छात्रों को संबोधित कर बोले—‘वास्तव में पाठ तो युधिष्ठिर ने ही पढ़ा है। तुम लोगों को भी इससे प्रेरणा लेनी चाहिए। पढ़ा हुआ पाठ जीवनगत बनाने का लक्ष्य बनाना चाहिए। उसे आचरण और व्यवहार में उतारने का क्रम सुनिश्चित करना चाहिए। तभी तुम लोगों के पढ़ने की सच्ची सार्थकता प्रकट हो सकेगी।’

इस घटना-प्रसंग से उपस्थित छात्र-छात्राओं को भी प्रेरणा लेनी चाहिए। वे यह मानसिक संकल्प करें कि हम पढ़ाई को अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित नहीं रखेंगे, उसे जीवन का हिस्सा बनाएंगे, अपने आचरण में ढालेंगे, व्यवहार में उतारेंगे। मैं मानता हूँ, जीवन के सर्वांगीण विकास की यही प्रक्रिया है। शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य जीवन का सर्वांगीण विकास करना ही है। यह प्रक्रिया अपनाकर ही वे विद्याध्ययन के वास्तविक लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। आशा करता हूँ, उपस्थित छात्र-छात्राएं इस बारे में गंभीरता से चिंतन करेंगे।

वाली (उत्तर पाड़ा)

६ मार्च १९५९

३४ : राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो

कलकत्ता आने की प्रेरणा

आज कलकत्ता पहुंचकर मैं सात्त्विक प्रसन्नता की अनुभूति कर रहा हूँ। मेरी वर्षों की भावना एवं कल्पना आज साकार हुई है। कलकत्ता आने की प्रेरणा मुझे लगभग दस वर्ष पूर्व मिली। उस समय मैं दिल्ली में था। वहां अणुव्रत-आंदोलन का प्रथम अधिवेशन आयोजित हुआ। उस कार्यक्रम में पांच सौ से अधिक व्यापारियों ने भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, मिलावट आदि न करने की प्रतिज्ञाएं ग्रहण की थीं। इस बात को लोगों ने आश्चर्य से देखा। अमेरिका की प्रसिद्ध पत्रिका—*टाइम* (Time) तक ने यह संवाद प्रमुखता से प्रकाशित किया। देश के लगभग सभी प्रमुख पत्रों में तो यह समाचार प्रकाशित हुआ ही। *अमृत बाजार पत्रिका* ने मुझे कलकत्ता आने का आह्वान किया था। वैसे इसकी व्यवस्थित रूपरेखा तो गत चातुर्मास में सुजानगढ़ में ही बन पाई थी। राजस्थान से कलकत्ता तक की इस सुदीर्घ यात्रा में मुझे इस बात की बराबर अनुभूति होती रही कि भाषा, खान-पान, वेश-भूषा आदि की विविधता के बावजूद देश के लोगों में सांस्कृतिक ऐक्य है। शब्दांतर से कहूं तो राष्ट्रीय एकता के दर्शन मुझे यात्रा में बराबर होते रहे।

कलकत्ता आने का उद्देश्य

कोई पूछ सकता है कि आप कलकत्ता क्यों आए हैं। इसके उत्तर में मैं बताना चाहता हूँ कि मैं इस महानगर को देखने के उद्देश्य से नहीं आया हूँ। यहां के लोगों से अर्थ-याचना करना भी मेरे यहां आने का उद्देश्य नहीं है। मेरे यहां आने का उद्देश्य है—यहां के लोगों के जीवन में व्याप्त बुराइयों/दुष्प्रवृत्तियों/कुसंस्कारों की भिक्षा प्राप्त करना, ताकि जन-जीवन स्वस्थ बन सके।

राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो

● ८५ ●

धर्मगुरुओं का दायित्व

मैं यह बात बहुत गहराई से अनुभव कर रहा हूँ कि आज राष्ट्रीय चरित्र का तेजी से ह्रास हो रहा है। जो भारत किसी समय विश्वगुरु था, सारे संसार को धर्म और अध्यात्म का संदेश देता था, नीति और चरित्र की शिक्षा प्रदान करता था, वही आज स्वयं भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अमानवीय प्रवृत्तियों में जकड़ा है। यह एक गंभीर स्थिति है, पर मेरी दृष्टि में इससे भी अधिक गंभीर स्थिति यह है कि राष्ट्र का नेतृ-वर्ग इसकी गंभीरता नहीं समझ रहा है। इसलिए इस स्थिति से उबरने की दिशा में कोई सार्थक प्रयत्न नहीं हो रहा है। कहा जाता है कि सम्राट अशोक की शासन-व्यवस्था में जनता के चारित्रिक विकास के लिए एक अलग से सुव्यवस्थित विभाग था, पर आज न तो केंद्रीय सरकार में और न किसी प्रांतीय सरकार में ऐसी व्यवस्था और विभाग दिखाई देता है। प्रश्न उभरता है कि ऐसी परिस्थिति में गिरता राष्ट्रीय चरित्र कैसे रुकेगा, जनता का नैतिक एवं चारित्रिक अभ्युदय कैसे होगा। मैं समझता हूँ कि यह काम धर्मगुरुओं को करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए अपने-अपने अनुयायियों एवं संपर्क में आनेवाले लोगों के नैतिक एवं चारित्रिक विकास की दृष्टि से सलक्ष्य प्रयत्न करें। लोगों के जीवन में जो बुराइयां घर कर गई हैं, उन्हें निकालने का प्रयत्न करें। इससे राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में उल्लेखनीय सहयोग मिलेगा।

अणुव्रत-आंदोलन

जन-जन के नैतिक पुनरुत्थान एवं चारित्रिक अभ्युदय के लिए हमने अपने स्तर पर एक कार्यक्रम शुरू किया है। अणुव्रत-आंदोलन के नाम से पहचाने जानेवाले इस कार्यक्रम में जाति, वर्ण, वर्ग, लिंग, संप्रदाय, भाषा, प्रांत आदि से संबद्ध किसी प्रकार की कोई संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं है। जीवन-शुद्धि में विश्वास करनेवाला हर-एक व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव एवं रोक-टोक के इस कार्यक्रम के साथ जुड़ सकता है।

सच्चा स्वागत

अणुब्रम की विध्वंसक शक्ति से आज संसार अपरिचित नहीं है। अणुब्रम जितना विध्वंसक है, अणुव्रत उतना ही निर्माणकारी है। वह

छोटे-छोटे व्रतों के माध्यम से निर्माण का कार्य संपादित करता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में लोग इस भाषा में भी सोच सकते हैं कि व्रतों की क्या आवश्यकता है, क्या उपादेयता है। व्रतों की आवश्यकता और उपादेयता शाश्वत है। भले वैज्ञानिक युग हो या अन्य कोई युग, इनकी आवश्यकता और उपादेयता समाप्त नहीं होती। मूलतः व्रतों के द्वारा व्यक्ति की संयम-चेतना इंकृत और जाग्रत होती है, जो कि मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनाती है। पिछले एक दशक से अणुव्रत-आंदोलन जन-जन की संयम-चेतना इंकृत और जाग्रत करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप राष्ट्र में नैतिक जागरण एवं चारित्रिक अभ्युदय का एक वातावरण निर्मित हुआ है। लोग इसकी आवश्यकता महसूस करने लगे हैं।

आपने मेरे स्वागत में अपनी भावनाएं व्यक्त कीं। उनमें आपकी श्रद्धा और भक्ति बोलती है, तथापि मेरा वास्तविक स्वागत तो इसी में है कि आप अणुव्रत-आंदोलन की आचार-संहिता स्वीकार करते हुए अपनी जीवनगत बुराइयों को तिलांजलि दें। जैसा कि मैंने प्रारंभ में कहा था, मैं यहां के जन-जीवन में व्याप्त बुराइयों/दुष्प्रवृत्तियों/कुसंस्कारों की भिक्षा लेने के उद्देश्य से ही इस महानगर में आया हूं। आशा है, अणुव्रती बनकर आप इस अकिंचन फकीर की झोली अवश्य भरेंगे।

कलकत्ता

८ मार्च १९५९

३५ : आर्य कौन

आर्य : अनार्य

भारतीय समाज में आर्य और अनार्य की चर्चा प्रमुखता से होती रही है। हमारे सामने प्रश्न है कि आर्य कौन, अनार्य कौन; आर्य और अनार्य की भेद-रेखा क्या है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि नागरिक सभ्यता के अंतर्गत रहनेवाले लोग आर्य हैं तथा नागरिक सभ्यता से दूर जंगल और पहाड़ों में रहनेवाले लोग अनार्य हैं। इस संदर्भ में मेरा चिंतन उपर्युक्त मान्यता से भिन्न है। मेरी दृष्टि में जिनका जीवन संयममय है, धार्मिकता से भावित है, वे आर्य हैं। इसके विपरीत जो लोग असंयम में रचे-पचे हैं, जिनका जीवन धर्म से शून्य है, वे अनार्य हैं। इस परिभाषा के अनुसार नागरिक-सभ्यता से दूर अरण्य और पहाड़ों में रहनेवाले वे लोग भी आर्य हैं, जिनका जीवन धार्मिक है। इसके विपरीत सुंदर और बहुकीमती वस्त्राभूषणों में नागरिक-सभ्यता के अंतर्गत रहनेवाले वे लोग भी अनार्य हैं, जो असंयमी और अधार्मिक हैं। सारांश यह है कि आर्यत्व की वास्तविक कसौटी धार्मिकता है, क्षेत्र नहीं। इसलिए व्यक्ति-व्यक्ति अपने-आपको टटोले, अपने आचरण और व्यवहार की यथार्थपरक समीक्षा करे कि मेरे जीवन में धार्मिकता है या नहीं; मेरी मानवता जीवित है या नहीं। यदि ये तत्त्व हैं तो वह बेशक आर्य है, उसके शुभ का सूचक है। यदि नहीं हैं तो उसे आर्य कहलाने का वास्तविक अधिकार नहीं। आर्य बनने के लिए उसे अपने जीवन में बदलाव लाना होगा। उसे मानवीय मूल्यों के साथ जोड़ना होगा, धार्मिकता से संस्कारित करना होगा, सत्संस्कारों से पुष्ट करना होगा। आज समाज की जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि बहुप्रतिशत लोग आर्यत्व से दूर हैं। उनका जीवन दुष्प्रवृत्तियों एवं अधार्मिकता से जकड़ा हुआ है। मानवता उनसे कोसों दूर चली गई है। इसका कारण भी अस्पष्ट नहीं है। लोगों की जीवन-दिशा गलत हो गई है। वे भोग-विलास को लक्ष्य मानकर चल रहे हैं। इस गलत

लक्ष्य-निर्धारण से समाज में भ्रष्टाचार, अनैतिकता, संग्रह, शोषण, हिंसा, मद्यपान-जैसी बहुत-सी दुष्प्रवृत्तियों एवं विकृतियों को जन्म दिया है। अपेक्षित है कि जन-जन यह बात समझे कि भोग-विलास जीवन का सही लक्ष्य नहीं है। जीवन का सही लक्ष्य आत्मा का अभ्युदय है, आत्मा की पवित्रता है। जब लक्ष्य सही हो जाएगा, तब गलत दिशा में बढ़ते चरण स्वतः मुड़ जाएंगे और सही दिशा में गति शुरू हो जाएगी। उसकी सुखद परिणति यह होगी कि व्यक्ति का जीवन दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होकर सहज धार्मिक बन जाएगा, वह आर्य कहलाने की गुणात्मकता अर्जित कर लेगा।

धर्म का स्वरूप और प्रभाव-क्षेत्र

आर्य-अनार्य की इस चर्चा के संदर्भ में प्रासंगिक रूप में धर्म एवं धर्म के स्वरूप की बात भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं। धर्म जीवन-शुद्धि/आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया का नाम है। कुछ लोग धर्म को उपासना और पूजा-पाठ तक सीमित कर देते हैं। यह उचित नहीं है। धर्म का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक है। इतना व्यापक कि वह जीवन के हर पहलू को छूता है, जीवन के हर व्यवहार को सुसंस्कृत बनाता है, हर आचरण को परिमार्जित करता है। उपासना और पूजा-पाठ तो गौण है। फिर केवल वह उपासना और पूजा-पाठ धर्म की कोटि में समाविष्ट होता है, जो व्यक्ति की जीवन-शुद्धि में प्रेरक एवं सहयोगी बनता है। जिस उपासना और पूजा-पाठ से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, उसे धर्म नहीं माना जा सकता।

धर्म में रम जाने के पश्चात व्यक्ति कोई ऐसा आचरण और व्यवहार करने की बात नहीं सोच सकता, जो उसे मानवीय धरातल से नीचे ले जाकर खड़ा कर दे। प्रकारांतर से ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहां जीवन में धार्मिकता विकसित होती है, वहां मानवता तो सहज रूप में आ जाती है, फिर उसके लिए अलग से प्रयत्न करने की कोई अपेक्षा नहीं रहती। निश्चय में तो मानवता के आधार पर ही व्यक्ति मानव कहलाने का अधिकार प्राप्त करता है। यदि उसके जीवन में मानवीय गुण विकसित नहीं हुए हैं तो वह मात्र आकार से मानव है, वास्तविक मानव नहीं। अणुव्रत-आंदोलन धर्म का ऐसा रूप है, जो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में मानवीय गुणों का संचार कर उसे सच्चा मानव बनाता है, सच्चा धार्मिक बनाता है, सच्चा आर्य बनाता है। अपेक्षा है कि आप अणुव्रत की आचार-संहिता संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें।

कलकत्ता, ९ मार्च १९५९

३६ : शांति और सुख का मार्ग

मानव अशांत क्यों

आज सारा संसार अशांत है। मानव शांति की खोज कर रहा है, पर शांति उसे मिल नहीं रही है। क्यों? इस 'क्यों' का उत्तर अस्पष्ट नहीं है। शांति नहीं मिलने का कारण है असंयम। संयम के अभाव में उसका मिलना तो कहीं रहा, वह उससे और अधिक दूर हो रही है। यदि वास्तव में ही वह शांति प्राप्त करना चाहता है तो उसे उन्मार्ग का परित्याग कर सही मार्ग पर आना होगा, संयममय जीवन जीना होगा। अणुव्रत-आंदोलन का घोष ही है—संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है। वह जीवन का प्रत्येक कार्य संयमपूर्वक करने का पाठ पढ़ाता है। आप पूछेंगे कि संयम से आपका क्या तात्पर्य है। मन, वचन, शरीर की प्रवृत्तियों को सम्यक रूप से नियंत्रित करने का नाम संयम है। जब मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों पर सम्यक रूप से नियंत्रण सध जाता है, तब आत्मा स्वयं नियंत्रित हो जाती है। मैंने एक गीत में कहा है—

हाथ संयम पांव संयम खाद्य संयम आद्य हो।
दृष्टि संयम वचन संयम आत्म-संयम साध्य हो।
सब तरह सोचें-विचारें संयमः खलु जीवनम्॥
नियम से बोलें कि सारे संयमः खलु जीवनम्॥
प्रेम से बोलें कि प्यारे ! संयमः खलु जीवनम्॥
संयमः खलु जीवनम्॥

तात्पर्य यह कि जीवन की हर क्रिया संयमयुक्त होनी चाहिए। खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, खड़ा होना, चलना, बोलना, चिंतन करना.....कोई भी क्रिया संयम से रहित नहीं होनी चाहिए। वैसे संयम का यह मार्ग अपनाना मानव के लिए सहज नहीं है, क्योंकि सामान्यतः वह सुकर कार्य करने का अभ्यासी होता है, दुष्कर कार्य करने का साहस झटपट नहीं जुटा पाता। भले संयम का मार्ग स्वीकार करना उसके लिए

● ९० ● ————— ज्योति जले : मुक्ति मिले

कठिन हो, इसका साहस यकायक वह न कर पाए, पर उसे यदि सुख और शांति की आंतरिक अभीप्सा है तो कठिन होने के बावजूद उसे यह पथ स्वीकार करना होगा, यह साहस जुटाना होगा। इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प और मार्ग नहीं है, जिसे स्वीकार कर वह अपनी यह अभीप्सा पूरी कर सके।

विसंगति मिटे

मैं देख रहा हूँ कि आज का मानव विसंगति-भरा जीवन जी रहा है। एक तरफ सुख-शांति की आकांक्षा करता है और दूसरी ओर संयम की बात भुलाकर भोगासक्ति में फंसा है, अर्थोपार्जन के पीछे पागल-सा बना हुआ है, येन केन प्रकारेण धन-संचय करने में लगा है। दूसरों का शोषण और उनके अधिकारों का हनन करने में भी उसे संकोच नहीं होता, आत्मग्लानि नहीं होती। उसे इस बारे में गंभीरता से चिंतन कर यह विसंगति मिटानी चाहिए। उसे यह समझना होगा कि भोग कभी सुख नहीं दे सकते। उनमें एक बार क्षणिक सुखाभास होता है, पर उसकी परिणति दुःख में होती है। इसी प्रकार अर्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। इस सीमा तक उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है, लेकिन वह सुख नहीं दे सकता, शांति की अनुभूति नहीं करा सकता, बल्कि बहुत सही तो यह है कि उसका अनावश्यक संग्रह व्यक्ति के लिए दुःख और अशांति का कारण बनता है। सुख और शांति के लिए तो, जैसाकि मैंने कहा, संयम एकमात्र मार्ग है, उपाय है, हेतु है।

धर्म व्यक्ति-व्यक्ति को संयममय जीवन जीने की अभिप्रेरणा देता है। दूसरे शब्दों में वह जीवन-परिष्कार की प्रक्रिया है। प्राणिमात्र के प्रति आंतरिक मैत्री का भाव उसका साधन है। इसे व्यक्ति जब अपने व्यवहार में काम लेने लगता है, तब संयम की बात सहज रूप से सध जाती है। संयम सधा कि सुख और शांति का जीवन में स्वयं अवतरण हो जाता है।

कलकत्ता

१० मार्च १९५९

३७ : धर्म के दो रूप

जैन-धर्म आत्म-विजेताओं का धर्म है, राग-द्वेष-जैसे आत्म-विघातकारी दुर्गुणों पर विजय पानेवालों का धर्म है। बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें व्यक्ति-पूजा को कहीं कोई स्थान नहीं है। पूजा गुणात्मकता की है। जितनी भी आत्माएं अतीत में वीतराग बनी हैं अथवा वर्तमान में हैं, वे सभी वंदनीय हैं, पूजनीय हैं—यह जैन-धर्म की स्वीकृति है, स्थापना है। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र का अश्रोक्त श्लोक इसी तथ्य को पुष्ट करता है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मैः॥

- राग आदि भव-संसार के बीजांकुर हैं, जन्म-मरण को उत्पन्न करने के हेतु हैं। जिन्होंने ये दोष क्षीण कर दिए, उन्हें मेरा नमस्कार। फिर वे चाहे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों अथवा जिन हों।

मेरी दृष्टि में गुण-पूजा की यह बात धार्मिक परिवेश में ही नहीं, सामाजिक परिवेश में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि यह मूल्य स्थापित हो जाए तो समाज का कायाकल्प हो सकता है।

जैन-तीर्थंकरों ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसका स्वरूप आकाश की तरह व्यापक है। वह प्राणिमात्र के लिए आत्मोदय का साधन है। व्यक्तिवाद, जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद-जैसी किसी संकीर्णता से बंधा हुआ नहीं है। न उसमें लिंग, रंग, वर्ण, वर्ग-जैसे किसी भेद को स्थान है। वस्तुतः यह व्यापक स्वरूप ही उसे धर्म की सही प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

साधना की दृष्टि से भगवान महावीर ने धर्म को *अणगार-धर्म* और *अगार-धर्म*—इन दो रूपों में विश्लेषित किया। अणगार-धर्म का विधान

गृहत्यागी साधु-साध्वियों के लिए है। इसमें अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की बिना किसी अपवाद के अखंड रूप में पालना करने का विधान है, किंतु इस प्रकार की साधना करने का सामर्थ्य सबमें नहीं हो सकता। कुछ-एक विशिष्ट सामर्थ्यवान व्यक्ति ही यह साधना स्वीकार कर पाते हैं। अधिकतर व्यक्ति ऐसी साधना करने में स्वयं को अक्षम पाते हैं। वे महाव्रतों की आंशिक साधना ही कर सकते हैं। इस अपेक्षा से दूसरा भेद अणार-धर्म है। इसमें अपवादपूर्वक व्रतों का स्वीकरण होता है, छोटे-छोटे नियमों के रूप में अहिंसा, सत्य आदि पांच व्रतों की यथाशक्य साधना की जाती है। अणार-धर्म अंगीकार करनेवाले का जीवन जहां संपूर्ण रूप में त्यागमय होता है, वहीं अणार-धर्म स्वीकार करनेवाले के जीवन में त्याग और भोग दोनों का सम्मिश्रण होता है। जिस सीमा तक वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की आराधना करता है, उस सीमा तक उसके जीवन में त्याग है और उसके अतिरिक्त भोग। भोग व्यक्ति की दुर्बलता है और त्याग बल। इसलिए वह उत्तरोत्तर भोग से त्याग की ओर गति करता रहे, यह नितांत अपेक्षित है। इस क्रम से अपनी क्षमता का विकास करता हुआ वह एक दिन अणार-धर्म स्वीकार करने की स्थिति में पहुंच सकता है। ध्यान रहे, अणार-धर्म स्वीकार करना, महाव्रती बनना, मुनि-दीक्षा अंगीकार करना जीवन का परम सौभाग्य है।

कलकत्ता

११ मार्च १९५९

३८ : मुक्ति का मार्ग

विभिन्नरुचयो लोकः के अनुसार लोगों की भिन्न-भिन्न रुचियां होती हैं, भिन्न-भिन्न आकर्षण होते हैं। धर्म के क्षेत्र में भी तो यही बात है। कुछ लोग भक्ति को महत्त्व देते हैं, कुछ ज्ञान को और कुछ कर्म को। भक्ति में विश्वास करनेवाले उसी को एकमात्र मुक्ति का साधन मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें सभी चीजें निरर्थक प्रतीत होती हैं। ज्ञानवादी ज्ञान को ही सब-कुछ मानते हैं तो कर्मवादी कर्म को।

इस संदर्भ में मेरी दृष्टि यह है कि एकांगी चिंतन और पकड़ अच्छी बात नहीं है। भक्ति का धर्म-साधना के क्षेत्र में अपना एक स्थान और मूल्य है, पर उसे ही सब-कुछ मानना उचित नहीं। फिर जो भक्ति अंध श्रद्धाजन्य विह्वलता लिए होती है, उसे भी उपादेय नहीं माना जा सकता। ऐसी भक्ति में प्रायः व्यक्ति अपने विवेक का त्याग कर उन्मत्त-सा बन जाता है। मैं उस भक्ति को महत्त्व देता हूँ, जिसके साथ स्थिरता, गंभीरता, चिंतन और मनन जुड़ा हो तथा जो व्यक्ति के लिए आत्म-शुद्धि एवं पवित्र जीवन जीने की प्रेरणा बनती हो।

ज्ञान के संदर्भ में भी अवधारणा सम्यक हो, यह बहुत जरूरी है। ज्ञान का गुण जानना है, किंतु जानने के बाद यदि हेय का त्याग नहीं, उपादेय का स्वीकरण नहीं, सत्य की दिशा में चरणन्यास नहीं तो उस जानने की क्या सार्थकता? इसी प्रकार जो जानना व्यक्ति को गर्वोन्मत्त बनाए, उसके अहंकार को सिंचन और पोषण दे, वह भी किस काम का? ज्ञान के साथ व्यक्ति की आस्था सम्यक हो, दृष्टिकोण यथार्थवादी हो—यह नितांत अपेक्षित है। इसी क्रम में वह ऋजुता से पुष्ट हो तथा सत की ओर गतिशील हो, यह भी आवश्यक है। ऐसे ज्ञान की ही सार्थकता प्रकट होती है।

तीसरा तत्त्व है—कर्म। कर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। बोलना,

सुनना, जिज्ञासा करना, चिंतन करना, ज्ञानार्जन करना, तपस्या करना, भक्ति करना, उपासना करना आदि-आदि सभी प्रवृत्तियां कर्म के अंतर्गत हैं। मेरी दृष्टि में वही कर्म जीवन-विकास का साधन है, मोक्षाराधना में हेतुभूत है, जो राग-द्वेष से सर्वथा अछूता हो, आत्मशुद्धि के लक्ष्य से जुड़ा हो। यदि वह राग-द्वेषयुक्त है, आत्मशुद्धि के लक्ष्य से रहित है तो जीवन-विकास के स्थान पर जीवन-हास का हेतु बन जाता है।

इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन तीनों तत्त्वों में से अकेला कोई मुक्ति का मार्ग नहीं बन सकता। मुक्ति का मार्ग इन तीनों का समन्वित रूप है। इसलिए मुमुक्षु हर प्राणी के लिए यह नितांत अपेक्षित है कि वह इन तीनों ही तत्त्वों की युगपत सम्यक आराधना करे।

कलकत्ता

१२ मार्च १९५९

३९ : आत्मा के तीन रूप

आत्मा एक है, पर उसके रूप तीन हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा का स्वरूप क्या है? जीवन की समस्त बाह्य प्रवृत्तियां, बाह्य कार्य बहिरात्मा है। आत्मा का दूसरा रूप है—अंतरात्मा। जब कोई व्यक्ति सद्ज्ञान से उद्बुद्ध/प्रभावित हो बाह्य वातावरण से मुड़कर अंतर्मुखी बनता है, तब उसकी अंतरात्मा का रूप प्रकट होता है। अब रही परमात्म-रूप की बात। जब बहिरात्मा और अंतरात्मा का भेद मिट जाता है, तब परमात्म-रूप प्रकट होता है। इस रूप के उपलब्ध हो जाने के पश्चात व्यक्ति की मोह-ममता के सारे बंधन स्वतः छिन्न हो जाते हैं। आत्मा सर्वथा मुक्त बन जाती है। वैसे परमात्मा विदेह होते हैं, इसलिए उनका कोई आकार/रूप नहीं होता, परंतु ज्ञान, दर्शन और अनुभव से उसे पहचाना जाता है।

मूल तत्त्व

धर्म व्यक्ति को बहिरात्मा से अंतरात्मा तथा अंतरात्मा से परमात्मा बनाने की प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में वह मोक्ष का यात्रा-पथ है। उस पथ पर कदम-कदम चलकर व्यक्ति मोक्ष तक पहुंच सकता है। कुछ लोग ज्ञान को मोक्ष का साधन मानते हैं तो कुछ लोग भक्ति को। इसी प्रकार कुछ के मत में कर्म मोक्ष का साधन है। मेरी दृष्टि में ये सारे चिंतन सापेक्ष हैं। मूलभूत तत्त्व आत्मा है। उसके आधार पर ही आत्मवाद, अध्यात्मवाद, परमात्वाद-जैसे सिद्धांत बने हैं, अन्यथा इनका अस्तित्व ही क्या है? इसी प्रकार धर्म, धर्माचरण, भक्ति, मुक्ति आदि का अस्तित्व भी उसके अस्तित्व के साथ ही जुड़ा हुआ है। यह भी कितनी महत्वपूर्ण बात है कि नास्तिक मतावलंबियों को छोड़कर सभी दार्शनिक एवं सभी धर्मावलंबी इसका अस्तित्व एकमत से स्वीकार करते हैं, भले उसके स्वरूप के बारे में वे भिन्न-भिन्न मत रखते हैं, भले इसे समझने,

पहचानने के संबंध में पृथक-पृथक तर्क, उदाहरण एवं युक्तियां प्रस्तुत करते हैं। भेदाभेद के आधार पर यह द्वैत और अद्वैत दोनों ही हैं। भिन्नता होते हुए भी इसमें एकता है तथा एक होते हुए भी इसमें भिन्नता विद्यमान है।

कलकत्ता

१३ मार्च १९५९

४० : अर्थ के प्रति सम्यक दृष्टिकोण बने

कल प्रातःकालीन प्रवचन में मैंने आत्मा के तीन रूपों—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा की चर्चा की थी। मैं देख रहा हूँ कि आजकल सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक.....सभी क्षेत्रों में सर्वत्र पैसा जीवन का साध्य बन गया है। लोग जिस ढंग से उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं, उसे देखते हुए लगता है कि मानो वह उनका आराध्य हो, परमात्मा हो। मानव-समाज में जो यह मिथ्या दृष्टिकोण या मिथ्याचार व्याप्त हुआ है, यह बहिरात्मा का द्योतक है। आज समाज में जो अनेक प्रकार की विकृतियाँ पैदा हुई हैं, उसका यह मूलभूत कारण है। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों का दृष्टिकोण परिमार्जित हो। अर्थ के प्रति उनकी सोच यथार्थवादी बने। वे उसे जीवन की आवश्यकतापूर्ति का साधन समझें। मिथ्या दृष्टिकोण को सम्यक बनाना बहिरात्मा से अंतरात्मा बनने की ओर मुड़ना है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो शरीर को ही आत्मा समझते हैं। ऐसी समझ रखनेवाले व्यक्तियों के लिए कहना चाहिए कि वे एक बहुत बड़ी भ्रांति पाल रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे एक मृगमरीचिका में फंसे हुए हैं। मेरी दृष्टि में शरीर को आत्मा मानना तथा पार्थिव पदार्थों में पूज्यत्व दृष्टि रखना कांच के टुकड़ों को रत्न मान लेने के समान भ्रांतिपूर्ण है। ऐसी भ्रांति पालनेवाले प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अपना बहुत बड़ा अहित करते हैं। जब तक व्यक्ति बहिरात्म-बुद्धि से छूटकर अंतरात्माभिमुख नहीं बन जाता, तब तक इस प्रकार की अनेक भ्रांतियाँ उसके संरक्षण में पलती रहती हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह सलक्ष्य अंतरात्माभिमुख बनने का प्रयास करे। बहिरात्मा से अंतरात्माभिमुख बनने के पश्चात् व्यक्ति की दृष्टि, सोच एवं आचरण में एक स्पष्ट परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। वह मन, वचन और शरीर—तीनों ही स्तरों पर दुष्प्रवृत्तियों से छूटकर सत्प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि

बहिरात्मा से अंतरात्मा की ओर कैसे मुड़ा जाए। इस बारे में हमारे त्यागी-तपस्वी ऋषि-महर्षियों ने हमारा कुशल पथ-दर्शन किया है। उनकी अनुभवपूरित वाणी दिशासूचक यंत्र के तुल्य है। उसके दिशा-सूचन में व्यक्ति चलता रहे तो निश्चय ही वह एक दिन अंतरात्मा बन सकता है, पर यह अंतरात्मा तो बीच का पड़ाव है। चरम मंजिल तो परमात्मा बनना है। उसका मार्ग-दर्शन भी ऋषि-वाणी में हमें प्राप्त है। वह दिन किसी व्यक्ति के लिए परम सौभाग्य का होता है, जिस दिन वह परमात्म-पद प्राप्त करता है। ऋषि-वाणी के मार्ग-दर्शन में आप भी अपने चरण पूरी शक्ति के साथ इस दिशा में गतिशील करें, ताकि वह परम सौभाग्यशाली दिवस आप शीघ्रातिशीघ्र देख सकें।

कलकत्ता

१४ मार्च १९५९

४१ : शांति और सुख की दिशा

सदियों की गुलामी के पश्चात भारतीय लोगों ने आजादी की स्वर्णिम कल्पना की थी, पर आजादी मिलने के पश्चात आज भारतीय जन-मानस जिस प्रकार क्रंदन कर रहा है, उसे देख ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि आजादी तो अवश्य मिली, पर उसके साथ जो सुखद कल्पनाएं जुड़ी थीं, वे साकार नहीं हो पाईं। आप देखें, चारों ओर दुःख-ही-दुःख नजर आ रहा है, सर्वत्र अशांति-ही-अशांति छाई है। अनाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, हिंसा आदि अवांछनीय तत्त्वों का साम्राज्य-सा छा गया है। राजनीतिक लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे हैं। जनता को उनसे आशा तो है ही नहीं, बल्कि उनके प्रति घृणा का भाव है। इस स्थिति में परिवर्तन कैसे आए? जनता को आजादी का सही आनंद कैसे मिले? समस्याओं का समाधान कैसे हो? कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि कानून से स्थिति में सुधार आ सकता है, तो कुछ का चिंतन है कि शक्ति-प्रयोग से स्थिति में बदलाव आ सकता है। इसी प्रकार कुछ लोगों का मानना है कि सैनिक शासन से परिवर्तन आ सकता है। लोगों का अपना-अपना विचार है, पर मैं इन तीनों विचारों से और इस प्रकार के अन्य किसी विचार से सहमत नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में समाधान एक ही है और वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा कम-से-कम विवेकशील और चिंतनशील लोग जीवन जाग्रत कर अपनी दृष्टि, व्यवहार और आचरण बदलें। आप निश्चित मानें, यह कार्य स्वयं करने से ही होगा, दूसरा कोई नहीं करेगा। यदि कोई दूसरे के करने की बात सोचता है तो मानना चाहिए कि वह भ्रम पालता है। इस भ्रम का टूटना जरूरी है। हां, संत-जन इस कार्य में कुशल पथ-दर्शन कर सकते हैं।

हमने अणुव्रत-आंदोलन के नाम से एक निषेधात्मक आंदोलन चला रखा है, जो जन-जन को बुराइयां छोड़ने का आह्वान करता है। बुराइयां छूटीं कि अच्छाइयां स्वतः आ जाएंगी। गलत संस्कार छूटे कि

सत्संस्कार स्वतः आ जाएंगे। अनाचार छूटा कि सदाचार स्वतः आ जाएगा। इस दृष्टि से वह निषेधात्मक होते हुए मूलतः निर्माणात्मक है। उसमें नैतिक मूल्यों पर आधारित ऐसे नियमों की संकलना की गई है, जिन्हें सभी धर्मावलंबी समान रूप से स्वीकार कर सकते हैं। इससे भी आगे नास्तिक लोगों को भी उन्हें स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। एक अपेक्षा से यह आंदोलन मानव-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे व्यक्ति का वर्तमान तो सुधरता ही है, अतीत भी कलंकित नहीं होता, भविष्य भी आतंकित नहीं होता। मैं मानता हूँ, यदि व्यापक स्तर पर लोग इस आंदोलन की आचार-संहिता स्वीकार करें और उसका आत्मनिष्ठा के साथ पालन करें तो दुःख और अशांति का वातावरण अपने-आप समाप्त हो सकता है। इसकी परिणति यह आएगी कि लोगों के जीवन में शांति का अवतरण होगा। वे सुख की जिंदगी जी सकेंगे।

कलकत्ता

१४ मार्च १९५९

४२ : संयम का वातावरण निर्मित हो

धर्म जीवन-व्यवहार में आए

आज राष्ट्र के समक्ष अनेक विकट समस्याएं हैं। मैं मानता हूं, समस्याओं का पैदा होना कोई नई बात नहीं है, पर कठिनाई यह है कि उनका कोई कारगर समाधान नहीं मिल रहा है। इस स्थिति में लोग खूनी क्रांति के प्रति आशंकित हैं। निश्चय ही खूनी क्रांति एक भयानक स्थिति है। इसकी कल्पना मात्र से रोमांच होता है। यदि राष्ट्र को इस स्थिति से बचाना है तो उसका एक मात्र विकल्प यह है कि संयम का वातावरण निर्मित कर मानवता की सुरक्षा सुनिश्चित करनी होगी। संयम धर्म का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, बल्कि कहना चाहिए कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसलिए संयम का वातावरण निर्मित करने के लिए धर्म को महत्व देना होगा। इस संदर्भ में आज की कठिनाई यह है कि धर्म अपनी सही प्रतिष्ठा पर नहीं है। वह धर्मस्थानों में कैद-सा होकर रह गया है, जबकि वह व्यक्ति-व्यक्ति के दैनंदिन आचरण का तत्त्व है। अपेक्षा है, वह इस कैद से मुक्त होकर जन-जन के जीवन-व्यवहार में प्रतिष्ठित हो। उसकी हर प्रवृत्ति में उसका प्रतिबिंब झलके। वह घर, दुकान, ऑफिस.....जहा-कहीं भी रहे, वह स्थान धर्मस्थान बन जाए। यदि ऐसा व्यवहार्य हुआ तो संयम का वातावरण निर्मित होते समय नहीं लगेगा।

जरूरी है आत्म-निरीक्षण

मैं देखता हूं, लोग भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि अवांछनीय प्रवृत्तियों के लिए एक-दूसरे की आलोचना करते हैं। यह उचित नहीं है। इससे समस्याएं समाहित नहीं होंगी। समस्याओं के समुचित समाधान की प्रक्रिया यह है कि व्यक्ति अपना आत्म-पर्यवेक्षण करे, स्वयं को देखे। यदि उसके स्वयं के द्वारा कोई अनैतिक कार्य हो रहा हो तो वह उस पर संयम का अंकुश लगाए। यदि व्यक्ति-व्यक्ति इस प्रकार अपनी

अनैतिक प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगाना शुरू कर दे तो समाज का नक्शा बदलते वक्त नहीं लगेगा। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन को संयम के अंकुश का अथवा दूसरे शब्दों में आत्मानुशासन का पाठ पढ़ाता है। उसका घोष ही है—संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है।

अनैतिकता का कारण

यदि हम भ्रष्टाचार, अनैतिकता-जैसी समस्याओं के कारण-विश्लेषण में जाएं तो यह बात बहुत स्पष्ट रूप में सामने आएगी कि आज अर्थ लोगों के जीवन का साध्य बन गया है। यह इसलिए कि वे धन से सुख-शांति मिलने का विभ्रम पालते हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक सदाचार और साधन-शुद्धि की बात समाप्तप्रायः हो जाती है। भले गलत तरीकों से धन जुटाकर लोग धनकुबेर बन जाते हैं, पर सुख-शांति कहां? वह तो उनसे दूर-से-दूर होती चली जाती है। अर्थकेंद्रित जीवन बनने के पश्चात कृत्रिम आवश्यकताएं और आकांक्षाओं का ऐसा विस्तार शुरू हो जाता है कि जिसका कहीं अंत नहीं है। उन आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की संपूर्ति संभव नहीं है। ऐसे में यह जीवन दुःखमय बन जाता है, अशांति का पिंड बन जाता है। यदि लोग वास्तव में ही सुख-शांति चाहते हैं तो उन्हें अपने जीवन का क्रम बदलना होगा, अर्थ के प्रति अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाना होगा। यानी अर्थ मात्र जीवन चलाने का साधन है, साध्य नहीं है—यह दृष्टिकोण निर्मित करना होगा। जहां यह दृष्टिकोण बना, येन केन प्रकारेण धनार्जन करने की वृत्ति स्वतः समाप्त हो जाएगी। जीवन में सदाचार एवं नैतिक मूल्य प्रतिष्ठित हो जाएंगे। अणुव्रत-आंदोलन नैतिकता एवं सदाचार की प्रतिष्ठा का आंदोलन है। इसे अपनाकर सुख-शांति की प्राप्ति सुनिश्चित की जा सकती है।

कलकत्ता

१५ मार्च १९५९

४३ : पुरुषार्थ-चेतना जागे

उत्थान का आधार

जीवात्मा के तीन प्रकार हैं—अज्ञ, मूढ़ और निर्वीर्य। जिसमें ज्ञान का अभाव होता है, वह अज्ञ है। मूढ़ वह होता है, जिसकी बुद्धि और चेतना मोहग्रस्त होती है। निर्वीर्य की कोटि में वे लोग समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य तो रहता है, पर साहस, पराक्रम और पुरुषार्थ के अभाव में उनका ज्ञान व शक्तियां निष्क्रिय पड़ी रहती हैं, उनकी सार्थकता प्रकट नहीं होती। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आज संसार में इस कोटि के लोग सबसे अधिक हैं। इस स्थिति में भगवान महावीर का यह वचन कि उत्थान पराक्रम एवं पुरुषार्थ से होता है अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसे हृदयंगम करने की अत्यंत आवश्यकता है।

भाग्य का स्थान

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या जीवन-विकास में भाग्य का कोई स्थान नहीं है। जीवन-विकास में भाग्य की कोई भी भूमिका नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता। उसकी भी अपनी एक भूमिका है, उसका भी अपना एक स्थान है, पर इतना सुनिश्चित है कि उसकी भूमिका या स्थान मुख्य नहीं है। मुख्य भूमिका या स्थान पराक्रम और पुरुषार्थ का ही है, क्योंकि उसी के आधार पर भाग्य निर्मित होता है। व्यक्ति जैसा पराक्रम और पुरुषार्थ करता है, उसी के अनुरूप भाग्य बनता और बिगड़ता है। भगवान महावीर ने इसी लिए पराक्रम और पुरुषार्थ पर सर्वाधिक बल दिया है। पुरुषार्थी व्यक्ति ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हुआ भी उससे भीख नहीं मांगता। वह तो उसे आदर्श के रूप में सामने रखता हुआ उससे प्रेरणा प्राप्त करता है और सही दिशा में पराक्रम और पुरुषार्थ का नियोजन कर अपनी मंजिल तक पहुंचता है। जो व्यक्ति

निर्वीर्य होता है, वह अपना लक्ष्य भेदने के लिए आवश्यक पराक्रम और पुरुषार्थ नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में सफलता बिलकुल नजदीक होकर भी उससे कोसों दूर रह जाती है।

व्यापारी पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें

आज भारतवर्ष की जो दुर्दशा हो रही है, उसका एक बहुत बड़ा कारण निर्वीर्यता है। समाज के सभी वर्गों में इस निर्वीर्यता का प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। मेरे समक्ष व्यापारी लोग बड़ी संख्या में उपस्थित हैं। व्यापारी वर्ग या व्यापार का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। अधिकतर व्यापारी लोग इस भाषा में सोचने लगे हैं कि बिना बेईमानी एवं अप्रामाणिकता का सहारा लिए काम नहीं चल सकता, हम व्यापार में सफल नहीं हो सकते, पर सचाई यह है कि ईमानदारी एवं प्रामाणिकता से व्यापार करने का उन्होंने साहस ही नहीं किया, उस दिशा में प्रयास ही नहीं किया, अपने पुरुषार्थ का नियोजन ही नहीं किया। यदि कुछ व्यापारी भगवान महावीर के पुरुषार्थ के दर्शन से प्रेरणा लेकर पूर्ण निष्ठा के साथ इस दिशा में प्रयास करें, अपने पुरुषार्थ का नियोजन करें तो मेरा विश्वास है कि न केवल उन्हें सफलता ही प्राप्त होगी, अपितु दूसरे-दूसरे व्यापारियों के लिए भी वे एक आदर्श व प्रेरक उदाहरण बनकर अनुकरणीय बन जाएंगे। अतः यह नितांत अपेक्षित है कि लोग पुरुषार्थ का सही-सही मूल्यांकन करते हुए अपनी पुरुषार्थ-चेतना जगाने के लिए सचेष्ट बनें। श्रमण-संस्कृति पुरुषार्थ की संस्कृति है। जैन-मुनि उसके प्रतीक और संवाहक हैं। वे स्वयं पुरुषार्थप्रधान जीवन जीते हैं और जन-जन के लिए इसके प्रेरणास्रोत बनते हैं। उनका सान्निध्य एवं संपर्क आपकी पुरुषार्थ-चेतना के जागरण में निमित्त और हेतुभूत बन सकता है।

कलकत्ता

१७ मार्च १९५९

४४ : श्रेय का संग्रहण करें

भगवान महावीर ने कहा—जं छेयं तं समायरे। इसका अर्थ है—जो श्रेय है, उसका आचरण करना चाहिए। आप पूछेंगे कि श्रेय क्या है। हमारे सामने दो ध्रुव हैं। पहला ध्रुव है—प्रेय और दूसरा ध्रुव है—श्रेय। श्रेय को समझने के लिए प्रेय को समझना भी आवश्यक है। प्रेय वह होता है, जो वर्तमान में बहुत प्रिय, रुचिकर एवं आकर्षक लगता है, पर उसका परिणाम भविष्य में अत्यंत अप्रिय, अरुचिकर, अनाकर्षक एवं कटु होता है। इससे ठीक विपरीत स्थिति है श्रेय की। वह वर्तमान के क्षणों में तो प्रिय, रोचक, चित्ताकर्षक एवं सुंदर प्रतीत नहीं होता, परंतु भविष्य में उसका जो परिणाम आता है, वह अतीव प्रियकर, रुचिकर, आकर्षक एवं सुंदर होता है। प्रेय और श्रेय का यह विवेचन प्रकारांतर से श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* में किया है। वहां प्रेय एवं श्रेय के स्थान पर 'सत्त्व', 'रजस्' और 'तमस्'—ये तीन भेद किए गए हैं। सात्त्विक वृत्ति श्रेय का प्रतीक है। वह वर्तमान में जहर और खड्ग की धार के समान प्रतीत होती है, परंतु अनागत में उसका जो परिणाम आता है, यह अमृतवत सुखद, तृप्तिकर एवं कल्याणकारी होता है। ऋषि-महर्षि, साधु-संत इसी पथ के पथिक होते हैं। दूसरी वृत्ति है—राजसिक। इस वृत्ति में इंद्रियजनित सुख और विलास प्राप्त होता है, पर यह सुख और विलास वास्तविक नहीं, अवास्तविक होता है। यह एक ऐसी दुर्गम घाटी है, जिसे विरले व्यक्ति ही पार सकते हैं। क्यों? यह इसलिए कि इस घाटी में रूप, सौंदर्य, वासना तथा इंद्रियजनित क्षणिक सुखों का आकर्षण और मोह रहता है। तीसरी वृत्ति तामसिक तो बहुत ही निकृष्ट है। उसका तो न प्रारंभ सुखद है और न परिणाम ही। इस वृत्तिवाला व्यक्ति निद्रा, प्रमाद, आलस्य, विकथा आदि में ही सुख मान लेता है।

प्रेय और श्रेय के इस भेद का ज्ञान हर व्यक्ति को करना चाहिए। जो व्यक्ति यह ज्ञान नहीं करता, उसका दूसरा-दूसरा विपुल ज्ञान भी एक

दृष्टि से बेकार है, पर ज्ञान का तात्पर्य इतना ही नहीं कि व्यक्ति प्रेय और श्रेय का भेद समझ ले। यह तो अधूरा ज्ञान है, जिसकी कि कोई बहुत सार्थकता नहीं है। उसकी सार्थकता तभी है, जब व्यक्ति प्रेय और श्रेय का भेद जानकर प्रेय का परित्याग कर दे और श्रेय का पथ स्वीकार कर ले।

कलकत्ता

१८ मार्च १९५९

४५ : गुरु कैसा हो

गुरु क्यों

श्रेय और प्रेय की विवेचना, विवेक-जागरण और बोधि-प्राप्ति के लिए सर्वसाधारण लोगों के लिए गुरु का होना नितांत आवश्यक है। गुरु की आवश्यकता आप्तपुरुष, तीर्थंकर या अवतारीपुरुष को नहीं होती, क्योंकि वे स्वयंबुद्ध और हंसविवेकयुक्त होते हैं, पर ऐसे व्यक्ति तो विरले ही होते हैं।

गुरु की अर्हता

गुरु कैसा हो? जो पूर्ण रूप से अहिंसक, सत्यवादी, अपरिग्रही और ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाला होता है, वही गुरु बनने का सच्चा अधिकारी होता है। गुरु बननेवाले के लिए अपेक्षित है कि वह स्वयं निःस्पृह, निष्पाप, संयमी और पारगामी हो तथा दूसरों को भी उस पथ पर अग्रसर करने में सक्षम हो। *गीता* में भी गुरु की अर्हताओं का उल्लेख प्राप्त है। वहां कहा गया है कि जो दुःखों में उद्विग्न न हो, कष्टों को आशीर्वाद और जीवन की कसौटी समझकर स्वीकार करे, जिसकी सुखों के प्रति आसक्ति न हो तथा जिसमें राग, भय, द्वेष और क्रोध न हो, वही गुरु होने के योग्य है। गुरु दीपक के समान होता है, जो कि अंधेरे में प्रकाश प्रदान करता है, पर प्रकाश वही दीपक दे सकता है, जो स्वयं उद्भासित हो। एक बुझा हुआ दीपक, दीपक नामधारी होने पर भी प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। अतः जिस-किसी को गुरु बना लेने की पद्धति उचित नहीं है। यह तो नौका के अभाव में पत्थर पर बैठकर समुद्र पार करने के प्रयास के समान है, जिसका कि परिणाम आप से अज्ञात नहीं है। सार-संक्षेप यह है कि सद्गुरु के अभाव में कुगुरु को स्वीकार करने की अपेक्षा निगुरा रह जाना ही श्रेयस्कर है।

उपयोगी है आलोचना

आलोचना बहुत ही लाभदायक और हितकर है, क्योंकि वह व्यक्ति के दोष निकलने में सहायक होती है, परंतु उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए, वरना वह निंदा की कोटि में समाविष्ट हो जाएगी। निंदा मनुष्य को पतन की ओर अग्रसर करती है। यदि गुरु में भी कोई दोष दीखे तो उन्हें स्पष्ट निवेदन करना चाहिए, न कि उसे छिपाना चाहिए या पीठ-पीछे उसकी चर्चा दूसरों के आगे करनी चाहिए। पीठ-पीछे चर्चा करना तो अत्यंत जघन्य वृत्ति है। इससे तो सलक्ष्य बचना चाहिए।

कलकत्ता

१९ मार्च १९५९

४६ : सभ्यता और संस्कृति

भारतीय संस्कृति की आधारशिलाएं

भारतीय संस्कृति एक महान संस्कृति है। सहिष्णुता, संतोष, उदारता, क्षमा, मैत्री और संयम उसकी आधारशिलाएं हैं। दूसरे शब्दों में ये उसके मूल आदर्श हैं, जिन्हें स्वीकार कर मानव कल्याण के पथ पर अग्रसर होता हुआ जीवन के प्रति अपना मोह भी तिरोहित कर देता है। भारतीय संस्कृति की इन्हीं विशेषताओं के कारण यहां चार्वाक दर्शन-नास्तिकवाद को भी विभिन्न-दर्शनों की तरह ही एक दर्शन का स्थान प्राप्त है। इस संस्कृति की बड़ी विशेषता यह है कि इसने बड़ी उदारतापूर्वक दूसरी-दूसरी संस्कृतियों से आदान-प्रदान किया है।

सांस्कृतिक तत्त्वों को आदान-प्रदान

आप देखें, भारतीय संस्कृति ने सारे संसार को संयम और सहिष्णुता की अमूल्य निधि का दान दिया है। यदि संसार से भारतीय वाङ्मय हटा दिया जाए तो वह इस दृष्टि से विपन्न हो जाएगा। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति से बाहरी तत्त्व हटा दिए जाएं तो उसमें एक अभाव नजर आने लगेगा। समझने की बात यह है कि बाहरी तत्त्व भी भारतीय संस्कृति में इस प्रकार घुल-मिल गए हैं, पच गए हैं कि उनके पृथक अस्तित्व का कोई पता नहीं चलता। वैसे निश्चय में तो सांस्कृतिक तत्त्व सबके एक ही हैं। उनमें भारतीय और अभारतीय का कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार जाति, रंग, लिंग आदि बाहरी भेदों के बावजूद मानवता और मानव-जाति संपूर्ण विश्व की एक है, ठीक उसी प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और देशों में विकसित होने के कारण सांस्कृतिक तत्त्वों को भी अलग-अलग पहचान मिल गई, पर वास्तव में उनमें अभेद है। इस परिप्रेक्ष्य में जो सांस्कृतिक तत्त्व विशेष रूप से भारतवर्ष में विकसित हुए, उन्हें भारतीय संस्कृति के रूप में पहचाना जाने लगा।

संस्कृति के दो विभाग

प्रकृति की दृष्टि से संसार की सारी संस्कृतियों को दो भागों में बांटा जा सकता है—त्यागमूलक संस्कृति और भोगमूलक संस्कृति। दूसरे शब्दों में अच्छी संस्कृति और बुरी संस्कृति। भारतीय संस्कृति त्यागमूलक संस्कृति है। यही तो कारण है कि यहां महता धन और धनकुबेरों की नहीं, अपितु अकिंचन फकीरों की है। बड़े-बड़े अर्थपति एवं सत्ताधीश त्यागी संतों के चरणों में मस्तक झुकाकर धन्यता की अनुभूति करते हैं। हालांकि आज इसमें कुछ विकृति प्रविष्ट कर गई है। अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य इसे दूर करना है। वह जन-जन को भोग से त्याग और संयम की ओर मुड़ने का आह्वान करता है, मानवता के विकास और जीवन की शुद्धि का रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

भारतीय संस्कृति की विलक्षणता

भारतवर्ष सदियों की दासता के बाद आज स्वतंत्र है। बावजूद इसके, अब भी राष्ट्र की वैसी स्थिति नहीं है कि जिसे देखकर यह अनुमान किया जा सके कि यह भारतवर्ष अतीत में कभी सारे संसार का गुरु था, आध्यात्मिक पथ-दर्शक था, पर भारतीय संस्कृति में कैसी विलक्षणता है कि इसके बावजूद त्रस्त विश्व की आंखें शांति, सुरक्षा एवं पथ-दर्शन के लिए भारत की ओर लगी हैं। यह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि भारतीय संस्कृति में अवश्य कोई एक अदृश्य अद्भुत शक्ति है, जो विश्व को अपनी ओर आकृष्ट करती है। वह शक्ति है—अहिंसा की शक्ति। अपनी अहिंसामूलक संस्कृति के प्रभाव के कारण भारत ने संहारक, विध्वंसात्मक शक्ति का विकास नहीं किया। इसने विकास किया—मैत्री का, सह-अस्तित्व का। भाषांतर से कहूं तो यह शक्ति त्याग एवं संयममूलक संस्कृति की है।

सभ्यता और संस्कृति

बहुत-से लोग नृत्य,संगीत, वाद्य आदि के कार्यक्रमों को संस्कृति और सांस्कृतिक कार्यक्रम मानते हैं। मेरी दृष्टि में ऐसा मानना गलत है। इसी प्रकार बाह्य रीति-रिवाजों को संस्कृति मानना भी उचित नहीं है। फिर इन रीति-रिवाजों के नाम पर होनेवाले नर-संहार आदि का तो संस्कृति से कोई दूर-दराज का भी संबंध नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि आज के बुद्धिवादी लोग भी इस विचार-प्रवाह में बह रहे हैं। इस प्रकार की मान्यता और समझ रखनेवाले लोगों को अपनी

मान्यता और समझ में पर्याप्त परिष्कार करने की अपेक्षा है। वस्तुतः समाजविशेष या क्षेत्रविशेष के रीति-रिवाज सभ्यता के अंतर्गत समाविष्ट होते हैं। सभ्यता और संस्कृति दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। उन्हें एक करने की भूल नहीं होनी चाहिए।

संस्कृति बहुत गहरा तत्त्व है। उसे समझने के लिए न केवल उसका शब्दार्थ जानना अपेक्षित है, अपितु उसके अंतर्निहित संकेत और भावना को भी आंकने व परखने की जरूरत है। इसके अभाव में उसका सम्यक अवबोध नहीं हो सकता। संस्कृति संस्कार को कहते हैं। साथ ही जिन साधनों के द्वारा संस्कार प्राप्त होते हैं, वे भी संस्कृति के अंग हैं। इस प्रकार मानवता और उसके विकास के साधन दोनों ही संस्कृति हैं।

शिक्षायतन हॉल, कलकत्ता

१९ मार्च १९५९

४७ : कर्म-बंधन के प्रति सजग बनें

बंधन : मुक्ति

यह एक शाश्वत सचाई है कि बंधन कष्टकर होता है और मुक्ति आह्लाददायक। दूसरे शब्दों में बंधन दुःख है और मुक्ति सुख। दुःख-सुख की इससे अधिक तथ्यपरक और क्या मीमांसा हो सकती है? बंधन और मुक्ति की इससे सीधी और सरल क्या परिभाषा हो सकती है? बंधन क्या है? मुक्ति क्या है? तत्त्व की भाषा में आत्मा का कर्मों से जकड़ना बंधन या बंध है और उनसे छूटना मुक्ति है, मोक्ष है।

पुद्गल परम उपकारी हैं

कर्मों के बारे में जैन-दर्शन में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। उसके अनुसार कर्मों के आठ प्रकार हैं और वे आठों ही प्रकार के कर्म पुद्गल हैं। पुद्गल जैन-दर्शन का परिभाषिक शब्द है। स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त द्रव्य पुद्गल है। संसार में जितने मूर्त/दृश्य पदार्थ हैं, वे सभी पुद्गल हैं। पुद्गल को सामान्य भाषा में भौतिक पदार्थ या जड़ पदार्थ भी कहा जाता है। पूरे संसार में पुद्गल भरे पड़े हैं। वे विभिन्न रूपों में हमारे उपयोग में आते हैं। हम खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि के रूप में जितनी भी चीजों का उपयोग करते हैं, वे सभी पुद्गल हैं। और तो क्या, श्वास के रूप में ग्रहण की जानेवाली वायु भी पुद्गल है। पुद्गल एक दृष्टि से हमारे परम उपकारी हैं। हमारी छोटी-बड़ी हर प्रवृत्ति में उनका अनिवार्य सहयोग होता है। उनके सहयोग के अभाव में हम कोई प्रवृत्ति नहीं कर सकते। यहां तक कि हमारे बोलने और चिंतन-मनन करने में भी उनका अनिवार्य सहयोग होता है। सभी पुद्गल रूपी हैं, मूर्त हैं, किंतु हमारी आंखों के विषय मात्र बहुत स्थूल-स्थूल पुद्गल ही बनते हैं। सूक्ष्म पुद्गल हम नहीं देख सकते।

कर्म-बंधन के प्रति सजग बनें

● ११३ ●

कर्म-बंधन और फल-भोग

कर्मों के पुद्गल बहुत सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उन्हें देखा जाना संभव नहीं है। बावजूद इसके, उनसे संसारी आत्मा प्रभावित होती रहती है। शरीर, वचन और मन तीनों ही स्तरों पर प्राणी जितनी प्रवृत्तियां करता है, उनसे कर्म आकर्षित होते हैं और वे प्राणी की आत्मा पर जम जाते हैं। इसे कर्म का बंध कहा जाता है। कैसी बात है कि कर्मों के बंध के साथ ही आत्मा पर जमे रहने की उनकी अवधि और उनके विसर्जन-काल का निर्धारण हो जाता है! काल-परिपाक के साथ जब वे कर्म उदय में आते हैं, तब अपनी प्रकृति के अनुरूप शुभ और अशुभ परिणाम देते हैं, पर इस संदर्भ में एक बात बहुत गहराई से समझ लेने की है। बंधे हुए सभी कर्म भोगने ही पड़ें, ऐसी बात नहीं है। तपस्या और साधना के द्वारा बहुत-से कर्म उनके उदय-काल या विसर्जन-काल से पूर्व भी समाप्त किए जा सकते हैं। कुछ-एक कर्म तो ऐसे होते हैं, जिनकी आलोचना कर लेने और भविष्य में उनके बंधन की हेतुभूत प्रवृत्ति न दोहराने की सजगता से ही वे विलग हो जाते हैं। कुछ-एक कर्मों से छुटकारा पाने के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करना होता है। हां, कुछ-एक कर्म ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। व्यक्ति का पुरुषार्थ, तपस्या-साधना उन्हें तोड़ने में सक्षम नहीं होती। ऐसे कर्मों को *निकाचितकर्म* की संज्ञा दी गई है। पर ऐसे कर्म आनुपातिक दृष्टि से बहुत ही कम होते हैं। नाम मात्र होते हैं। प्रायः कर्मों से तो व्यक्ति अपने प्रबल पुरुषार्थ यानी तपस्या-साधना के सहारे उनके उदय रूप में परिणाम देने से पहले ही छूट सकता है। इसलिए ऐसा कहना एकांततः उचित नहीं है कि एक बार जो कर्म-बंधन हो गया, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं।

आसक्ति और बंधन

किसी कर्म-बंधन का हलका, प्रगाढ़ या निकाचित होना इस बात पर निर्भर करता है कि उस बंधन की हेतुभूत प्रवृत्ति के साथ व्यक्ति की आसक्ति कितनी जुड़ी हुई है। यह कैसी बात है कि व्यक्ति स्वयं कर्मों का बंधन करता है और जब वे उदय रूप में आकर अपना कटुक फल देते हैं, तब वह आंसू बहाता है! बहुत बार तो वह निष्प्रयोजन या बिना किसी खास प्रयोजन के प्रगाढ़ बंधन कर लेता है। हंसी-मजाक में कभी-कभी व्यक्ति ऐसा अशुभ बंधन कर लेता है कि जिसका भयंकर कटुक

परिणाम भोगना पड़ता है।

होली आत्मोत्सर्ग एवं आत्मोदय के साथ मनाएं

अभी सामने होली का त्यौहार है। इस अवसर पर होनेवाला अभद्र एवं अश्लील व्यवहार न केवल प्रगाढ़ अशुभ कर्म-बंधन का हेतु है, अपितु भारतीय संस्कृति पर कलंक का टीका है। अपेक्षा है, इस त्यौहार को सभी प्रकार की विकृतियों से मुक्त किया जाए। लोग अशिष्ट हंसी-मजाक, अभद्र एवं अश्लील व्यवहार का त्याग कर इसे आत्मोत्सर्ग और आत्मोदय के रूप में मनाएं। इससे पर्व का स्वरूप तो निखरेगा ही, वे अशुभ कर्म-बंधन से भी बचेंगे।

होली पर्व की बात तो मैंने प्रासंगिक रूप में कही। मूल मुद्दे की बात यह है कि व्यक्ति कर्म-बंधन में स्वतंत्र है, पर फल भुगतने में स्वतंत्र नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह कर्मों का कट्टा परिणाम भोगना नहीं चाहता तो उसे कर्म-बंधन के प्रति सजग बनना चाहिए। यानी वह अपने मन, वचन और काया से कोई ऐसी दुष्प्रवृत्ति न करे, जिससे अशुभ बंधन हो। यह सजगता उसे दुःख भोगने की स्थिति से बचाएगी।

कलकत्ता

२१ मार्च १९५९

४८ : व्यापारी सत्यनिष्ठ एवं प्रमाणिक बनें

अर्थ जीवन-साध्य नहीं है

मैं देख रहा हूँ, आज लोगों में अधिक-से-अधिक अर्थ-संग्रह की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। इसके लिए भ्रष्ट-से-भ्रष्ट तरीका अपनाते हैं भी उन्हें कोई संकोच और परहेज नहीं है। ऐसा क्यों? इसकी कारण-मीमांसा में जाएं तो पहली बात तो यह है कि आज अर्थ को अतिरिक्त मूल्य मिल गया है। यों मैं मानता हूँ कि गृहस्थ-जीवन अर्थ के साथ जुड़ा हुआ है। एक सीमा तक उसकी आवश्यकता को यथार्थवादी दृष्टिकोण रखनेवाला कोई भी व्यक्ति नकार नहीं सकता। उसे नकारने का मतलब है—एक यथार्थ की अनदेखी करना, एक सत्य को झुठलाना। बावजूद इसके, इतना बहुत स्पष्ट है कि वह मनुष्य-जीवन का साध्य नहीं है, परम लक्ष्य नहीं है। उसकी आवश्यकता इसी सीमा तक है कि वह जीवनयापन का साधन है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति उसके माध्यम से होती है, किंतु आज तो लोगों ने उसे साधन के स्थान से उठाकर साध्य की भूमिका में प्रतिष्ठित कर दिया है। मेरी दृष्टि में यह प्रतिष्ठापन बहुत ही अनुचित है। अर्थ के इस अतिरिक्त मूल्य एवं अस्थानीय प्रतिष्ठापन ने अधिक-से-अधिक अर्थ-संग्रह, भ्रष्टाचार, शोषण-जैसी अनेक अवांछनीय प्रवृत्तियों को बढ़ावा और जन्म दिया है।

प्रदर्शन और पोजीशन की बीमारी

अर्थ-संग्रह का एक अन्य बड़ा कारण दिखावा तथा पोजीशन बनाए रखने की तुच्छ मनोवृत्ति है। यह अमूमन देखने में आता है कि व्यक्ति प्रदर्शन एवं पोजीशन के लिए अपनी आर्थिक शक्ति और सामर्थ्य से बाहर जाकर भी खर्च करता है, फिजूलखर्ची करता है। इस कारण समाज में गलत प्रतिस्पर्धा पैदा होती है और इसकी विशाल परिधि में तरह-तरह की बुराइयों को फलने-फूलने का मौका मिलता है। व्यक्ति भ्रष्टाचार,

अनैतिकता, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, मिलावट आदि की तरफ झुकता है, इनमें प्रवृत्त होता है।

अनंत हैं इच्छाएं-आकांक्षाएं.

असीमित इच्छाएं-आकांक्षाएं पालना अर्थ-संग्रह का तीसरा कारण है। आप निश्चित मानें कि जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति तो संभावित है, पर इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति कभी संभावित नहीं है, क्योंकि इच्छाएं-आकांक्षाएं आकाश की तरह अनंत हैं। एक इच्छा-आकांक्षा की पूर्ति होती है और उसके साथ ही दो नई इच्छाएं-आकांक्षाएं जनम जाती हैं। उन दो इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति होती है कि अन्य चार इच्छाएं-आकांक्षाएं प्रकट हो जाती हैं; और यह सिलसिला आगे-से-आगे बढ़ता चला जाता है। व्यक्ति इनकी पूर्ति के लिए बेचैन रहने लगता है; और यह बेचैनी उसे अधिक-से-अधिक धन का अर्जन करने के लिए प्रेरित करती रहती है। ऐसी स्थिति में उसके सामने साधन-शुद्धि की बात गौण हो जाती है। वह भ्रष्टाचार, अनैतिकता, रिश्वतखोरी, शोषण आदि में प्रवृत्त होते कोई संकोच और परहेज नहीं करता। दूसरे शब्दों में वह अपनी धार्मिकता का आधार नष्ट कर देता है, एक सदगृहस्थ और सन्नागरिक कहलाने का भी अधिकारी नहीं रहता। इसी लिए भगवान महावीर ने कहा कि सदगृहस्थ या सन्नागरिक वही है, जिसकी इच्छाएं-कामनाएं सीमित हैं, परिग्रह अल्प है। इच्छा-आकांक्षा व परिग्रह के अल्पत्व से जीवन-वृत्ति में सहज धार्मिकता आती है। फिर व्यक्ति कोई भी भ्रष्ट आचरण नहीं कर सकता, अनैतिकता, बेईमानी और अप्रामाणिकता नहीं बरत सकता, रिश्वत नहीं ले सकता, शोषण नहीं कर सकता, व्यवहार में असत्य नहीं चला सकता।

सच्ची धार्मिकता का आधार

आप यह बात आत्मसात करें कि जीवन में जितना-जितना सदाचार है, सत्य का व्यवहार है, सच्चरित्रता है, प्रामाणिकता, नैतिकता और ईमानदारी है, वह सब धर्म है। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति धार्मिक बनता है। यदि ये तत्त्व उसके जीवन-व्यवहार में नहीं हैं तो उसकी धार्मिकता का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। फिर भगवान का नाम लेने और पूजा-पाठ करने मात्र से वह सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति को सत्य, सदाचार, सच्चरित्र, नैतिकता,

व्यापारी सत्यनिष्ठ एवं प्रामाणिक बनें

● ११७ ●

प्रामाणिकता के आधार पर धार्मिक बनाने का उपक्रम है। वह समाज के सभी वर्गों को नैतिक, प्रामाणिक और सच्चरित्र देखना चाहता है। छोटे-छोटे संकल्पों के द्वारा दुष्प्रवृत्तियों से दूर कर उन्हें सदाचारी बनाना चाहता है। व्यापारी वर्ग के लिए भी उसमें बेमेल मिलावट नहीं करना, तौल-माप में कमी-बेशी नहीं करना-जैसे कुछ संकल्प हैं। वे संकल्प स्वीकार कर व्यापारी लोग अपना व्यापारिक व्यवहार स्वस्थ बना सकते हैं। आशा करता हूं, उपस्थित व्यापारी आंदोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि समझकर उसके व्रत स्वीकार करेंगे और अपने व्यापार में सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता व ईमानदारी का व्यवहार कर दूसरों के लिए प्रेरक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

कलकत्ता

२१ मार्च १९५९

४९ : आचार जीवन की मूल पूंजी है

वह धर्म नहीं, जिससे अधर्म भयभीत न हो उठे। वह अहिंसा नहीं, जिससे हिंसा थर्रा न जाए। वह सत्य नहीं, जिससे असत्य कंपित न हो जाए। मैं समझता हूँ, धर्म, अहिंसा और सत्य के सहज ओज से इनके विरोधी पक्षों में अकुलाहट-घबराहट उत्पन्न होनी ही चाहिए। तभी धर्म, अहिंसा और सत्य की सच्ची सफलता है, तभी उनकी तेजस्विता प्रकट होती है।

धर्म आत्मा का स्वभाव है

धर्म आत्मा का विषय है। वह बाहर से थोपी जानेवाली वस्तु नहीं है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव धर्म है। वह विवेक में समाश्रित है। अविवेक और धर्म का परस्पर कोई मेल नहीं, दूर का भी मेल नहीं। यह एक कटु सचाई है कि अविवेकियों के हाथों में पड़कर धर्म की बड़ी बदनामी हुई है। उसे अफीम तक कहा गया है। एक अपेक्षा से यह कथन गलत भी नहीं है। स्वार्थी और अविवेकी लोगों ने क्या-क्या अनुचित कृत्य और अधर्म नहीं किया ! आप जरा देखें, जो धर्म पारस्परिक सौहार्द और मैत्री का संदेशवाहक है, उसके नाम पर वैमनस्य उत्पन्न किया गया, बड़े-बड़े विवाद और संघर्ष खड़े किए गए, खून की नदियां बहाई गईं। आज भी हम देखते हैं कि धर्म और धर्म-प्रवर्तकों के नाम का खुलकर दुरुपयोग होता है। बीड़ी के व्यापारी अपनी बीड़ी के साथ महावीर और बुद्ध के नाम जोड़कर क्या उन महापुरुषों का भयंकर दुरुपयोग नहीं कर रहे हैं? कल क्या शराब पर भी लोग ऐसे महापुरुषों की छाप नहीं लगाएंगे? जिन दुकानों पर भ्रष्ट-से-भ्रष्ट कार्य होता है, उन पर भी गांधीजी की तस्वीर रहती है। मैं नहीं समझता कि इससे बड़ी आत्म-विडंबना और धोखा क्या होगा! ये सब अविवेक के उदाहरण हैं।

आचार जीवन की मूल पूंजी है

● ११९ ●

विवेकः पृथगात्मकता

पूछा जा सकता है कि विवेक किसे कहते हैं। तात्त्विक दृष्टि से पृथगात्मकता का नाम विवेक है। पृथगात्मकता यानी मिली हुई वस्तुएं पृथक-पृथक कर देना। जो जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना। इस विवेक के सहारे व्यक्ति आत्मा और अनात्मा का भेद समझता है, समझने के बाद आत्मपक्ष पर बल देता है। गहराई से देखा जाए तो आत्मपक्ष मजबूत बनाना ही जीवन का सही लक्ष्य है।

धर्म का मूल

धर्म का मूल विनय है, पर उसे मात्र औपचारिक झुकने या नमने तक ही सीमित नहीं करना चाहिए। उसका वास्तविक अर्थ है—आंतरिक नम्रता, ऋजुता, स्वच्छता और कोमलता। शास्त्रों में उसका विशाद विवेचन प्राप्त है। उसके सात भेद बताए गए हैं—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और उपचार-विनय। एक शब्द में कहा जाए तो उसका अर्थ है—आचार यानी चरित्र।

जीवन की मूल पूंजी

मैं मानता हूँ, आचार जीवन की मूल पूंजी है। इस धन से संपन्न व्यक्ति वास्तव में संपन्न है। जिसके पास यह पूंजी नहीं है, वह धनी नहीं है, महादरिद्र है, भले वह कितना ही बड़ा अर्थपति क्यों न हो। यह कितनी गंभीर चिंतनीय बात है कि आज मानव जीवन की यह मूल पूंजी टुकराकर एकमात्र पैसे के पीछे पागल-सा बन रहा है। उसके समक्ष अपना एक ही लक्ष्य है कि येन केन प्रकारेण अधिक-से-अधिक पैसा अर्जित और संगृहीत किया जाए। **संयमः खलुः जीवनम्—संयम ही जीवन है** के स्थान पर 'पैसा ही जीवन है' को उसने अपना आदर्श-सूत्र बना लिया है। इस अर्थप्रधान या अर्थकेद्रित चिंतन ने समाज में अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां एवं भ्रष्टाचार पनपने की उर्वरा तैयार की है।

एक अभिशाप

आज दहेज की प्रवृत्ति का जो विकृत रूप बना है, उसके मूल में यह अर्थप्रधान मनोवृत्ति ही है। एक समय था, जब भारत में दूध, घी और विद्या—तीनों चीजें बेची नहीं जाती थीं, पर उसी भारत-भूमि पर आज ऐसा युग हम आंखों से देख रहे हैं, जिसमें लोग अपना रक्त बेचने में भी नहीं सकुचाते। फिर यह कोई गरीब और सामान्य लोगों की बात

नहीं, अपितु बड़े-बड़े धनपतियों की स्थिति है! वे भेड़-बकरियों की तरह अपने लड़के-लड़कियों को खुले-आम बेच रहे हैं। मैं मानता हूँ, धन के लिए लड़के-लड़कियों को बेचा जाना समाज के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, उस पर कलंक का टीका है। इस दुष्प्रवृत्ति ने समाज का कितना पतन और अहित किया है, यह आपसे छिपा नहीं है। लड़कीवालों को पचीस-पचीस हजार तीस-तीस हजार रुपए देने के लिए बाध्य किया जाना निःसंदेह अत्यंत हीनवृत्ति का परिचायक है। ऐसा लगता है कि पैसा ही लोगों के लिए सर्वस्व बन गया है। यह उन लड़के-लड़कियों के लिए बड़ी लज्जा और गंभीर चिंतन की बात है, जो इस प्रकार पशुओं की तरह बिकना मंजूर कर लेते हैं। वे यदि साहस जुटाकर इसके प्रतिरोध में खड़े हो जाएं और बिकना अस्वीकार कर दें तो इस अभिशाप को दूर करने का काम बहुत सुगम हो जाए। अपने-आपको धार्मिक माननेवालों से भी कहना चाहूंगा कि वे यह घातक प्रवृत्ति छोड़ें।

संयम को सर्वोच्च मूल्य मिले

विवाह-सगाई के प्रसंग में लड़के-लड़कियों की बिक्री की तरह ही न जाने कितनी दुष्प्रवृत्तियां अर्थकेंद्रित चिंतन के फलस्वरूप समाज में परिव्याप्त हो गई हैं। समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं है, जो बुराइयों से सर्वथा अछूता हो। मैं मानता हूँ, जब तक अर्थ के स्थान पर संयम जीवन का सर्वोच्च मूल्य नहीं बनेगा, तब तक इस स्थिति में कोई मौलिक अंतर आना असंभव है। कालक्षेप के साथ बुराइयां अपना रूप बदल-बदलकर समाज पर छाई रहेंगी। इसलिए अपेक्षित है कि लोग अर्थ के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करें; संयम का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए उसे अपने सही स्थान पर प्रतिष्ठित करें। अणुव्रत-आंदोलन संयम की चेतना जगाने का आंदोलन है, उसे जीवन के सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न है। आप इस आंदोलन की आचार-संहिता स्वीकार कर अपना जीवन संयमोन्मुख बनाएं। इससे आपकी धार्मिकता को सही आधार मिलेगा। आप वास्तविक सुख और शांति की अनुभूति से गुजर सकेंगे।

कलकत्ता

२२ मार्च १९५९

आचार जीवन की मूल पूंजी है

● १२१ ●

५०: अहिंसा प्राणिमात्र के लिए क्षेमंकरी है

धर्म और अहिंसा का दुरुपयोग क्यों

आज सर्वत्र राजनीति का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। और तो क्या, धर्म को भी लोग राजनीति के रंग से रंगना चाहते हैं। अहिंसा-जैसे तत्त्व को भी राजनीति के मंच पर घसीट लाए हैं। भाषणों में अहिंसा के उच्च आदर्शों की बड़ी-बड़ी बातें और हृदय में हिंसा का हलाहल! यह स्थिति अहिंसा को राजनीति के रंगमंच पर घसीटना नहीं है तो और क्या है? क्या यह अहिंसा और धर्म की विडंबना नहीं है? संसार में हिंसा की आग भड़कानेवाले अहिंसा का उपदेश दें, उसे अपनाने की बातें करें, समूचे संसार को कुचल देने का दुराशय रखनेवाले शांति का सम्मेलन बुलाएं, यह कैसी विसंगति है ! पर आज कुछ ऐसा ही हो रहा है। यह सर्वथा अनधिकृत चेष्टा है। वस्तुतः अहिंसा और शांति की चर्चा करने के अधिकारी वे ही हैं, जो अहिंसा और शांति को जीते हैं, जिनके जीवन में अहिंसा और शांति व्याप्त है।

अहिंसा की सही समझ

हिंसा और अहिंसा के संदर्भ में लोगों की समझ बहुत आधी-अधूरी है। प्रायः लोग पीटना, हाथ-पैर तोड़ देना, अंग-भंग कर देना, मार देना आदि को हिंसा और इससे उपरत होने को अहिंसा समझते हैं, पर जैन-तीर्थंकरों ने हिंसा-अहिंसा के बारे में बहुत व्यापक स्तर पर चिंतन किया है। उन्होंने कहा—‘किसी प्राणी को मत मारो, उसे अधीन मत बनाओ, उस पर हुकूमत मत करो, उसके अधिकारों का अपहरण मत करो……’ यह अहिंसा का स्वरूप है, अहिंसा का घोष है। अहिंसा की साधना के लिए व्यक्ति शरीर वाणी और मन-तीनों ही स्तरों पर दुष्प्रवृत्ति से बचे, यह अपेक्षित है। कायिक हिंसा ही हिंसा नहीं है, वाणी का दुष्प्रयोग भी हिंसा है, मन का दुश्चिंतन भी हिंसा है। किसी की

प्राण-हत्या ही हिंसा नहीं है, किसी को गाली देना भी हिंसा है, किसी का मन दुखाना भी हिंसा है, किसी का अहित सोचना भी हिंसा है।

अहिंसा की परंपरा

अहिंसा धर्म का एक शाश्वत और मौलिक सिद्धांत है। इस विचार के विकास की एक लंबी परंपरा है। असंख्य वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक काल में आदि तीर्थांकर ऋषभ हुए थे। उन्होंने अहिंसा-धर्म का निरूपण किया। वैदिक परंपरा में घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो उपदेश दिया, उसमें भी अहिंसा का निर्देश हुआ है।

अहिंसा का फलित

अहिंसा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संसार के छोटे-से-छोटे प्राणी से लेकर बड़े-से-बड़े प्राणी तक सभी का क्षेम करनेवाली है। जीवन में स्थान पाते ही यह आत्म-शुद्धि शुरू कर देती है। हालांकि अपनी प्रतिष्ठा के साथ ही यह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि जीवन के विभिन्न पक्षों में भी शुद्धीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ कर देती है, पर यह उसका गौण परिणाम है। मुख्य फल आत्म-शुद्धि ही है।

अणुव्रत-आंदोलन : अहिंसा का सक्रिय प्रयोग

हम वर्षों से अणुव्रत-आंदोलन के रूप में एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चला रहे हैं। एक अपेक्षा से यह अहिंसा का ही एक रचनात्मक एवं सक्रिय प्रयोग है। छोटे-छोटे व्रतों की आचार-संहिता के माध्यम से यह लोक-जीवन को हिंसा से अहिंसा की ओर मोड़ने का प्रयत्न कर रहा है, उसे असंयम से संयमाभिमुख बनाने की दिशा में कार्य कर रहा है। आपसे अपेक्षा है कि आप इस आंदोलन के उद्देश्य, दर्शन एवं कार्यपद्धति से परिचित होकर इसके साथ सक्रिय रूप में जुड़ें और अहिंसा की प्रतिष्ठा में अपनी संभांगिता सुनिश्चित करें।

इस्टीट्यूट हॉल, कलकत्ता यूनिवर्सिटी

कलकत्ता

२२ मार्च १९५९

५१ : आशातना से बचें

सामाजिक जीवन की मर्यादा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है। समाज का एक अंग है। यदि वह अकेला होता तो संभवतः असत्य, शोषण, चोरी, बलात्कार आदि दोषों में नहीं फंसता। क्यों? यह इसलिए कि प्रायः संघर्ष, द्वैध या विकार एक से अधिक की स्थिति में ही पैदा होता है। सामाजिक प्राणी की अपनी कुछ मर्यादाएं होती हैं। उसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह अपने सुख-दुःख की बात सोचे, बल्कि उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह पराए सुख-दुःख के प्रति भी संवेदनशील रहे, जागरूक रहे। इस बात का सदैव सलक्ष्य ध्यान रखे कि उसकी किसी प्रवृत्ति से किसी का उत्पीड़न न हो, किसी को कष्ट न पहुंचे, किसी का मन न दुखे। उसके हर व्यवहार में विनय, नम्रता, मैत्री एवं सौजन्य की पुट रहे। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस दृष्टि का अनुकरण करे तो कोई कारण नहीं कि सामाजिक जीवन में अशांति और असद्भावना हो। मूलतः तो यह व्यक्ति की अपनी साधना है, पर समाज से संबद्ध होने के कारण सामाजिक जीवन में शुद्धि लाने का भी सहज साधन बन जाती है।

पारस्परिक व्यवहार की सात्त्विकता का आधार

आप देखें, संसार में गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन, नेता-अनुयायी, स्वामी-सेवक आदि संबंध होते हैं। इस स्थिति में पारस्परिक व्यवहार सात्त्विक एवं पवित्र बनाए रखने के लिए यह नितांत अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आशातना न करे। शिष्य गुरु की आशातना न करे, पुत्र पिता की आशातना न करे, अनुगामी नेता की आशातना न करे.....पर इसका यह अर्थ नहीं कि आशातना केवल छोटों से होती है, बड़ों से नहीं होती। वह छोटों की

तरह बड़ों से भी हो सकती है। मूलतः उसमें छोटे और बड़े का कोई भेद है ही नहीं। वह सभी से समान रूप से संबद्ध है। बेटे से बाप की आशातना हो सकती है तो बाप से भी बेटे की। सेवक से स्वामी की आशातना हो सकती है तो स्वामी से भी सेवक की। इसलिए मैं बड़ों से कहना चाहूंगा कि वे भी छोटों की आशातना से सलक्ष्य बचने का दृष्टिकोण बनाएं। छोटे तो बड़ों की आशातना से बचें ही।

क्या है आशातना

आप पूछेंगे कि आशातना कहते किसे हैं। हां, यह बात समझ लेनी चाहिए। आशातना जैन-परंपरा का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अशिष्ट व्यवहार करना, अनादर करना, तिरस्कार करना, व्यथित करना। संक्षेप में कहूं तो अनुचित व्यवहार करना। मैं समझता हूं, यदि व्यक्ति-व्यक्ति अनाशातना का सूत्र गहराई से पकड़ ले तो सामाजिक जीवन के अशांत होने का रास्ता ही अवरुद्ध हो जाए।

कलकत्ता

२७ मार्च १९५९

५२ : जैन-आगमों में भारतीय जीवन

जैन वाङ्मय के दो वर्ग हैं—मूल *आगम* तथा उत्तरवर्ती साहित्य। मूल *आगमों* की भाषा अर्ध मागधी और प्राकृत है। उत्तरवर्ती ग्रंथ प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में हैं। जैन-दर्शन, जैन-संस्कृति और भारतीय जीवन की सर्वांगीण जानकारी प्राप्त करने के लिए मूल *आगम* जानना अत्यंत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है।

आगम पढ़ने से यह पता चलता है कि तात्कालीन सामाजिक जीवन श्रद्धा, विश्वास और संतोषप्रधान था। जीवन का एक भाग लोग अध्यात्म-साधना में लगाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझते थे। आजकल की तरह वह मात्र भौतिक साधना में ही नहीं लगता था। उस समय के लोग अत्यंत सुखी थे, ऐसा *आगमों* में उपलब्ध अनेक उत्सवों के वर्णन से अनुमित होता है। यह भी पता चलता है कि लोग सामूहिक जीवन जीते थे। बड़े-बड़े कुटुंबों में एक साथ रहते थे। उनका कौटुंबिक जीवन बहुत ही संगठित था। सामुदायिक व्यवसाय-पद्धति का भी प्रचलन था। जलमार्ग और स्थलमार्ग—दोनों से ही व्यावसायिक विदेश-यात्राओं का वर्णन प्राप्त होता है।

आगमों में युद्धों एवं उनमें होनेवाले नर-संहार, दंड आदि का भी उल्लेख मिलता है। दंड न केवल राजसत्ता के द्वारा, अपितु कुटुंब के द्वारा भी दिया जाता था। प्राण-दंड दिए जाने का भी प्रचलन था।

आगमों में अरण्यवासी संन्यासियों द्वारा किए गए धर्म एवं संप्रदाय-परिवर्तन का भी उल्लेख है। व्रत और संयम को मुक्ति का मार्ग समझा जाता था। भले आजकल बहुत-से लोग व्रत और संयम को बंधन मानने लगे हैं, पर तत्त्वतः स्वेच्छा से स्वीकृत व्रत और संयम मुक्ति का मार्ग ही है। इसलिए अणुव्रत-आंदोलन आत्म-संयम पर बल देता है, व्रती बनने की प्रेरणा करता है।

हम एक बात गहराई से समझें कि अतीत के गीत गाना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। बहुत महत्त्वपूर्ण है—वर्तमान भारतीय जीवन का परिमार्जन करना। इसके लिए आत्म-चिंतन, आत्मनिरीक्षण और आत्म-परिमार्जन की आवश्यकता है। अणुव्रत-आंदोलन से इस आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। अपेक्षा है, आप लोग इस आंदोलन से जुड़कर जीवन-परिष्कार के लक्ष्योन्मुख गति करें। इससे आपके अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त बनेगा।

रोयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

२८ मार्च १९५९

५३ : विरोध भी उपयोगी है

यह जीवन संयोग और वियोग का संगम है। व्यक्ति अनकूलता का कामी तो हो सकता है, पर उसे सदा अनुकूलता प्राप्त हो, यह संभव नहीं है। उसके मन के अनुकूल, चाह के अनुरूप पदार्थ, व्यक्ति और अवसर का संयोग सदैव मिलता रहे, ऐसा होता नहीं। आज अनुकूलता है तो कल प्रतिकूलता भी संभावित है। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थी व्यक्ति को कठिन-से-कठिन परिस्थिति एवं भयंकर-से-भयंकर प्रतिकूलता में भी अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए, पर आज ऐसा कम देखने में आता है। कोई पुत्र-वियोग से पीड़ित है, किसी को अर्जित धन के नष्ट हो जाने का विषाद है, किसी को आधि-व्याधि का कष्ट है। धर्म यह सिखाता है कि प्रतिकूल एवं अनुकूल दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति को अपना संतुलन बनाए रखना चाहिए। ऐसे व्यक्ति, जो संपत्ति में फूले नहीं समाते और विपत्ति में जिनके दुःख का कोई पार नहीं रहता, अपने जीवन में क्या कर सकते हैं!

महाभारत में कुंती का एक प्रसंग आता है। भगवान से वर की याचना करती हुई वह कहती है—‘मुझे सदैव विपत्तियों का सामना करना पड़ता रहे।’ क्यों ? इसलिए कि संपत्ति में तो व्यक्ति परमात्मा को, अपने-आपको भूल जाता है। उसे सत-असत का विवेक नहीं रहता। सत्पथ से विचलित होते उसे देर नहीं लगती। विपत्ति ही वह अवसर है, जब व्यक्ति आत्म-चिंतन एवं अंतगविषणा की ओर मुड़ता है। इसलिए एक अपेक्षा से विपत्ति वरदान है और संपत्ति अभिशाप है। जैन-दर्शन में विपत्ति की तरह ही संपत्ति को भी परीषह-कष्ट की श्रेणी में परिगणित किया गया है। संपत्ति को अनुकूल परीषह बताया गया है और विपत्ति को प्रतिकूल परीषह।

देश के बड़े-बड़े विद्वानों एवं विचारकों से मेरा संपर्क हुआ है। राष्ट्र के करोड़ों लोगों की भी सद्भावनाएं मुझे मिली हैं, पर इसके

समानांतर मेरे विरोधियों की भी कोई कमी नहीं है। लेकिन मैं उनके विरोध से खिन्न नहीं होता। क्यों? यह इसलिए कि मैं उसे अनुचित नहीं मानता, बल्कि उससे गुण लेता हूँ। मैं इस भाषा में सोचता हूँ कि विरोधियों के बने रहने से व्यक्ति के समक्ष फूलने का, संतुलन खोने का अवसर आने की संभावना क्षीणप्रायः बन जाती है, जो कि विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है विरोधियों का विरोध हंसते-हंसते सहन करना मेरी सहज वृत्ति है। मेरा चिंतन है कि विरोधियों के प्रति भी उचित आदर की भावना रहनी चाहिए। जो ऊंचे स्तर के विरोधी हैं, वे वास्तविकता से अनभिज्ञ होने कारण विरोध करते हैं। मैं जहां तक सोचता हूँ, सही जानकारी प्राप्त होते ही उनका स्वर स्वयं बदल जाता है। अब जो जघन्य और निम्न कोटि के विरोधी हैं, जो कि मात्र दुर्भावना के वशीभूत होकर ऐसा करते हैं, उनसे सच्चे व्यक्ति का कुछ भी बिगड़ता नहीं। हां, उनका विरोध उसके लिए एक परीक्षा/कसौटी का समय अवश्य होता है कि ऐसी स्थिति में भी उसे क्षोभ और उग्रता न आए।

कलकत्ता

२९ मार्च १९५९

५४ : विद्यार्थी-काल : जीवन-निर्माण की स्वर्णिम वेला

विद्याध्ययन का भारतीय आदर्श

विद्यार्जन एक पवित्र कर्म है, पर उसका उद्देश्य सही होना चाहिए। मैं देख रहा हूँ कि आजकल अधिकतर छात्र-छात्राओं के सामने परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ऊंची-ऊंची उपाधियां पा लेने का उद्देश्य रहता है। मेरी दृष्टि में विद्यार्जन का इतने छोटे-से उद्देश्य तक सीमित कर देना उसके साथ न्याय नहीं है। यह तो बहुत गौण उद्देश्य है। विद्यार्जन का वास्तविक और मुख्य उद्देश्य है—आत्म-विकास और जीवन-शुद्धि। शास्त्रों में विद्या को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**सा विद्या या विमुक्तये**। अर्थात् विद्या वही है, जो विमुक्ति की ओर ले जाए। विद्याध्ययन का यह भारतीय आदर्श रहा है, पर बड़े खेद का विषय है कि आज यह महान आदर्श भुलाया जा रहा है। उसका दुष्परिणाम हमारे सामने है। राष्ट्र की भावी पीढ़ी के जीवन का सही निर्माण नहीं हो रहा है। उसमें सत्संस्कारों का वपन नहीं हो रहा है। ध्यान रहे, जीवन का सही निर्माण वही विद्याध्ययन कर सकता है, जिसका उद्देश्य विमुक्ति हो। जो विद्याभ्यास बंधन की ओर ले जाए, वह सत्संस्कारों का वपन कैसे कर सकता है? उससे जीवन-निर्माण कैसे संभव है?

इस परिप्रेक्ष्य में उपस्थित छात्राओं से कहना चाहूंगा कि वे अपने इस विद्यार्थी-काल का सही-सही मूल्यांकन करें। यह उनके जीवन-निर्माण की स्वर्णिम वेला है। इसका सुंदरतम उपयोग करती हुई वे विद्याध्ययन का सही लक्ष्य पूरा करें। आत्म-विकास एवं जीवन-शुद्धि की दिशा में चरणान्यास करें, उस दिशा में अधिक-से-अधिक आगे बढ़ें।

ज्ञान का यथार्थ स्वरूप

दूसरी बात—ज्ञान के प्रति उनकी अवधारणा सम्यक बने। मेरी दृष्टि में पुस्तकीय ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं है। वह तो मात्र ज्ञान-प्राप्ति का एक

साधन है। वास्तविक ज्ञान वह है, जो आचारसंवलित हो। जब तक पढ़ी हुई बातें आचार-संवलित नहीं होतीं, तब तक उनकी सार्थकता प्रकट नहीं होती। आज यह दृष्टि गौण हो रही है। इसलिए सदाचार मिटता जा रहा है, मानवता लुप्त होती जा रही है। मैं मानता हूँ, राष्ट्र की यह सबसे बड़ी हानि है। इसके कारण राष्ट्र-विकास के उद्देश्य से चलाई जा रही विभिन्न आर्थिक, औद्योगिक योजनाओं का अभीप्सित परिणाम नहीं आ रहा है। आप निश्चित समझें, जब तक सदाचार और मानवता का हास नहीं रोका जाएगा, इनकी सुरक्षा और निर्माण की दिशा में प्रयत्न नहीं होगा, तब तक भले दूसरी-दूसरी कितनी ही योजनाएं क्यों न चला ली जाएं, राष्ट्र का समुचित विकास नहीं हो सकता। अणुव्रत-आंदोलन सदाचार के हास पर रोक लगाने का आंदोलन है, मानवता की प्रतिष्ठा का आंदोलन है। अहिंसा, सत्य-जैसे धर्म के मौलिक तत्त्वों पर आधारित इसके छोटे-छोटे संकल्पों/नियमों में सदाचार और मानवता के संरक्षण एवं निर्माण की अद्भुत शक्ति है। अन्यान्य वर्गों के संकल्पों की तरह विद्यार्थी-वर्ग के लिए भी इसमें कुछ संकल्प हैं। उपस्थित छात्राओं को आह्वान करूंगा कि वे निर्धारित संकल्प स्वीकार कर अपना जीवन सुसंस्कारित बनाएं।

सेठ सूरजमल जालान गर्ल्स कॉलेज, कलकत्ता

३० मार्च १९५९

५५ : संतों के स्वागत की स्वस्थ विधा

सच्चा उपासक कौन

आप लोगों ने मेरा स्वागत किया। मैं ऐसा तो नहीं कहता कि आपका स्वागत मात्र औपचारिक था, निश्चय ही उसके पीछे आपकी श्रद्धा और भक्ति बोल रही थी, तथापि इतना सुनिश्चित है कि हम अकिंचन साधु-संतों का स्वागत शब्दों और अभिनंदन-पत्रों से नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति में त्यागी/अकिंचन साधु-संतों के स्वागत-अभिनंदन की एक विशिष्ट परंपरा रही है, अलग विधा रही है। वह विधा है कि उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर अग्रसर होने का संकल्प करना। भगवान का चरणामृत लेनेवाले आज बहुत मिल सकते हैं, उनकी प्रतिमा पर फूल चढ़ानेवालों की भी कोई कमी नहीं है, पर प्रश्न तो यह है कि भगवान के दिखाए पथ पर चलनेवाले कितने हैं। जब तक यह तैयारी नहीं है, तब तक ऊपर की बातों से उनकी सच्ची सेवा-पूजा और भक्ति नहीं हो सकती। हम अपने आराध्य द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने के लिए संकल्पित हों, उस दिशा में ईमानदारीपूर्वक प्रयाण करें, तभी हम उनके सच्चे आराधक, उपासक और भक्त बनेंगे।

करणीय में कल की बात क्यों

भगवान ने, हमारे ऋषि-मुनियों ने हमें जो मार्ग दिखाया, वह धर्म के नाम से जाना-पहचाना जाता है। धर्म क्या है? एक अपेक्षा से सत्कर्म ही धर्म है। व्यक्ति स्वयं को सदा सत्कर्म में संलग्न रखे, यही भगवान की सच्ची आराधना है। व्यक्ति जब तक अज्ञानावस्था में रहता है, उसकी विवेक-चेतना सुषुप्त रहती है, उसके अंतर में अपने हित-अहित का चिंतन नहीं जागता है, तब तक की बात तो अलग है, पर जिस क्षण उसे सम्यक बोध हो जाए, उसकी विवेक-चेतना झंकृत हो जाए, वह अपना हित-अहित समझने लगे, उसके बाद भी यदि वह सत्कर्म में प्रवृत्त

नहीं होता है, धर्माराधना में प्रमाद करता है, उसे बुढ़ापे में या कल कर लेने की बात कह आगे से आगे टालने की चेष्टा करता है, यह कहाँ कि समझदारी है? जब जीवन में एक क्षण का किसी को कोई भरोसा नहीं है, मौत किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है, फिर धर्माराधना बाद में या बुढ़ापे में कर लेने की बात कहने का क्या औचित्य है? 'कल' कभी आता भी है क्या? बुढ़ापा आएगा, इसकी भी क्या गारंटी है? भगवान महावीर ने कहा है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जत्थ वडित्थ पलाइणं।

जो जाणेइ न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सया॥

- करणीय कार्य कल कर लूंगा—ऐसा वही व्यक्ति सोच सकता है, जिसका मौत के साथ मैत्री-समझौता हो अथवा जो अपने को इतना सबल/सक्षम मानता हो कि मौत उपस्थित होने पर मैं पलायन कर अपना बचाव कर लूंगा अथवा जिसे यह अटूट विश्वास हो कि मैं अमर हूँ, कभी मरूंगा नहीं।

हम जानते हैं कि ऐसा कोई व्यक्ति होता नहीं। सभी को एक दिन मौत का वरण करना पड़ता है। और तो क्या, तीर्थंकर-जैसे सर्वाधिक सक्षम पुरुष भी अपना आयुष्य एक क्षण भी नहीं बढ़ा सकते। फिर सामान्य प्राणियों की तो बात ही क्या! ऐसी स्थिति में समझदारी का तकाजा यही है कि व्यक्ति धर्माराधना में प्रमाद न करे। उसे कल के लिए न छोड़े। अपना करणीय आज ही करे। अपने जीवन का हर व्यवहार, हर प्रवृत्ति धर्म के साथ जोड़े। अणुव्रत-आंदोलन धर्म को व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में व्याप्त करने की ही योजना है। आप अणुव्रत-आंदोलन को समझें। उसकी संयममूलक आचार-संहिता संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें, अपना जीवन धर्म से भावित कर सार्थक बनाएं। यही मुझ-जैसे अकिंचन संत का सच्चा स्वागत होगा।

सदर्न एवेन्कू, कलकत्ता

३ अप्रैल १९५९

५६ : छात्राणं समाज की भावी निर्मात्रियां हैं

धर्म का प्रथम सोपान

धर्म के वे ऊंचे-ऊंचे आदर्श हमारे किस काम के, जो केवल धर्मग्रंथों में रहें, जीवन के आचार और व्यवहार में न आएँ ? वस्तुतः मानव के लिए वे तभी उपयोगी बनते हैं, जब वे उसके दैनंदिन व्यवहार के साथ जुड़ जाएँ, व्यक्ति की हर छोटी-बड़ी प्रवृत्ति में उनकी पुट हो। यदि ऐसा नहीं होता तो व्यक्ति के लिए उनकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। आप लोग सूत्र रूप में यह बात समझें कि सदाचरण धर्म का प्रथम सोपान है। धर्म का सच्चा आराधक अथवा सच्चा धार्मिक वही है, जो अपना आचरण और व्यवहार परिमार्जित करता है, शुद्ध बनाता है; जिसके जीवन और जीवन-व्यवहार में सत्य, शील, संतोष, अपरिग्रह, अस्तेय, अहिंसा, मैत्री आदि धर्म के मौलिक सिद्धांत प्रतिबिंबित होते हैं, मूर्त होते हैं।

अपेक्षित है दृष्टिकोण में बदलाव

इस परिप्रेक्ष्य में यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो निष्कर्ष रूप में यह तथ्य सामने आएगा कि आज सच्चे धार्मिकों का अभाव-सा हो रहा है। मात्र भगवान का नाम लेकर अथवा मंदिर में उनकी पूजा कर अपने-आपको धार्मिक माननेवालों की तो कोई कमी नहीं, पर शुद्धाचार और सम्यक व्यवहार से धार्मिक बननेवाले बहुत कम लोग हैं। इसका कारण यह है कि आज सदाचारी या चरित्रशील व्यक्ति की वैसी प्रतिष्ठा नहीं है, जैसी कि एक धनसंपन्न व्यक्ति की है। यह दृष्टिकोण का विपर्यास है, गलत मूल्यांकन है। प्रतिष्ठा सच्चरित्र, सदाचार, सात्विकता, सादगी और सद्बिचार की होनी चाहिए, न कि भौतिक वैभव और संपदा की। इस गलत प्रतिष्ठा और मूल्यांकन ने समाज को रुग्ण बनाया है, उसका बहुत बड़ा अहित किया है। अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां इसके कारण पनपी हैं। यदि समाज को स्वस्थ बनाना है तो व्यक्ति-व्यक्ति के दृष्टिकोण

में यह मौलिक परिवर्तन लाना होगा। दूसरे शब्दों में धर्म को सर्वोच्च प्रतिष्ठा देनी होगी। उसे जन-जन के व्यवहार के साथ जोड़ना होगा।

विद्यार्थियों की जीवन-दिशा

अणुव्रत-आंदोलन इसी दिशा में कार्य कर रहा है। वह व्यापारी, राज्यकर्मचारी, मजदूर, वकील आदि समाज के विभिन्न वर्गों में विभिन्न दुष्प्रवृत्तियों के रूप में व्याप्त असदाचार मिटाकर सदाचार और नैतिकता का वातावरण बनाना चाहता है। विद्यार्थी-वर्ग भी दुष्प्रवृत्तियों से अछूता नहीं है। छात्र-छात्राओं के जीवन में व्याप्त दुष्प्रवृत्तियां दूर कर वह उनका जीवन अनुशासन, विनय, नम्रता, सादगी, सत्यनिष्ठा आदि गुणों से भावित करना चाहता है। मैं समझता हूं, ये ही वे गुण हैं, जिनसे जीवन का सही निर्माण होता है। इसलिए अणुव्रत के संकल्प स्वीकार करनेवाले एक विद्यार्थी का ध्येय मात्र परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना नहीं होगा। वह तो जीवन-निर्माण को लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ेगा, जो कि विद्याध्ययन का भी मूलभूत उद्देश्य है। कहने का तात्पर्य यह कि अणुव्रती बनकर विद्यार्थी अपने इस जीवन की सही सार्थकता प्राप्त कर सकते हैं।

उपस्थित छात्राओं से एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूं। वे भावी माताएं हैं, समाज की वास्तविक निर्मात्रियां हैं। उन्हें अपने जीवन-निर्माण पर गंभीरता से ध्यान केंद्रित करना चाहिए। उनके समक्ष सीता-जैसी सन्नारियों के उज्ज्वल चरित्र का आदर्श है। उन्हें भी इस दिशा में प्रयाण करना है। अणुव्रत-पथ अपनाकर वे निर्बाध गति से इस आदर्श तक पहुंच सकती हैं।

आशुतोष महिला कॉलेज, कलकत्ता

६ अप्रैल १९५९

५७ : मैत्री-दिवस : अभिप्रेत और स्वरूप

आज सारे संसार में विरोध और वैमनस्य का वातावरण बना हुआ है। मैत्री-दिवस उसे बदलने के लिए प्रस्तुत है। मैत्री स्वार्थ और आसक्ति-वर्जित सात्त्विक भावना है, जो कि अंतरतम से जुड़ी हुई है। मैत्री और प्रेम में अंतर है। प्रेम में इकतरफा ऐसा आकर्षण व झुकाव होता है, जो समता नहीं बने रहने देता। मैत्री का आदर्श है—मित्र भाव और समता भाव। यह मित्र भाव और समता भाव केवल मित्रों एवं प्रेमियों के प्रति नहीं, अपितु शत्रुओं के प्रति भी बरता जाए। वस्तुतः मैत्री एक विशद और व्यापक तत्त्व है। इसे स्वयं में पनपने देने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति दूसरों से प्रेम पाकर फूले नहीं, विरोध पाकर सूखे नहीं। निश्चय में तो मित्र और शत्रु कोई दूसरा होता ही नहीं, मित्र और शत्रु अपनी आत्मा ही है। भगवान महावीर के शब्दों में—**अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिओ**। अर्थात् अपनी सत्प्रवृत्त आत्मा ही मित्र है और वही शत्रु है, जब वह दुष्प्रवृत्त होती है। यही बात प्रकारांतर से *गीता* में भी कही गई है—‘कंठोच्छेद करनेवाला शत्रु उतना नुकसान नहीं करता, जितना अपनी दुष्प्रवृत्त आत्मा करती है।’

मैत्री की मूल भित्ति सहिष्णुता है। जब तक औरों के वे विचार, जो अपने विचारों से मेल नहीं खाते, सहन नहीं होंगे, तब तक मित्रता कैसे पनपेगी? कहाँ पनपेगी? इसलिए मैत्री के विकास के लिए सहिष्णुता की चेतना जगाने की जरूरत है। सहिष्णुता के साथ ऋजुता और मृदुता की भी अपेक्षा है, क्योंकि जब तक इन दोनों गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक दूसरों की अप्रिय/कटु बात सहन करने की आंतरिक क्षमता पैदा नहीं होगी।

मैत्री के विकास के लिए अभय की साधना भी जरूरी है, क्योंकि मैत्री और अभय का अविनाभावी संबंध है। व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों के लिए भय उत्पन्न न करे, उनका अनिष्ट न करे और साथ ही स्वयं

भी भयभीत न हो।

यह कितनी विडंबना-भरी बात है कि सहिष्णुता धर्म का एक मौलिक तत्व है और धार्मिक क्षेत्र में असहिष्णुता का व्यापक रूप देखने को मिलता है ! यह एक कटु यथार्थ है कि धर्म के नाम पर बड़े-बड़े युद्ध लड़े गए, रक्त की नदियां बहीं। जिस धर्म का काम सूई की तरह दो फटे दिलों को जोड़ देने का है, उससे कैंची का काम लिया गया, काटने का काम लिया गया। मैं नहीं समझता कि इससे अधिक गर्हणीय बात और क्या हो सकती है !

संसार के युद्ध रोकने के लिए बड़े-बड़े प्रयास चले, *संयुक्त-राष्ट्रसंघ* (U.N.O.) और *सुरक्षा-परिषद* (Security Council) जैसे संगठन स्थापित हुए, पर युद्ध बंद नहीं हुए। आज तिब्बतियों पर चीन जो कुछ कर रहा है, वह जगजाहिर है। यद्यपि इस बारे में मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है, क्योंकि यह मेरा क्षेत्र नहीं है, तथापि सिद्धांत रूप में इतना अवश्य कहना चाहूंगा के किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र पर अपने विचार थोप देना उचित नहीं है; उस व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के प्रति न्याय नहीं है। किसी पर अपने विचार लादने के लिए बल-प्रयोग करना तो निस्संदेह शांति को खतरा है।

आज भारतवर्ष के राजनीतिक क्षेत्र की जो स्थिति है, उसे संतोषप्रद नहीं माना जा सकता। वहां समता, मैत्री और सहिष्णुता का स्पष्ट अभाव नजर आ रहा है। यही कारण है कि आज राजनीति दुर्नीति बन रही है। फलतः अच्छे लोग राजनीति के क्षेत्र में आना नहीं चाहते, और जो अच्छे-अच्छे लोग इस क्षेत्र में थे, वे एक-एक कर निकलते जा रहे हैं। कैसी बात है कि एक राजनीतिक दलविशेष का व्यक्ति दूसरे दलविशेष के व्यक्ति द्वारा कही गई उचित/अच्छी बात का इसलिए समर्थन नहीं कर पाता कि वह मेरे दल की नहीं है, दूसरे दल की है। मैं पूछना चाहता हूं कि सत्य और अच्छाई को, सत्य और अच्छाई के रूप में समर्थित न किया जाए, क्या यह मानवीय गरिमा के अनुरूप है।

क्या धार्मिक क्षेत्र, क्या राजनीतिक क्षेत्र, क्या सामाजिक क्षेत्र, क्या और कोई अन्य क्षेत्र—सभी क्षेत्रों में व्याप्त पारस्परिक तनाव, कटुता और असहिष्णुता मिटे, यह *मैत्री-दिवस* मनाने का अभिप्रेत है। व्यक्ति स्वयं के द्वारा गत वर्ष में ज्ञात-अज्ञात रूप में दूसरों के प्रति हुए असद्व्यवहार,

भूलों के लिए वर्ष में एक दिन सरल हृदय से क्षमा मांगे तथा दूसरों से जान-अनजान में कुछ प्रतिकूल हुआ हो तो उसके लिए स्वयं क्षमा दे—यह *मैत्री-दिवस* का स्वरूप है। इसके पीछे विशुद्ध पारस्परिक समता और सहिष्णुता की पवित्र भावना है, किंतु क्षमा के आदान-प्रदान का यह क्रम मात्र उपचार नहीं, वास्तविक हो, अंतःप्रेरित हो—यह नितांत अपेक्षित है। तभी मैत्री की भावना का व्यापक प्रसार हो सकेगा और तभी *मैत्री-दिवस* का रचनात्मक रूप सामने आ पाएगा, उसे मनाने की सही सार्थकता प्रकट हो सकेगी।

आप देखते हैं कि अमेरिका का राष्ट्रपति नव वर्ष के आरंभ में रूस को शुभकामना-संदेश भेजता है और ऐसा ही रूस का राष्ट्रपति भी करता है, किंतु प्रश्न तो यह है कि क्या उनका बाह्य रूप और आंतरिक रूप दोनों एक हैं? क्या वे हृदय से एक-दूसरे के प्रति शुभकामना करते हैं? यदि आंतरिक भावना वैसी नहीं तो यह केवल बाह्याचार है। कितना अच्छा हो कि वे अंतर से एक-दूसरे के प्रति शुभकामना करें। साथ ही गत वर्ष प्रकट-अप्रकट रूप में हुए दुर्व्यवहार और दुश्चिंतन के लिए परस्पर क्षमायाचना करें। मेरा विश्वास है, इससे पारस्परिक तनाव एवं कटुता कम होगी।

मैत्री-दिवस के इस पुण्य प्रसंग पर मैं अपनी ओर से अत्यंत ऋजुता के साथ क्षमायाचना करता हूँ। न केवल उनसे, जिनसे मुझे स्नेह एवं आदर-भरा व्यवहार मिला, अपितु उन सबसे भी, जिन्होंने मेरा स्तरीय या अस्तरीय कैसा भी विरोध किया। जहां तक मेरा प्रश्न है, मुझसे इस तरह का कोई व्यवहार हुआ हो, मुझे ख्याल में नहीं है, तथापि ज्ञात-अज्ञात में जब-तब किसी के प्रति क्षोभ, उद्वेग या रोष के भाव उत्पन्न होना सर्वथा असंभव नहीं है। अतः उन सबसे अत्यंत-अत्यंत नम्रता एवं सुजनतापूर्वक क्षमा मांगता हूँ, जिनका हृदय मेरे व्यवहार के कारण व्यथित हुआ हो, भले वे यहां उपस्थित हों अथवा अन्यत्र कहीं हों। वे लोग भी स्वयं को टटोलें, जिनसे असद्व्यवहार हुआ है। मैं अपनी ओर से उनकी भूलें भुलाकर बिलकुल हलका बन रहा हूँ, उन्हें अयाचित क्षमा प्रदान कर रहा हूँ।

आज से हमारा नया वर्ष प्रारंभ हो रहा है। हम मैत्री की भावना का विकास करें। जन-जन के मुख पर ये घोष हों—

- व्यक्ति-व्यक्ति में मैत्री हो।
- राष्ट्र-राष्ट्र में मैत्री हो।
- प्राणी-प्राणी में मैत्री हो।
- संयम ही जीवन है।

रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता
६ अप्रैल १९५९

५८ : मैत्री : आधार और स्वरूप

मैत्री क्या है

मैत्री क्या है? मैत्री है—अपना अधिकार-क्षेत्र सीमित करना। इसके बिना कोई भी मनुष्य भयमुक्त नहीं बन सकता, शांतिपूर्वक जीवन नहीं जी सकता, परंतु यह कोई सहज-सरल कार्य नहीं है, बल्कि बहुत कठिन है। क्यों? इसलिए कि इसका आधार त्याग है। व्यक्ति को त्याग करने का साहस जुटाना पड़ता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्वार्थ छोड़ने का साहस बहुत कम लोगों में होता है। ज्यादातर व्यक्ति अधिकार और सत्ता की भाषा में सोचते हैं, बोलते हैं। यह एक सामान्य बात है कि जहां अधिकार और सत्ता का प्रश्न तीव्र हो जाता है, वहां मैत्री क्षीण हो जाती है। जहां एक वस्तु पर हर व्यक्ति अधिकार करना चाहे, वहां संघर्ष की स्थिति से नहीं बचा जा सकता।

आज औपचारिक सभ्यता बढ़ी है। बड़े-बड़े लोग आपस में मिलते हैं तो उनके चेहरे पर मुस्कान फूट पड़ती है, किंतु जब वर्ण, जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्र से संबद्ध स्वार्थों एवं अधिकारों के प्रश्न आते हैं, तब वातावरण मधुर नहीं रहता, परस्पर विद्वेष उत्पन्न हो जाता है।

अनाक्रमण : अंतरराष्ट्रीय मैत्री का आधार

पं. नेहरू ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में *पंचशील* की चर्चा चलाई। उसमें एक बात अनाक्रमण की है। मैं मानता हूँ कि यदि यह अनाक्रमण का सिद्धांत सर्वमान्य हो जाए तो अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में मैत्री का सहज विकास हो सकता है, पर कठिनाई यह है कि अच्छी-से-अच्छी चर्चा थोड़ी-सी आगे बढ़ती है और फिर राजनीति बन जाती है। पंचशील की चर्चा के संदर्भ में भी कुछ ऐसा-सा हुआ प्रतीत होता है। प्रारंभ में अनेक राष्ट्रों ने पंचशील के सिद्धांतों के प्रति अपना समर्थन जताया था, पर उनकी व्यावहारिक क्रियान्विति की दिशा में कोई गति हुई हो, ऐसा

प्रतीत नहीं होता।

मैत्री का उद्देश्य

अणुव्रत-आंदोलन मैत्री की चर्चा अध्यात्म के धरातल पर कर रहा है। अंतरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय और सामाजिक स्तरों पर मैत्री की चर्चा चलाना बहुत बड़ी बात है। उसके लिए विपुल और बड़े साधनों की अपेक्षा है। हमारा अणुव्रत-आंदोलन तो बहुत छोटी-छोटी बातों का है। हम तो व्यक्ति-व्यक्ति को मैत्री की बात समझाना चाहते हैं। आणविक अस्त्रों की विभीषिका दिखाकर हम मैत्री की बात नहीं कहते। हमारी भाषा में मैत्री का उद्देश्य है—अपनी शांति, विकास और संतुलन। जैसे गहराई से देखा जाए तो राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय शांति का मूल भी मैत्री ही है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में अशांति का वातावरण तभी बनता है, जब मैत्री नष्ट हो जाती है। यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज, प्रांत-प्रांत, राष्ट्र-राष्ट्र में मतभेद होना कोई बड़ी बात नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि बहुत सामान्य बात है, बहुत स्वाभाविक स्थिति है, पर मैत्री के अभाव में वह मतभेद मनभेद का रूप ले लेता है। फिर एक-दूसरे की आलोचना की प्रवृत्ति चलती है। हालांकि आलोचना एकांततः बुरी बात नहीं है। यदि उसके पीछे सामनेवाले पक्ष के सुधार की पवित्र भावना हो तो उसे गलत कैसे माना जा सकता है? वह तो अच्छी ही है, उपादेय ही है, लेकिन जहां आलोचना मनभेद के कारण होती है, वहां सुधार की दृष्टि नहीं रहती। वहां तो दृष्टि यह रहती है कि लोगों की नजरों से वह गिर जाए। इसी प्रकार और भी अनेक तरह की अवांछित प्रवृत्तियां सभी स्तरों पर मनभेद के कारण पैदा होती हैं।

मैत्री का सीमा-क्षेत्र

इस संदर्भ में एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं। मैत्री का यह तात्पर्य नहीं कि अन्याय का विरोध या प्रतिकार न किया जाए। उसका बहुत स्पष्ट अभिप्रेत यह है कि उचित का समर्थन तथा अनुचित का प्रतिरोध किया जाए। चूंकि प्रतिरोध की शक्ति व्रत से उत्पन्न होती है, अतः मैं चाहता हूं कि व्रत का विकास हो, संयम का विकास हो, अनाक्रमण और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भित्ति पर मैत्री का विकास हो।

कलकत्ता, १२ अप्रैल १९५९

मैत्री : आधार और स्वरूप

• १४१ •

५९ : सच्चा सुख क्या है

धर्म : नदी का बहता स्रोत

धर्म नदी का बहता स्रोत है। संप्रदाय उसमें बने हुए विविध बांध हैं। नदी के बहते स्रोत में हिंदू भी पानी पीते हैं, मुसलमान भी पीते हैं और दूसरे-दूसरे लोग भी पीते हैं। ऐसा करते हुए किसी के मन में कोई ग्लानि और घृणा पैदा नहीं होती, अंतर नहीं आता। ठीक यही बात धर्म के लिए भी है। वह किसी व्यक्ति, जाति, वर्ण और संप्रदायविशेष से बंधा हुआ नहीं है, वह तो प्राणिमात्र के लिए है। उसका द्वार सबके लिए समान रूप से खुला है। अपना जीवन पवित्र बनाने के लिए हर व्यक्ति को, हर प्राणी को उसका उपयोग करने का पूरा-पूरा अधिकार है। धर्म का यह सार्वजनिक य सार्वभौम रूप ही उसका शाश्वत एवं मौलिक स्वरूप है। उसका यह स्वरूप ही जीवन की पवित्रता का साधन बनता है।

सुख के दो प्रकार

जब पवित्रता सधती है, तब सुख का स्रोत स्वतः फूट पड़ता है। सुख आत्मा का मूल स्वभाव है। इसी लिए तो 'सत्' और 'चित्' के साथ-साथ आनंद भी आत्मा का विशेषण है। शब्दांतर से हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आत्मा की अपने मूल स्वरूप में संस्थिति ही सच्चा सुख है। अहिंसा, सत्य, संयम आदि तत्त्व इसी से निकलते हैं। चूंकि बहुसंख्य लोगों को इस सच्चे सुख की पहचान नहीं है, इसलिए वे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि के काम आनेवाले पदार्थों में सुख खोजने की नासमझी करते हैं, वैषयिक प्रवृत्तियों में सुख मानने की भूल करते हैं, पर वहां सुख कहां? मात्र सुखाभास है। कारण? कारण तो बहुत स्पष्ट ही है। कालविशेष या स्थितिविशेष में जो पदार्थ सुख का हेतु लगता है, वही दूसरे समय में दुःख का हेतु बन जाता है, अन्य स्थिति

में असमाधि का कारण बन जाता है। सार-संक्षेप यह कि सच्चा सुख पदार्थ-सापेक्ष नहीं, आत्म-सापेक्ष है। तभी तो सच्चा सुख भोगी नहीं, योगी प्राप्त करता है। वह विषय-वासनाओं में नहीं फंसता, पदार्थों के भोग-उपभोग में आसक्त नहीं बनता। वह तो स्वयं को आत्म-शुद्धि के उपक्रमों में जुटाए रखता है, अपने आत्म-स्वभाव में अवस्थित रहने का प्रयत्न करता है। यह बात मैं ही नहीं कह रहा हूँ, आप स्वयं भी तो इस सचाई का अनुभव करते होंगे।

फिल्म-निर्माताओं से अपेक्षा

पदार्थों में सुख खोजने की भूल के कारण ही आज अर्थ को अनावश्यक/अतिरिक्त मूल्य मिल रहा है। ऐसा प्रतिभासित होता है कि अर्थ लोगों के जीवन का चरम लक्ष्य बन गया है। यह किसी एक वर्गविशेष के लोगों की स्थिति नहीं, अपितु सभी वर्गों के लोगों की मनःस्थिति का चित्र है। फिल्म-उद्योग से जुड़े लोग मेरे सामने उपस्थित हैं। यह क्षेत्र भी तो आज अर्थ के प्रभाव से कहां मुक्त है? अधिकतर फिल्म-निर्माताओं का यही लक्ष्य रहता है कि उन्हें अधिक-से-अधिक आर्थिक लाभ हो। इस स्थिति में लोकरुचि के परिमार्जन एवं परिष्कार की बात तो वे सोच ही कैसे सकते हैं! यही कारण है, आज ज्यादातर फिल्में ऐसी होती हैं, जो जन-मानस को सुसंस्कारों एवं सात्विकता की ओर नहीं ले जातीं। मैं चाहता हूँ कि फिल्म-उद्योग से जुड़े चिंतनशील लोग इस संदर्भ में गहराई से चिंतन कर उसे इस प्रवृत्ति से मुक्त करने की दिशा में कोई सार्थक प्रयास करें। अणुव्रत-आंदोलन इस क्षेत्र में शुद्धि के लिए क्या कर सकता है, इस बिंदु पर इस आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं को भी विचार करना अपेक्षित है।

सुराना निवास

सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता

१९ अप्रैल १९५९

६० : वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों का दायित्व

साहित्यकार-वर्ग समाज का एक विशिष्ट वर्ग होता है। क्यों? यह इसलिए कि साहित्यकारों में एक विशिष्ट शक्ति होती है, असाधारण क्षमता होती है। उस शक्ति और क्षमता के द्वारा वे लाखों-लाखों, करोड़ों-करोड़ों निष्प्राण लोगों में भी प्राण फूंकने में सक्षम होते हैं, किंतु मैं अनुभव कर रहा हूँ कि आज समाज में उनका जैसा सम्मान और प्रतिष्ठा होनी चाहिए, वैसी नहीं है। अपेक्षित है, समाज उनका गुणात्मक उचित मूल्यांकन करे। इसके समानांतर ही साहित्यकारों से भी अपेक्षा है कि वे साहित्य-साधना में आत्म-गौरव की अनुभूति बराबर करते रहें, भले समाज उनका उचित मूल्यांकन करता है अथवा नहीं भी करता है। साथ ही उनके द्वारा निर्मित साहित्य में समाज की जड़ता तोड़कर उसमें नवचेतना सृजन करने की गुणात्मकता होनी चाहिए। आप देखें, प्राचीन काव्य पढ़ते हैं तो हमें आज भी एक शक्ति का अनुभव होता है। इसकी कारण-मीमांसा में जाएं तो हमें साफ तौर पर यह ज्ञात होगा कि उनके सृजन के पीछे जन-कल्याण और आनंद का सुनिश्चित व सुस्पष्ट उद्देश्य काव्यकारों के सामने था। आज समाज में घोर अनैतिकता का वातावरण है, जन-जन में भ्रष्टाचार व्याप्त है। समाज के सभी वर्ग कुछ कमो-बेश बुराइयों की गिरफ्त में हैं। कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है, जो बुराइयों से सर्वथा अछूता हो। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों पर एक विशेष दायित्व आता है। वे समाज, राष्ट्र और जन-जन में नैतिकता, सदाचार और सत्य की पुनः प्रतिष्ठा के पवित्र उद्देश्य से विशेष साहित्य की रचना करें। इस कार्य में वे अपनी असाधारण प्रतिभा का भरपूर उपयोग करते हुए समाज और राष्ट्र के सामने एक दिव्य प्रकशपुंज बनकर प्रकट हों, ताकि दुर्नीति, असदाचार और असत्य का तिमिर दूर हो जाए। मैं मानता हूँ, यह समाज, राष्ट्र और मानवता की बहुत ही उल्लेखनीय सेवा होगी। आशा है, उपस्थित साहित्यकार बंधु मेरे आह्वान का सकारात्मक उत्तर देंगे।

कलकत्ता, २१ अप्रैल १९५९

६१ : साधना की तेजस्विता

साधना : उद्देश्य और स्वरूप

साधु-जीवन साधना का जीवन है। दूसरे शब्दों में साधना ही साधुता है। साधना नहीं तो कैसी साधुता? हम साधु-साध्वियों को इस बात की गौरवानुभूति होनी चाहिए कि हमने साधना का पथ स्वीकार किया है। **इच्छेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्टाइं**—अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों और रात्रिभोजनविरमणव्रत की साधना का संकल्प व्यक्त किया है। प्रश्न पैदा होता है कि साधना का यह कठिन पथ हमने क्यों स्वीकार किया है; क्या कोई भौतिक-प्राप्ति का लक्ष्य है। कोई भौतिक-प्राप्ति हमारी साधना का लक्ष्य नहीं है। हमारी साधना एकमात्र **अत्तहियट्टयाए**—आत्महित के लिए है। फिर हमने स्वेच्छा से यह पथ स्वीकार किया है—यह भी बहुत महत्व की बात है, क्योंकि स्वेच्छा से स्वीकृत कोई भी बात बंधन नहीं होती, जबकि थोपी हुई बात बंधन बन जाती है। स्वेच्छा से स्वीकृत बात और थोपी गई बात में दिन-रात का-सा अंतर होता है। जहां स्वेच्छा से स्वीकृत बात पर दृढ़ता से डटे रहने की भावना रहती है, वहीं थोपी गई बात से जल्दी-से-जल्दी छूटने का प्रयत्न होता है। यही तो कारण है कि स्वेच्छा से स्वीकृत व्रत/नियम/संकल्प व्यक्ति कठिनाई झेलकर भी अच्छे ढंग से निभाना चाहता है। उन्हें तोड़ना तो बहुत दूर की बात है, वह ऐसा सोच भी नहीं सकता। कदाचित असावधानीवश कोई नियम/व्रत/संकल्प टूट जाता है तो वह अत्यंत दुखी होता है। उसका मन अनुताप से भर जाता है। इसके विपरीत थोपे गया बंधन तोड़कर वह प्रसन्न होता है, राहत की अनुभूति करता है। हमने महाव्रतों की यह साधना, जैसाकि मैंने अभी कहा, स्वेच्छा से स्वीकृत की है। इसलिए इस साधना में सहज आनंद की अनुभूति होती है, गौरव की अनुभूति होती है। हमारे लिए यह और भी अधिक आनंद और गौरव की बात हो सकती है कि हम स्वीकृत पांच महाव्रतों एवं रात्रिभोजनविरमणव्रत का सतत निरतिचार पालन करें।

साधना की तेजस्विता

● १४५ ●

वर्तमान में महाव्रतों की साधना की भूमिका

यह बहुत स्पष्ट है कि अणुव्रतों और महाव्रतों में बहुत अंतर है। महाव्रत अणुव्रत नहीं हैं, किंतु साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वर्तमान में महाव्रतों की साधना छठे-सातवें गुणस्थानों की भूमिका की साधना है। दूसरे शब्दों में सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र की साधना की भूमिका है। उसका मूल्यांकन इसी भूमिका के आधार पर किया जाना चाहिए, यथाख्यात चारित्र की साधना के आधार पर नहीं। यह ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक की साधना की भूमिका है। छठे-सातवें गुणस्थानों के साधक सकषायी होते हैं। यह तो बहुत स्पष्ट ही है कि वीतराग साधकों की तुलना में सकषायी साधकों की साधना हलकी होती है। इसलिए उनकी साधना को वीतराग साधकों की साधना से तोलना भूल है।

साधना अंतरंग हो

साधु-साध्वियों को एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। महाव्रत केवल बाह्य ढांचा न रहे। साधना अंतरंग होनी चाहिए। चींटी को भी नहीं सताते, यह ठीक है, पर अंतर में यदि ईर्ष्या की भावना सुलगती है, असहिष्णुता का भाव उभरता है तो समझना चाहिए कि अहिंसा की भावना का विकास अभी अधूरा है। दूसरे को गिराने की भावना करना, अहित चिंतन करना हिंसा है। छिद्रान्वेषण भी हिंसा है। महाव्रतों की बाह्य साधना पर ध्यान और अंतरंग साधना की उपेक्षा की वृत्ति घुण के समान है। घुण धान्य का सत्व खाता है और उसका छिलका सुरक्षित रहता है। अंतर में घुण लगने से बाह्य साधना मात्र उपचार रह जाएगी, निस्सार बन जाएगी। साधक सदा यह देखता रहे कि कहीं मेरी साधना उपचार और निस्सार तो नहीं बन रही है। हालांकि छद्मस्थ साधक से भूल होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, पर जो साधक अपने अंतर में जागरूक होता है, उससे भूल होने की संभावना बहुत कम हो जाती है। एक अपेक्षा से जागरूकता ही साधना है।

जरूरी है भावना-चतुष्क का विकास

अहिंसा की पुष्टि के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ—इन चार भावनाओं का अभ्यास और विकास जरूरी है। दूसरे शब्दों में इनका विकास अहिंसा का विकास है। रूपक की भाषा में कहूं तो अहिंसा औषध

है और ये चारों भावनाएं पथ्य। दवा तभी लाभकारी होती है, जब पथ्य ठीक हो।

एक समय था, जब विरोध देखकर मेरे मन में दुःख होता था, किंतु आज स्थिति यह है कि किसी प्रकार के विरोध में क्षोभ नहीं होता। इसे मैं मैत्री भावना का विकास मानता हूं। मैं चाहता हूं कि सभी साधु-साध्वियों में, बल्कि श्रावक-श्राविकाओं में भी इस भावना का विकास हो। वे सलक्ष्य इसका अभ्यास और प्रयास करें। दूसरे के गुण देखकर प्रसन्न होना प्रमोद भावना है। सभी अपना-अपना आत्म-निरीक्षण करें। यदि दूसरे के गुण देखकर प्रसन्न होने की स्थिति बन गई है, तब तो बहुत शुभ है, किंतु ऐसा यदि नहीं है तो प्रमोद या मुदिता भावना का विकास करें। इसी प्रकार कारुण्य भावना और माध्यस्थ भावना की दिशा में भी हमारी गति होनी चाहिए, इनका विकास होना चाहिए। विकास का यह क्रम आगे से आगे बढ़ता रहे तो साधना में तेजस्विता प्रकट होने लगेगी।

कलकत्ता

२२ अप्रैल १९५९

६२ : धार्मिक और लौकिक विनय का महत्त्व

निर्जरा के बारह प्रकार

साधक का चरम लक्ष्य होता है—मोक्ष की प्राप्ति। उसका साधना-पथ है—धर्माजित व्यवहार। धर्माजित व्यवहार साधक को निंदा और गर्हा से बचाता हुआ लक्ष्य के निकट लाता है, वहां तक पहुंचाता है। प्रश्न होगा कि धर्माजित व्यवहार क्या है। जैन-दर्शन में धर्माजित व्यवहार को *निर्जरा* कहा गया है। उसके बारह प्रकार हैं—

१. अनशन—उपवास आदि तपस्या करना, जीवनपर्यंत भोजन-पानी आदि का त्याग करना।
२. ऊनोदरी—पेट को कुछ भूखा रखना, कषाय और उपकरण न्यून करना।
३. भिक्षाचरी—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का संकोच करना।
४. रस-परित्याग—दूध, दही, घी आदि छोड़ना, प्रणीत पान-भोजन का वर्जन करना।
५. कायक्लेश—वीरासन आदि कठिन आसनों में शरीर को स्थित करना, उसे साधना।
६. प्रतिसंलीनता—इंद्रिय-विषयों में राग-द्वेष नहीं करना, अनुदीर्ण कषाय का निरोध तथा उदीर्ण को विफल बनाना, अकुशल मन आदि का निरोध तथा कुशल मन आदि की प्रवृत्ति करना।
७. प्रायश्चित्त—दोषों की ओलचना करना, प्रतिक्रमण करना।
८. विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनके प्रति श्रद्धा का भाव रखना और समुचित सत्कार-सम्मान करना।
९. वैयावृत्य—दूसरों का सहयोग करने की भावना से सेवा-कार्य में व्यापृत होना। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष

आदि उसके दस स्थान हैं।

१०. स्वाध्याय—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा द्वारा आत्मलीन होना।

११. ध्यान—आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से बचते हुए धर्म्यध्यान अथवा शुक्ल ध्यान में आत्मा को स्थित करना।

१२. व्युत्सर्ग—शरीर की चंचलता, ममत्व तथा उपधि आदि छोड़ना।

इन्हें बारह प्रकार का भी कहा जाता है। हर व्यक्ति को चाहिए कि तप के इन बारह प्रकारों में से जो-जो प्रकार संभव हो सके, उन्हें वह यथाशक्य अवश्य अपनाए। इससे असंदिग्ध रूप में उसकी आत्म-उज्ज्वलता बढ़ेगी, वह मोक्ष के निकट पहुंचेगा।

विनय का मूल्य

तप के इन बारह प्रकारों में आठवां प्रकार है—विनय। विनय आध्यात्मिक या धार्मिक दृष्टि से तो अत्यंत महत्वपूर्ण है ही, लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी कम उपयोगी तत्त्व नहीं है, पर आज इस तत्त्व का बहुत बड़ा अभाव नजर आ रहा है। आध्यात्मिक और धार्मिक विनय की बात तो बहुत दूर की है, समाज में सामान्य लौकिक विनय भी क्षीण हो रहा है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति में स्वयं को महान और ऊंचा मानने की मनोवृत्ति पैदा हो रही है।

आप यह बात गहराई से समझें कि विनय के बिना जीवन की शृंखला नहीं बन सकती, परिवार और समाज की व्यवस्था भी सुंदर नहीं रहती। मेरी दृष्टि में वही परिवार संपत्तिशाली है, जिसके सदस्य एक नेतृत्व के प्रति विनयशील हैं। यही बात किसी समाज की भी है। जिस समाज के लोग अपने नेता के प्रति विनयशील नहीं होते, उस समाज की उन्नति अवरुद्ध-सी हो जाती है। विनय के अभाव के कारण आज सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में नेता बनने की होड़-सी लगी हुई है। यह अच्छी स्थिति नहीं है। इस स्थिति में अधिकार की भावना प्रबल बन जाती है और कर्तव्य विस्मृत हो जाता है।

अपेक्षा है, लोग धार्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के विनय का पूरा-पूरा मूल्यांकन करें।

कलकत्ता, २४ अप्रैल १९५९

६३ : अणुव्रत : अध्यात्म-पक्ष को सुदृढ़ बनाने का आंदोलन

एक अभाव की पूर्ति का प्रयत्न

उस समय, जब देश में जनतंत्र नया-नया ही था, देश की आचार-शृंखला ढीली पड़ गई थी। कहना चाहिए, आचार का भंगकर दुष्काल-सा पड़ गया था। यह एक स्वाभाविक बात है कि राष्ट्र में जिस समय जिस चीज का ज्यादा अभाव होता है, उसकी पूर्ति का विशेष प्रयास किया जाता है। यदि अनाज की कमी होती है तो अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है। पाट का उत्पादन बढ़ाने से उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब देश में आचार की बहुत बड़ी क्षति हो गई थी, इस क्षेत्र में चिंतन करनेवालों, विचारकों का ध्यान उस ओर गया। हमने भी अपनी सीमाओं का ध्यान रखते हुए आचारात्मक रूपरेखा तैयार की। उसका नाम अणुव्रत-आंदोलन रखा। अणुव्रत—यह नाम भी आचार पर ही है। व्रत, आचार, संयम—ये सब एकार्थक हैं। अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत। छोटे-छोटे इसलिए कि वे बहुसंख्यक लोगों के लिए ग्राह्य बन सकें। महाव्रत गुण/मूल्य की दृष्टि से ऊंचे हैं, पर वे बहुजन के लिए सफल नहीं होते। जनसाधारण में यह शक्ति नहीं होती कि वह उनका पालन कर सके।

अणुव्रत की यात्रा

अणुव्रत जब आंदोलन का रूप लेकर सामने आया, तब प्रारंभ में इसकी बड़ी कटु आलोचना हुई। कुछ लोगों ने मुझे और साधु-साध्वियों को लक्ष्य कर कहा कि ये लोग क्या चरित्र का उन्नयन करेंगे, जो स्वयं एक समाज के कठघरे में बंधे हुए हैं। और तो क्या, उस समय बहुत-से लोग हमारी बात सुनने के लिए भी तैयार नहीं थे, पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वह भूत उतरता गया, त्यों-त्यों लोगों की वे धारणाएं भी

बदलती गई।

आलोचना का स्वागत है

अणुव्रत की निष्पक्ष आलोचना सामने आएगी तो हम उसका स्वागत करेंगे, मैं इस मानसिकता के साथ कार्य कर रहा हूँ, पर अणुव्रत की आलोचना हो ही क्या सकती है? जो आंदोलन संयम की बात बताए, भला उसकी आलोचना होगी तो आखिर क्या! हां, किसी अणुव्रती की आलोचना हो सकती है, जिसे सुधारने का हमारा हमेशा प्रयत्न रहा है और रहेगा भी।

अणुव्रत-आंदोलन निषेधात्मक क्यों

कुछ लोगों का कहना है कि अणुव्रत केवल निषेधात्मक आंदोलन है। इस संदर्भ में मेरा चिंतन यह है कि नियम की भाषा नकार-बहुल ही होगी। हम मैत्री रखें, इसका कोई नियम नहीं हो सकता। वह भावना है। नियम-संरचना तो यही होगी कि किसी के साथ शत्रुता नहीं रखूंगा, किसी को गाली नहीं दूंगा। आज तक जितने ही नियम बने हैं, वे निषेध-प्रधान ही हैं, चाहे हम पंचशील देखें या पंचयाम।

अणुव्रत का कार्य-क्षेत्र

मैं अणुव्रत को अतिवाद में नहीं ले जाना चाहता। अणुव्रत द्वारा सामाजिक और राजनीतिक सभी कार्य हो सकते हैं, यह मेरा दावा नहीं है। उससे तो केवल अध्यात्म-पक्ष ही सुदृढ़ हो सकता है। अहिंसा के आधार पर कोई मिल चलाना या खेती करना चाहे तो यह कदापि संभव नहीं है। समाज के लिए आवश्यक होते हुए भी इनमें स्पष्ट हिंसा है। अणुव्रत किसी प्रकार की हिंसा को प्रोत्साहित नहीं कर सकता।

दृष्टि यथार्थदर्शी बने

कुछ लोगों का सुझाव है कि आपको संप्रदाय के बाहर आकर काम करना चाहिए, पर कठिनाई यह है कि मुझे न तो तेरापंथ के सिद्धांतों के प्रति असंतोष है और न जैन-धर्म के बारे में ही कुछ शंका है। ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है? पर मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि जब अणुव्रत किसी संप्रदायविशेष का है ही नहीं, तब किसी को संदेह क्यों होना चाहिए। मैं ऐसा सुझाव देनेवालों से कहना चाहता हूँ कि वे अपनी दृष्टि यथार्थदर्शी बनाएं। ऐसा होते ही वे वास्तविकता से परिचित हो

अणुव्रत : अध्यात्म-पक्ष को सुदृढ़ बनाने का आंदोलन

● १५१ ●

जाएंगे। फिर उन्हें स्वयं ही संप्रदाय से बाहर आकर कार्य करने का सुझाव अनपेक्षित लगने लगेगा।

क्या सारा संसार बदल जाएगा

कुछ लोग इस भाषा में बोलते हैं कि जब राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी-जैसे महापुरुष भी सारे संसार को नहीं बदल सके, तब क्या आप उसे बदल सकेंगे। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि मेरा यह स्वप्न ही नहीं है कि मैं सारे संसार को बदल दूंगा। हमें तो काम करना है, जितना हम कर सकें। दीपक और सूर्य बराबर नहीं होते। सूर्य सारे संसार में प्रकाश करता है, जबकि दीपक बहुत सीमित क्षेत्र को ही प्रकाशित कर पाता है। इसके बावजूद जितना प्रकाश वह कर सकता है, वह तो अच्छा ही है। क्या कोई यह चाहेगा कि वह जितना प्रकाश करता है, उतना भी न करे ? मेरी भी यही बात है। जितना हमारे से संभव है, उतना कार्य हम करते हैं। पीछे का कार्य आगे आनेवाले लोग करेंगे।

विकास की संभावना सदा रहती है

कुछ लोग कहते हैं कि आपके साधु अज्ञानी हैं। हालांकि मुझे उनकी प्रगति से असंतोष नहीं, फिर भी उनकी यह बात मैं सर्वथा गलत नहीं मानता। जब तक हम सर्वज्ञ नहीं हो जाते, तब तक विकास की अपेक्षा तो रहती ही है। अतः इस दृष्टि से आज के युग का प्रत्येक व्यक्ति अपूर्ण है। हां, एक बात अवश्य है कि मूढ़ और अपूर्ण में बहुत बड़ा अंतर है। मूढ़ वह है, जो मार्ग पहचान नहीं पाता। इस दृष्टि से मैं अपने साधुओं को मूढ़ कभी नहीं मानता। बावजूद इसके, लोगों का अपना चिंतन है। जब मैं किसी की गालियां भी सुन सकता हूँ, तब लोगों के प्रतिकूल विचार/आलोचना क्यों न सुनूं? किसी के कुछ सोचने और मानने से हम वैसे बन तो नहीं जाते। हां, लोगों के आलोचनात्मक विचारों के परिप्रेक्ष्य में हमें अपना आत्मालोचन/आत्म-निरीक्षण अवश्य करना चाहिए। इस प्रक्रिया से गुजरते हुए यदि हमें उनकी आलोचना में कोई तथ्य नजर आए तो उसे सहर्ष स्वीकार करने में हमें कोई संकोच और परहेज नहीं होना चाहिए।

कलकत्ता

२६ अप्रैल १९५९

६४ : जैन-दर्शन में कर्म

जैन-दर्शन एक आस्तिक दर्शन है। वह आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व स्वीकार करता है। आत्मा के संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण या परिभ्रमण का कारण कर्म-बंधन है। जब तक आत्मा कर्मों से पूर्णरूपेण नहीं छूट जाती, तब तक उसे किसी-न-किसी रूप में जन्म-मरण करते रहना ही पड़ता है। कर्म-सिद्धांत की *आगमों* एवं उत्तरवर्ती ग्रंथों में विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। तात्त्विक दृष्टि से कर्म पुद्गल हैं। सांसारिक प्राणी की मन, वचन और काया की स्थूल-सूक्ष्म प्रवृत्ति से आकर्षित होकर कर्म-पुद्गल आत्मा पर आकर जम जाते हैं, उसके साथ लोलीभूत हो जाते हैं और उसे विभिन्न रूपों में प्रभावित करते हैं।

कर्मों के आठ प्रकार माने गए हैं—१. ज्ञानावरणीय कर्म २. दर्शना-वरणीय कर्म ३. वेदनीय कर्म ४. मोहनीय कर्म ५. आयुष्य कर्म ६. नाम कर्म ७. गोत्र कर्म ८. अंतराय कर्म।

ये आठ कर्म आत्मा पर आठ रूपों में अपना प्रभाव प्रकट करते हैं।

जीव का सबसे महत्वपूर्ण गुण और लक्षण ज्ञान है। किसी अजीव पदार्थ में ज्ञान का सूक्ष्मांश से सूक्ष्मांश भी नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में ज्ञान जीव और अजीव की स्पष्ट भेद-रेखा है, पर सांसारिक प्राणियों (बारहवें गुणस्थान तक) के ज्ञान पर परदा होता है। इसका कारण ज्ञानावरणीय कर्म है। दूसरा कर्म है—दर्शनावरणीय। यह आत्मा के दर्शन गुण को रोकता है। तीसरा वेदनीय कर्म प्राणी के सुख-दुःख की संवेदना का हेतु है। चौथा मोहनीय कर्म है। यह जीव को व्यामोहित करता है। उसके दृष्टिकोण/श्रद्धा और आचरण को विकृत बनाता है। आत्मा के पाप-बंधन का हेतु एकमात्र यही कर्म है। आठों कर्मों में एक अपेक्षा से यह सर्वाधिक प्रभावशाली है। इसलिए इसे कर्मों का राजा कहा जाता है। इसके क्षीण हो जाने के पश्चात शेष सातों कर्मों की सत्ता हिल उठती

है। फिर वे टिक नहीं पाते। उसी जन्म में वे भी आत्मा से सदा-सदा के लिए अलग हो जाते हैं। परिणामतः प्राणी अनंतकालीन भवभ्रमण से छूटकर मोक्ष में पहुंच जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो हमारी सारी साधना मोहनीयकर्म को क्षीण करने के लिए ही है।

पांचवा कर्म आयुष्य कर्म है। यह आत्मा के अटल अवगाहन गुण का अवरोधक है। प्राणी संसार में इस कर्म के उदय के कारण ही जीता है। जब यह कर्म वह भोग लेता है, तब उसकी मृत्यु हो जाती है और अगले भव में चला जाता है। इस कर्म का संपूर्ण क्षय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

छठा नाम कर्म है। यह आत्मा के अमूर्तित्व गुण का रोकता है। इस कर्म के उदय के कारण ही प्राणी को विभिन्न जातियों, गतियों, दंडकों में जन्म लेना पड़ता है। तरह-तरह के शरीर, रूप, इंद्रियां, अंग-प्रत्यंग आदि भी इसी के कारण प्राप्त होते हैं।

इस क्रम में सातवां कर्म गोत्र कर्म है। यह आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को रोकता है। इसके उदय के कारण ही जीव ऊंचे-नीचे बनते हैं, सम्मान की दृष्टि से देखे जानेवाले और तुच्छ दृष्टि से देखे जानेवाले होते हैं।

अंतिम कर्म है—अंतराय। यह आत्मा की अनंत शक्ति का प्रतिघात करनेवाला है। इस कर्म के उदय के कारण इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—इन चारों कर्मों को घाती या घात्य कर्म कहा जाता है, क्योंकि ये चारों आत्मा के मूल गुणों की घात करते हैं। चूंकि इन्हें नष्ट करने के लिए सघन प्रयत्न करना पड़ता है, इस अपेक्षा से इन्हें घनघात्य भी कहा जाता है। शेष चार कर्म आत्मा के मूल गुणों की घात नहीं करते, इसलिए वे अघाती या घात्य कहलाते हैं। ये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं, जबकि घाती कर्म एकांत अशुभ होते हैं। इनमें मोहनीय कर्म बारहवें गुणस्थान में संपूर्ण नष्ट हो जाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय—इन तीन कर्मों का क्षय तेरहवें गुणस्थान में होता है। अघाती चारों कर्म—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—केवलज्ञानी के भी रहते हैं, चौदहवें गुणस्थान तक बने रहते हैं। दूसरे शब्दों में

सांसारिक अवस्था तक साथ रहते हैं। इनसे छूटते ही आत्मा संसार से मुक्त होकर मोक्ष में पहुँच जाती है। इस अपेक्षा से इन्हें *भवोपग्राहीकर्म* भी कहा जाता है।

कर्मों का संक्षिप्त विश्लेषण मैंने आज किया। विस्तार में इनकी लंबी चर्चा भी की जा सकती है। मूलभूत बात है कि हम कर्मों के बंधन के प्रति जागरूक बनें, ताकि नए कर्मों के बंधन से यथाशक्य बचा जा सके। जो पहले के बंधे हुए कर्म हैं, उन्हें तपस्या-साधना के द्वारा तोड़ने के लिए अपने पुरुषार्थ का नियोजन करें। तभी यह कर्म-सिद्धांत जानने की सच्ची सार्थकता है।

कलकत्ता

२९ अप्रैल १९५९

६५ : ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद

कल के प्रवचन में मैंने आठ कर्मों की चर्चा की थी। उनमें पहला कर्म है—ज्ञानावरणीय कर्म। उसके पांच भेद बताए गए हैं—

१. मति (अभिनिबोध) ज्ञानावरण २. श्रुत ज्ञानावरण ३. अवधि ज्ञानावरण ४. मनःपर्याय ज्ञानावरण ५. केवल ज्ञानावरण।

ज्ञानावरणीय कर्म और उसके भेद-प्रभेद समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना-समझना आवश्यक है कि ज्ञान क्या है और कहां है। ज्ञान आत्मा का एक मूल गुण है। दूसरे शब्दों में उसे आत्मा की शक्ति और ज्योति भी कह सकते हैं। उसे जीवन भी माना गया है। *गीता* में उसे रसायन और ऐश्वर्य बताया गया है; और यह ऐसा रसायन और ऐसा ऐश्वर्य है कि जिसे कोई छीन नहीं सकता। इसका स्रोत अंतर में सर्वत्र प्रवाहित होता रहता है।

जो ज्ञान इंद्रियों एवं मन के निमित्त होता है, वह मतिज्ञान है। इसमें बुद्धि और मन का उपयोग होता है। इसे आभिनिबोधक ज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान को आवृत करनेवाले पुद्गलों को मति ज्ञानावरण कहते हैं।

शब्द, संकेत आदि के अनुरूप दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसके अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि चौदह भेद हैं। इस ज्ञान को आवृत करनेवाले कर्म-पुद्गलों को श्रुत ज्ञानावरण कहा जाता है।

इंद्रियों एवं मन के सहयोग के बिना केवल आत्मा के द्वारा होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह ज्ञान रूपी द्रव्यों के ज्ञान तक ही सीमित रहता है। अरूपी द्रव्यों का ज्ञान इसके सीमा-क्षेत्र से परे की बात है। अवधिज्ञान अवधानसापेक्ष है। यानी व्यक्ति को ज्ञेय वस्तु पर एकाग्र होना पड़ता है। उसी स्थिति में वह उसका ज्ञान कर पाता है। इसके हीयमान, वर्द्धमान आदि छह प्रकार बताए गए हैं। इस ज्ञान को आवृत करनेवाले पुद्गलों को अवधि ज्ञानावरण कहा जाता है।

मनःपर्याय ज्ञान के द्वारा व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान

होता है। इस ज्ञान में भी अवधिज्ञान की तरह इंद्रियों और मन के सहयोग की कोई भूमिका नहीं होती। यह भी आत्मसापेक्ष ज्ञान है। मनःपर्यायज्ञानी मनोवर्गणा के पुद्गलों का विश्लेषण कर सामनेवाले व्यक्ति के मन की बात जानता है। वैसे अवधिज्ञानी भी मन की बात जान सकता है, पर वह उसे सामान्य स्तर पर ही जान पाता है। मनःपर्यायज्ञानी मन की बात का विशेषज्ञ होता है, किंतु एक बात यहां समझने की है। मनःपर्यायज्ञानी मात्र मन की बात जान सकता है, जबकि अवधिज्ञानी समस्त रूपी द्रव्यों का ज्ञान कर सकता है। मनःपर्याय ज्ञान मात्र साधु-साध्वियों (संयमी प्राणियों) को हो सकता है। यह उसकी प्राप्ति की अर्हता है। ऋजुमति और विपुलमति—ये मनःपर्याय ज्ञान के दो प्रकार हैं। मनःपर्याय ज्ञान को आवृत करनेवाले कर्म-पुद्गलों को मनःपर्याय ज्ञानावरण कहते हैं।

केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञान है। इसके द्वारा रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों एवं उनके त्रैकालिक समस्त पर्यायों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान के चारों प्रकारों के ऊपर है। इसकी उपलब्धि के पश्चात मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान कृतकृत्य हो जाते हैं। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है कि केवलज्ञान सूर्य है और शेष चारों ज्ञान दीपक। यह पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान है। यों तो आत्मसापेक्ष होने के कारण अवधि और मनःपर्याय ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है, पर ये पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं। पूर्ण प्रत्यक्ष मात्र केवलज्ञान है। इस ज्ञान को आवृत करनेवाले कर्म-पुद्गलों को केवल ज्ञानावरण कहा जाता है।

ज्ञान की आवृत स्थिति को ज्ञानावरण कहा जाता है। उस स्थिति में प्राणी का ज्ञान अकर्मण्य और निष्क्रिय रहता है, पर इस संदर्भ में एक बात समझने की है। आवरण मात्र आवरण होता है, उससे ज्ञान किंचित भी नष्ट नहीं होता। आत्म-गुण के रूप में अनंत ज्ञान ज्यों-का-त्यों मौजूद रहता है। जैसे आग पर राख होती है, उसी प्रकार वह ज्ञान पर कर्मों का आवरण होता है। राख के दूर हटते ही जिस प्रकार आग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मावरण दूर होते ही ज्ञान प्रकट हो जाता है। तप आदि की साधना से कर्मावरण दूर हटाया जा सकता है। हमें अपना ज्ञानावरण दूर हटाने की साधना में अपने पुरुषार्थ का नियोजन करना चाहिए। जिस दिन संपूर्ण रूप से यह आवरण दूर हट जाएगा, उस दिन हम आत्मप्रकाशी बन जाएंगे, केवलज्ञानी बन जाएंगे। आत्मप्रकाशी बनना, केवलज्ञान को उपलब्ध होना जीवन के सौभाग्य का सूचक है।

सूरज जूट प्रेस, काशीपुर, ३० अप्रैल १९५९

६६ : आचरण-शुद्धि के धरातल पर धार्मिक बनें

धर्म से नफरत क्यों

मैं देख रहा हूँ, आज धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होती जा रही है, मिटती जा रही है। यहां तक कि लोग धर्म को बुरा बताने लगे हैं, उससे नफरत तक करने लगे हैं। क्या धर्म वास्तव में बुरा है? क्या वह नफरत करने का तत्त्व है? नहीं, धर्म बुरा नहीं है। वह नफरत करने का तत्त्व बिलकुल नहीं है। तब लोग उसे बुरा क्यों कहते हैं? उससे नफरत क्यों करते हैं? यह भी निष्कारण नहीं है, सकारण है। क्या है वह कारण? कारण यह है कि आज धर्म मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि धर्मस्थानों एवं धर्मग्रंथों तक ही सीमित-सा हो गया है, उनमें कैद-सा हो गया है। धार्मिक कहलानेवाले लोगों के जीवन और जीवन-व्यवहार में वह स्थान नहीं पा रहा है। अतः धर्म के प्रति यदि जन-श्रद्धा पुनः पैदा करनी है, उसे नफरत से बचाना है तो धार्मिक लोगों को अपनी जीवन-शैली में परिवर्तित करना होगा, अपने व्यवहार और आचरण की स्वस्थता और शुद्धि पर ध्यान देना होगा। आप निश्चित मानें कि स्वस्थ व्यवहार और पवित्र आचरण—ये दो ही तत्त्व लोगों को धर्म के प्रति आकर्षित कर सकते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि मैं पूजा-उपासना को निरर्थक बता रहा हूँ। उसकी भी अपनी सापेक्ष उपयोगिता और मूल्य है। पर इतना सुनिश्चित है कि मुख्य व्यवहार और आचरण की शुद्धि ही है। इसके साथ ही वह उपासना भी उपयोगी है, जो व्यक्ति के लिए व्यवहार और आचरण की शुद्धि की प्रेरणा बने।

सत्यनिष्ठा है धार्मिकता की पहचान

जीवन के आचरण और व्यवहार की शुद्धि के लिए व्यक्ति को सत्यनिष्ठ बनाना होगा। यह कहना कि सत्य से व्यापार-व्यवसाय नहीं चल सकता, जीवन का व्यवहार नहीं चल सकता, व्यक्ति के गलत

दृष्टिकोण का द्योतक है, वैचारिक कमजोरी की सूचना है। मेरा चिंतन है कि जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जहां सत्य, ईमानदारी, प्रामाणिकता, नैतिकता आदि का बरताव न किया जा सके। व्यक्ति इस सचाई का स्मरण और अनुभव करता हुआ कि जीवन, शरीर, धन-वैभव आदि सभी भौतिक पदार्थ नश्वर हैं, अपने को सत्यनिष्ठ बनाए रखे। सत्यनिष्ठा धार्मिकता की पहचान है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति सहजतया कभी कोई ऐसा आचरण और व्यवहार नहीं कर सकता, जिससे उसकी धार्मिकता प्रश्नचिह्नित हो। वह अपनी जीवन-शुद्धि बनाए रखने के प्रति जागरूक रहता है।

अणुव्रत-आंदोलन जीवन-शुद्धि का ही कार्यक्रम है। वह जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय आदि सभी प्रकार के भेदों से ऊपर उठकर मानव-मानव को सात्त्विक जीवन जीने की प्रेरणा देता है। उपासना, पूजा, पाठ, योग, जप, भजन, कीर्तन आदि को व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ता हुआ उसे व्यवहार-शुद्धि के धरातल पर धार्मिक बनने का आह्वान करता है, मानव को मानवीय गुणों से संस्कारित करने का प्रयत्न करता है।

वास्तविक परिवर्तन

गुणात्मक दृष्टि से देखें तो अणुव्रत-आंदोलन हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। मैं मानता हूँ, हृदय-परिवर्तन से ही वास्तविक परिवर्तन संभावित है। हालांकि व्यवस्था-परिवर्तन का भी अपना एक महत्त्व है, क्योंकि व्यक्ति के बदलाव में वह भी एक सीमा तक हेतुभूत बनता है, पर कोरे व्यवस्था-परिवर्तन से समस्या या बुराई जड़ से समाप्त नहीं होती, अपेक्षित सुधार नहीं होता। वास्तविक सुधार हृदय-परिवर्तन के स्तर पर व्यक्ति स्वयं कर सकता है। आप देखें, दहेज की बुराई मिटाने के लिए सरकार ने कानून बनाया है, पर हृदय-परिवर्तन के अभाव में वह इसे मिटाने में कहां तक प्रभावशाली हुआ है, यह आपसे छिपा हुआ नहीं है। यह एक दहेज के कानून की बात नहीं है, अपितु आम स्थिति है। लोग कानून के दायरे से बचने के लिए अपनी दुष्प्रवृत्ति को चलाए रखने के दूसरे-दूसरे उपाय और तरीके ढूँढ़ निकालते हैं। ऐसी स्थिति में कोई कड़ा-से-कड़ा कानून भी असहाय और अकिंचित्कर-सा बन जाता है। इसलिए अपेक्षित है कि लोग हृदय-परिवर्तन का यह कार्यक्रम अपनाएं।

रेलवे गोदाम, काशीपुर रोड, कलकत्ता, १ मई १९५९

६७ : शांति और सुख का आधार

आत्मा की त्रैकालिक सत्ता

मोक्ष आस्तिक दर्शनों की चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। मोक्ष को समझने के लिए आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। आत्मा शाश्वत है। यानी वह पहले भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी सदा-सदा बनी रहेगी, भले उसका रूप कुछ भी हो। आज वह पशु की अवस्था में है, तो भविष्य में देवता की अवस्था को प्राप्त कर सकती है। आज जो मनुष्य की अवस्था में है, वह अतीत में कभी नारक भी रही होगी। आज जो आत्मा सांसारिक अवस्था में है, वह भविष्य में मोक्ष को भी उपलब्ध हो सकती है। तात्पर्य यह कि रूपांतरण होता रहा है, पर तत्त्वांतर कभी नहीं होता। फिर एक बात और समझने की है। जैन-दर्शन के अनुसार वह स्वयं जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि की कर्ता, भोक्ता और सभी प्रकार के बंधन तोड़नेवाली है। दूसरा मात्र निमित्त बन सकता है। इससे अधिक उसकी कोई भूमिका नहीं होती।

मोक्ष-प्राप्ति का उपाय

प्रश्न पूछा जा सकता है कि मोक्ष की प्राप्ति का उपाय क्या है। मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करने के लिए विरक्ति की आवश्यकता है, पर इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है। विरक्ति कोई ऊपर से थोपे जाने का तत्त्व नहीं है। वह तो निमित्त मिलने से स्वतः और सहज रूप से उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, अनेक लोगों को श्मशान में विरक्ति पैदा होती है। यह दूसरी बात है कि वह प्रायः क्षणिक होती है, स्थायी नहीं होती। इसी प्रकार कभी कोई व्यक्ति अपने विश्वस्त या अत्यंत आत्मीय व्यक्ति से धोखा खाता है, तब उसे विरक्ति हो जाती है। इस क्रम में अनेक निमित्तों की चर्चा की जा सकती है। भोग भोगने के बाद भी व्यक्ति को विरक्ति होती है। यहां समझने की बात यह है कि विरक्ति चाहे

कैसे भी क्यों न पैदा हुई हो, उससे व्यक्ति को सहज शांति मिलती है, क्योंकि वह सहज रूप से स्वीकृत होती है।

आसक्ति दुःख है

विरक्ति से बिलकुल विपरीत स्थिति है आसक्ति की। आप निश्चित मानें कि संसार में जितनी अशांति है, दुःख है, उनके मूल में धन, वैभव और भोग के प्रति व्यक्ति की आसक्ति ही है। यह आसक्ति या लिप्सा जितनी घनीभूत होती है, अशांति और दुःख भी उतना ही गहरा होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की आसक्ति कम होती जाती है, उसकी शांति और सुख की मात्रा बढ़ती जाती है तथा अशांति व दुःख कम होने लगता है। इसी लिए अणुव्रत-आंदोलन संयम और व्रत के माध्यम से भौतिक पदार्थों एवं भोग के प्रति आसक्ति व ममत्व कम करने की अभिप्रेरणा देता है। यह एक अनुभूत सचाई है कि संयम और व्रतमय जीवनशैली ही प्रशस्त जीवनशैली है। जूट बाजार से जुड़े उपस्थित व्यक्तियों को आह्वान करता हूं कि वे संयम और व्रत का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए इन्हें अपने जीवन में स्थान दें। इससे न केवल उनके लिए कल्याण का पथ प्रशस्त होगा, समाज की स्वस्थता में भी वे हेतुभूत बनेंगे।

रेलवे गोदाम, काशीपुर रोड

कलकत्ता

३ मई १९५९

६८ : अणुव्रत-आंदोलन आत्म-सुधार का आंदोलन है

आज सर्वत्र लोग यह बात न केवल गंभीरता से अनुभव ही कर रहे हैं, बल्कि इसकी चर्चा भी कर रहे हैं कि राष्ट्र में सभी स्तरों पर नैतिक और चारित्रिक पतन हो रहा है। यह एक चिंतनीय स्थिति है। पर इससे भी गंभीर स्थिति यह है कि इस समस्या का कोई समुचित समाधान नहीं हो पा रहा है। राष्ट्र के विविधमुखी विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का क्रम चल रहा है, पर मुझे बताने की जरूरत नहीं कि उनमें अब तक नैतिक व चारित्रिक हास रोकने की कोई योजना नहीं बनी है। वैसे यह भी बहुत स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं से इस समस्या का कोई निराकरण संभव भी नहीं है। इसके लिए तो इस समस्या की तह तक पहुंचकर ही समाधान करना होगा।

नैतिक और चारित्रिक पतन क्यों

कुछ लोगों का ऐसा चिंतन है कि नैतिक और चारित्रिक हास का एकमात्र कारण अर्थाभाव है, किंतु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मेरे चिंतन में अर्थाभाव नैतिक एवं चारित्रिक पतन का एक छोटा या साधारण कारण तो हो सकता है, पर उसे एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। यह इसलिए कि अर्थसंपन्न राष्ट्रों में भी तो नैतिक और चारित्रिक पतन की यह समस्या मौजूद है। यदि अर्थाभाव इस स्थिति का एकमात्र कारण होता तो वहां यह समस्या कैसे होती? फिर एक बात और है। अमीर लोगों में नैतिक व चारित्रिक पतन की स्थिति ज्यादा गंभीर है। मेरी दृष्टि में भौतिकताप्रधान दृष्टिकोण, अध्यात्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा का अभाव तथा अर्थ-लिप्सा—ये तीनों नैतिक एवं चारित्रिक पतन के मुख्य कारण हैं। इनके साथ ही समाज में अर्थ को अतिरिक्त मूल्य मिलना, उसे बड़प्पन का मापदंड माना जाना तथा सामाजिक बंधनों का दूटना आदि भी इसके अन्य कारण हैं। इस तरह के कुछ और भी कारण हो सकते हैं, पर प्रमुख ये ही हैं। अतः आज इस बात की अत्यंत

आवश्यकता है कि लोग अपना भौतिकताप्रधान दृष्टिकोण बदलें, उसे अध्यात्मप्रधान बनाएं, आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति निष्ठा जगाएं, अर्थ को जीवनयापन का साधन मानें, उसे साध्य के स्थान पर प्रतिष्ठित न करें, बड़प्पन का मापक न समझें। उसे चरित्र, नैतिकता और सत्य से नीचा समझें, ऊपर नहीं।

अणुव्रत-आंदोलन की कार्यदिशा

अणुव्रत-आंदोलन इसी विचार-भित्ति पर खड़ा है। यह समाज के सभी वर्गों को नैतिक एवं चरित्रनिष्ठ बनाने के लिए प्रयत्नशील है। इसकी आचार-संहिता स्वीकार कर कर्मचारी अपने कार्य में प्रामाणिकता लाएं, व्यापारी ईमानदार बनें। वे व्यापार को शोषण और लूट का साधन न बनाएं। उसे विनिमय का साधन समझें। राजनीतिक लोग भ्रष्टाचार न करने के लिए संकल्पित बनें।

आज लोगों की कैसी मनोवृत्ति बनी है कि वे दूसरों का सुधार तो बहुत चाहते हैं, पर स्वयं सुधरना नहीं चाहते! ऐसे में अणुव्रत-आंदोलन की यह विशिष्टता है कि वह जन-जन को स्वयं के सुधार की प्रेरणा देता है, स्वयं से शुभ शुरुआत करने के लिए अभिप्रेरित करता है। मैं चाहता हूँ, आप अणुव्रत-आंदोलन का पवित्र उद्देश्य समझें और उसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार कर अपना जीवन नैतिकता एवं सच्चरित्र के सांचे में ढालें। यह न केवल आपके अपने जीवन के लिए ही वरदायी सिद्ध होगा, अपितु राष्ट्र के नैतिक एवं चारित्रिक जागरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा।

काशीपुर क्लब

कलकत्ता

४ मई १९५९

६९ : लोभ : सबसे बड़ा खतरा है

जिस प्रकार आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे बलवान है, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों में लोभ प्रमुख है। तात्त्विक भाषा में लोभ दसवें गुणस्थान तक भी मौजूद रहता है, जबकि क्रोध, मान और माया—ये तीनों नवें गुणस्थान के अंत में ही समाप्त हो जाते हैं। इससे लोभ की प्रमुखता स्वयंसिद्ध है।

लोभ एक अपेक्षा से जीवन का सबसे बड़ा खतरा है। यह क्रोध की तरह ऊपर प्रकट में तो दिखाई नहीं देता, पर अंदर-ही-अंदर सुलगता रहता है। सामान्य गृहस्थों की तो बात ही क्या, बहुत-से अपरिग्रही-अकिंचन साधु-साध्वियां भी इसके प्रभाव से बच नहीं पाते। वह प्रभाव अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस लोभ के कारण ही मन में आसक्ति जनमती है, ममत्व पैदा होता है। जैन-ग्रंथों में उपलब्ध आषाढ मुनि का कथानक यह बात बहुत अच्छे ढंग से स्पष्ट और पुष्ट करता है। स्वादिष्ट लड्डुओं के प्रति आसक्ति एवं नटकन्याओं के प्रति ममत्व के कारण ही वे साधुत्व से च्युत होकर संसार की मोह-माया में फंसे थे। इसलिए बुद्धिमत्ता का तकाजा यही है कि व्यक्ति सदा सतर्क रहे, ताकि वह आसक्ति और ममत्व की गिरफ्त में न आए, लोभ उस पर प्रभावी न बन सके, उसकी विवेक-चेतना को आवृत न कर सके।

मैं देख रहा हूँ कि समाज में अर्थ के प्रति ममत्व का एक अतिरिक्त भाव पैदा हो रहा है। इसके कारण अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां जनम रही हैं, फल-फूल रही हैं। हां, कुछ-एक व्यक्ति ऐसे देखने में जरूर आते हैं, जो गृहस्थ की भूमिका में रहकर भी अर्थ के प्रति अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाए रखते हैं। वे जीवनयापन के साधन के रूप में उसका उपयोग अवश्य करते हैं, पर उसे जीवन का साध्य नहीं समझते। वे उसके प्रति आसक्ति नहीं रखते, ममत्व नहीं करते। स्वयं को उसका स्वामी नहीं, अपितु संरक्षक समझते हैं। इस कोटि के लोग सचमुच

महान होते हैं। निस्संदेह वे दूसरों के लिए प्रेरणास्पद एवं अनुकरणीय होते हैं।

हालांकि आसक्ति एवं ममत्व से सर्वथा बचना गृहस्थों के लिए बहुत कठिन है, फिर भी हर व्यक्ति को यथासंभव इससे बचने का लक्ष्य रखना चाहिए, प्रयत्न भी करना चाहिए। लक्ष्य के प्रति पैनी दृष्टि और उस दिशा में आगे बढ़ने का सतत प्रयत्न दुष्कर को भी सुकर बना देता है। क्या मैं आशा करूं कि आप लोग इस दिशा में प्रयत्न करेंगे?

कलकत्ता

१४ मई १९५९

७० : लोभ के चार प्रकार

लोभ की चर्चा कल के प्रवचन में मैंने की थी। उसके चार प्रकार बताए गए हैं—

१. अनंतानुबंधी लोभ २. अप्रत्याख्यानी लोभ ३. प्रत्याख्यानी लोभ ४. संज्वलन लोभ।

अनंतानुबंधी लोभ अत्यंत तीव्र लोभ को कहा जाता है। इसे कृमि रंग से उपमित किया गया है। जिस प्रकार कृमि रंग से रंगी गई रेशम के कपड़े का चिथड़ा-चिथड़ा हो जाने के पश्चात भी उसका वह रंग नहीं छूटता, उसी प्रकार अनंतानुबंधी लोभ मृत्यु के बाद भी नहीं मिट पाता। उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की अपने धन आदि के प्रति लालसा/आसक्ति बनी रहती है। उसका जन्म सर्प-जैसी योनि में होता है।

दूसरा प्रकार अप्रत्याख्यानी लोभ का है। यह अनंतानुबंधी लोभ जितना तीव्र तो नहीं होता, फिर भी काफी गहरा होता है। उसे कीचड़ के रंग से उपमित किया गया है। जिस प्रकार कीचड़ का रंग बड़ी मुश्किल और तीव्र प्रयत्न से ही छूटता है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी लोभ भी काफी कठिनाई एवं सघन प्रयत्न से ही दूर होता है।

अप्रत्याख्यानी लोभ से और हलका लोभ प्रत्याख्यानी है। उसे खंजन के रंग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार खंजन का रंग सहजतया नहीं छूटता, थोड़ी कठिनाई से छूटता है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी लोभ थोड़ी मुश्किल से ही छूट पाता है, बिलकुल सहजतया नहीं छूटता।

संज्वलन लोभ सबसे हलका है। उसे हलदी के रंग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार हलदी का रंग धूप लगते ही उड़ जाता है, उसी प्रकार संज्वलन लोभ भी कभी-कभार क्षणिक आता है और अपने-आप मिट जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान और माया की तरह ही अनंतानुबंधी लोभ सम्यक का अवरोधक है। इसी क्रम में अप्रत्याख्यानी

क्रोध, मान और माया की तरह अप्रत्याख्यानी लोभ देश व्रत का तथा प्रत्याख्यानी क्रोध, मान और माया की तरह प्रत्याख्यानी लोभ महाव्रतों का अवरोधक है। संज्वलन क्रोध, मान और माया की तरह संज्वलन लोभ वीतरागता का बाधक है।

लोभ और उसके ये चारों प्रकार जानकर व्यक्ति उसे क्षीण से क्षीण करता हुआ संपूर्ण नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहे, यही अभीष्ट है।

कलकत्ता

१५ मई १९५९

७१ : अहिंसा की व्यापकता

सर्वे पाणा सर्वे भूता सर्वे जीवा सर्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्धावेयव्वा। यह आगमों की वाणी है। इसका अर्थ है—किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को मारना नहीं चाहिए, उस पर शासन नहीं करना चाहिए, उसे दास नहीं बनाना चाहिए, उसे परितापित नहीं करना चाहिए, उसका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए। यदि हम एक शब्द में कहना चाहें तो इसे 'अहिंसा' कह सकते हैं। यह अहिंसा धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत, सनातन, सत्य, शुद्ध, अजरामर और व्यापक है। इस तथ्य का सत्यापन हम इस बात से कर सकते हैं कि सभी तीर्थंकरों, वीतरागियों, ऋषि-महर्षियों ने इस अहिंसा तत्त्व की महत्ता बखाणी है। यह एक त्रैकालिक सचाई है कि संसार के सभी प्राणी सुखेच्छु हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में औरों का सुख लूटकर या उसमें बाधक बनकर कोई भी प्राणी स्वयं सुखी होने की कल्पना कैसे कर सकता है? तात्पर्य यह है कि अच्छा और उन्नत जीवन जीने की कामना करनेवाले को सर्वप्रथम हिंसा से विरत होना होगा, अहिंसा को जीवन का आधार बनाना होगा। गहराई से देखा जाए तो अहिंसा मूल धर्म है। सत्य आदि दूसरे-दूसरे तत्त्व इसके ही अंग-प्रत्यंग हैं। सत्य बोलने के पीछे अहिंसा की ही भावना होती है, क्योंकि असत्य बोलना हिंसा का ही एक प्रकार है।

ब्रह्मचर्य की साधना भी अहिंसा की ही साधना है। अब्रह्मचर्य हिंसा है, क्योंकि एक बार मैथुन सेवन करने से लाखों सूक्ष्म जीवों की हत्या होती है। इसके अतिरिक्त उससे व्यक्ति की आत्मा का भी पतन होता है। वह भी एक प्रकार की हिंसा है। यही कारण है जितनी भी विशिष्ट आत्माएं हुई हैं, उन्होंने ब्रह्मचर्य की साधना की है।

अपरिग्रह भी अहिंसा ही है। परिग्रह हिंसा की सूचना है। कहीं टीला तभी बनता है, जब कहीं खड़दा खोदा जाता है। एक स्थान पर

धन का संग्रह यह प्रकट करता है कि कहीं शोषण हुआ है। शोषण अपने-आपमें हिंसा है। इस दृष्टि से अपरिग्रह को अहिंसा से अलग करके परिभाषित नहीं किया जा सकता।

मैं यह यथार्थ स्वीकार करता हूँ कि गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता, पर एक सीमा तक तो वह हिंसा से बच ही सकता है। अनावश्यक और संकल्पजा हिंसा से तो उसे सलक्ष्य बचना ही चाहिए, किंतु यह तभी संभव है, जब वह अपना जीवन संयमोन्मुख बनाए। अणुव्रत-आंदोलन जन-जीवन को संयम के सांचे में ढालने का प्रयत्न है। आप भी इसकी आचार-संहिता स्वीकार करें। इससे आपका जीवन संयम से भावित होगा। उसके फलस्वरूप अहिंसा आपके जीवन-व्यवहार में मूर्त बनेगी।

दिगंबर जैन मंदिर

बेलगछिया, कलकत्ता

१७ मई १९५९

७२ : श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार का समवाय ही मोक्ष-पथ है

भगवान पार्श्वनाथ और महावीर जैन-परंपरा के महान प्रभावी तीर्थंकर हुए हैं। जो उन्हें तीर्थंकर नहीं मानते, वे भी उनका ऐतिहासिक अस्तित्व/महत्त्व स्वीकार करते हैं। वे दोनों महापुरुष हमारे आराध्य और सर्वस्व हैं। उनसे बढ़कर हमारे पास दूसरी कोई पूंजी या संपन्नता नहीं है। उनके द्वारा बताए गए पथ पर चलना ही हमारा अभिप्रेत है। भगवान पार्श्वनाथ ने जहां *चातुर्यामि धर्म* का प्रचार किया, वहीं भगवान महावीर ने *अणगार धर्म* और *अगार धर्म* के रूप विभाजित कर धर्म को व्याख्यायित किया। वैसे दोनों के द्वारा प्ररूपित धर्म में मौलिक कोई भेद नहीं है। वह एक ही है। उनके उस धर्म को रेखांकित करते हुए *आगमों* में कहा गया है—

इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवित्तहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थं ठिया जीवा सिज्झन्ति बुज्झन्ति मुच्चन्ति परिनिव्वायन्ति सव्वदुक्खाणं अंतं करेन्ति। इसका अर्थ है—यही निर्गुंथ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, एक है, प्रतिपूर्ण है, न्याययुक्त है, शुद्ध है, शल्य को काटनेवाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याण और निर्वाण का मार्ग है, यथार्थ है, अविच्छिन्न है, सब दुःखों का नाश करनेवाला है।

मैं समझता हूं, स्वीकृत पथ के प्रति घनीभूत श्रद्धा का यह एक निदर्शन है। इस पथ के प्रति हमारी ऐसी ही घनीभूत श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि संशयशील व्यक्ति लक्ष्य तक पहुंचने में कभी सफल नहीं हो सकता। पर श्रद्धा ज्ञानयुक्त होनी चाहिए। सम्यक ज्ञान के साथ ही वह वास्तव में अपना प्रभाव दिखाती है।

तीसरा तत्त्व है—आचरण। एक अपेक्षा से सम्यक श्रद्धा और सम्यक ज्ञान की सही सार्थकता तभी प्रकट होती है, जब आचरण सही हो। वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और आचरण (चरित्र)—यह एक त्रिपदी है। गीता में इसे भक्ति, ज्ञान और कर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस त्रिपदी में अखिल विश्व के समस्त उपादेय तत्त्वों का समावेश हो गया है। कुछ लोग इनमें से एक-एक पर बल देते हैं, पर मेरी दृष्टि में यह उचित नहीं है। इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक श्रद्धा, सम्यक ज्ञान और सम्यक आचरण (चरित्र)—इन तीनों का समवाय ही मोक्ष-मार्ग है। इसलिए इन तीनों तत्त्वों की समुचित आराधना करनी चाहिए। इस आराधना-साधना में व्यक्ति जितना आगे बढ़ता है, उसका मोक्ष उतना ही निकट होता है।

श्री जैन श्वे. पार्श्वनाथ मंदिर (दादाबाड़ी)

माणिकतल्ला, कलकत्ता

१८ मई १९५९

७३ : साधना-पथ

अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए। यह अर्हत-वाणी है। यह साधना-पथ को प्रशस्त करनेवाला वचन है। सत्य का अन्वेषण और प्राणिमात्र के साथ मैत्री-मात्र ये दो बातें साधना की सफलता और पूर्णता के लिए पर्याप्त हैं।

सत्यान्वेषण का मार्ग बहुत सरल और सरस है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि सम्यक तत्त्वों के प्रवेश के लिए अपने मस्तिष्क का द्वार और खिड़कियां खुली रखी जाएं, अपने विचारों और बुद्धि में आग्रहहीनता या अनाग्रह को स्थान दिया जाए।

गहराई से देखा जाए तो आग्रहहीनता समन्वय का मौलिक आधार है। यों विचार-भेद या मतभेद एक अपरिहार्य-सी स्थिति है। उससे सर्वथा मुक्त नहीं हुआ जा सकता। ऐसी परिस्थिति में हमारा काम है कि हम पारस्परिक मतांतर इस प्रकार सुलझाएं कि न्याय भी हो तथा तत्त्वों का उचित महत्त्व भी अक्षुण्ण रह सके। आप देखें, जैनों का एक वर्ग मूर्तिपूजा में विश्वास करता है तो दूसरा वर्ग नहीं करता। मूर्तिपूजा करनेवाला वर्ग और न करनेवाला वर्ग दोनों के ही अपने-अपने तर्क हैं। मुझे ऐसा लगता है कि दोनों पक्षों के आग्रह के कारण परस्पर विभेद की खाई चौड़ी हो गई है। इस संदर्भ में आग्रहहीनता का पथ यह होगा कि प्रतिमा, मंदिर आदि प्रभुस्मृति के निमित्त और साधन बन सकते हैं। उनके समक्ष परमात्मा और उनके गुणों का स्मरण हो सकता है, किंतु यह कहना उचित नहीं कि प्रतिमा, मंदिर आदि के बिना प्रभु की पूजा हो ही नहीं सकती। मूलतः प्रभु-पूजा का संबंध अपने मन और भावों से है, स्थानविशेष से नहीं। स्थानविशेष के साथ उसकी प्रतिबद्धता प्रतिपादित करना आग्रहवादिता का द्योतक है। इसी प्रकार यह कहना भी आग्रहवादिता का प्रकटीकरण है कि मूर्ति से तो चक्की ही अच्छी है। सत्य का साधक कभी आग्रही नहीं हो सकता, और जो आग्रही होता

है, उसे सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।

मैत्री और प्रेम दोनों को सामान्यतः एक ही मान लिया जाता है। पर तत्त्वतः वे दोनों अलग-अलग हैं। मैत्री प्रेम से ऊंचा तत्त्व है। प्रेम लगभग सगे-संबंधियों एवं मित्रों तक सीमित रहता है, जबकि मैत्री इस दायरे से बाहर भी की जाती है। वस्तुतः मैत्री का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्राणिमात्र के साथ मैत्री करने का आदर्श हमारे सामने है।

मैत्री की प्रक्रिया गिरते हुए को ऊंचा उठाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने माता-पिता और गुरु के ऋण से उऋण हो सकता है, यह बहुत बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि इन तीनों के ऋण से उऋण होना जन्म-जन्मांतरों तक असंभव माना गया है। सत्यान्वेषण तथा प्राणिमात्र के प्रति मैत्री के इस साधना-पथ पर हम सतत आगे बढ़ते रहें। हमारी सफलता असंदिग्ध है।

साहू निलय

अलीपुर, कलकत्ता

२१ मई १९५९

७४ : संवर : मुक्ति का मार्ग

जैन-दर्शन आस्तिक दर्शनों में एक प्रमुख दर्शन है। यह आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व स्वीकार कर चलता है। बंधन से मुक्ति तक की संपूर्ण प्रक्रिया का इस दर्शन में वैज्ञानिक एवं सांगोपांग विश्लेषण प्राप्त होता है। कर्म-बंधन के हेतु को जैन-दर्शन में आश्रव कहा गया है। आश्रव-द्वार से प्रतिक्षण कर्म-पुद्गलों का प्रवेश होता रहता है और इस प्रकार आत्मा कर्मों के बंधन से बंधती चली जाती है। कहा जा सकता है कि संसार में दुःख का कारण आश्रव ही है। उसके पांच प्रकार बताए गए हैं—मिथ्यात्व, अब्रत, प्रमाद, कषाय और योग। विस्तार में उसके बीस प्रकार भी किए गए हैं।

आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। उससे नए कर्मों के बंधन की प्रक्रिया रुक जाती है। आश्रव की तरह उसके भी संक्षेप में पांच भेद किए गए हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। विस्तार में बीस भेद भी प्राप्त हैं। यद्यपि पूर्ण संवर की साधना सरल नहीं है, यह स्थिति चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है, पर आंशिक संवर पांचवें गुणस्थान से शुरू हो जाता है। चार गुणस्थानों तक संवर की प्राप्ति बिलकुल नहीं होती। पांचवें गुणस्थान में उसका प्रारंभ होता है। सम्यक्त्व संवर पांचवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। व्रत संवर की प्राप्ति छठे से चौदहवें गुणस्थान तक है। पांचवें गुणस्थान में उसका अपूर्ण रूप होता है। अप्रमाद संवर सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। अकषाय संवर ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक प्राप्त होता है। अयोग संवर केवल एक चौदहवें गुणस्थान में होता है। जैसे साधु-साध्वियां जो शुभ योग का निरोध करते हैं, उसे भी अयोग संवर का ही अंश माना गया है।

आश्रव और संवर दो ध्रुव हैं। भले आम लोगों को संवर का मार्ग अव्यावहारिक और कठिन लगे, पर आत्मोन्नति और मुक्ति का यह

एकमात्र पथ है। इसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है। जो भी व्यक्ति अपना विकास, अभ्युदय और बंधन-मुक्ति चाहता है, उसे प्रतिदिन आश्रव से मुक्त होने तथा संवर की ओर जाने का सतत प्रयास करना चाहिए। शब्दांतर से हम इन दोनों को आत्मा की क्रमशः वैभाविक एवं स्वाभाविक परिणतियां कह सकते हैं। व्यक्ति जैसे-जैसे वैभाविक परिणति छोड़कर स्वाभाविक परिणति अपनाता जाता है, वैसे-वैसे मिथ्या दृष्टिकोण, आंतरिक तृष्णा-लालसा, प्रमाद, कषाय व योगजन्य चंचलता से छुटकारा होता जाता है। इस क्रम में एक दिन वह मुक्ति तक पहुंच जाता है। व्यक्ति के लिए वह सर्वाधिक सौभाग्य का दिन होता है, जिस दिन वह पूर्ण संवर की स्थिति प्राप्त कर मुक्ति तक पहुंचता है।

कलकत्ता

२२ मई १९५९

७५ : ज्ञेय नव ही तत्त्व हैं

जैन-दर्शन में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व माने गए हैं। इनमें से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध—ये छह तत्त्व हेय या त्याज्य माने गए हैं तथा संवर, निर्जरा व मोक्ष—ये तीन तत्त्व ग्राह्य बताए गए हैं, पर बहुत समझने की बात यह है कि हेय और उपादेय—दोनों ही ज्ञेय बताए गए हैं। अर्थात् नौ ही तत्त्व ज्ञेय हैं। इसका कारण यह है कि हेय और उपादेय दोनों को जाने बिना व्यक्ति हेय और उपादेय का विवेक नहीं कर सकेगा। और इस विवेक के बिना वह कैसे तो हेय तत्त्व छोड़ सकेगा और कैसे उपादेय तत्त्व ग्रहण कर सकेगा?

धर्मारधना की दृष्टि से भी व्यक्ति को हेय और उपादेय दोनों प्रकार के तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं कि जीव क्या है और अजीव क्या है, वह जीवों के प्रति संयम कैसे रख सकेगा? अहिंसा की पालना कैसे कर सकेगा? आत्मा को जाने-समझे बिना उसके लिए आत्माराधना कैसे संभव हो सकेगी? जैन-दर्शन में आत्मा के बारे में विशद विवेचन प्राप्त है। साधारणतया एक शरीर में एक आत्मा का होना निश्चित है, पर वनस्पति में इसके अपवाद भी हैं। एक वृक्ष की सभी पत्तियों, टहनियों, शाखाओं, फलों व बीजों में अलग-अलग आत्मा/जीव हैं। वहां एक वृक्ष के आश्रित संख्यात, असंख्यात और अनंत जीव हो सकते हैं। एक शरीर में अनंत जीवोंवाली वनस्पति को निगोद की संज्ञा दी गई है। निगोद के दो भेद हैं—सूक्ष्म निगोद और बादर निगोद। सूक्ष्म निगोद के जीव पूरे लोक में व्याप्त हैं। वे हमारी आंखों के विषय नहीं हैं। बादर निगोद में प्याज, अदरक, शकरकंद, हलदी आदि का समावेश है। चालू भाषा में इन्हें जमीकंद भी कहते हैं। इनमें प्रत्येक शरीर अनंत जीवों का पिंड है। इसकी तुलना होमयोपैथिक दवा की गोलियों के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार होमयोपैथिक

दवा की गोली में तीन, छ, तीस, दो सौ, हजार, दस हजार, लाख की दवा-शक्ति रहती है, उसी प्रकार एक शरीर में अनंत जीव रहते हैं।

निगोद के अतिरिक्त भी एक भिन्न अपेक्षा से एक शरीर में अनंत जीवों की विद्यमानता मानी गई है। द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चरित्र आत्मा और वीर्य आत्मा—आत्मा के ये आठ प्रकार बताए गए हैं। द्रव्य आत्मा मूल आत्मा है। शेष उसके विभिन्न पर्याय हैं, गुण हैं। आत्मा के ये पर्याय या गुण सभी आत्मा है। इसी प्रकार आत्मा के अन्य जितने पर्याय और गुण हैं, उन्हें भी आत्मा जानना चाहिए। अपेक्षा है, इस विषय की विस्तृत जानकारी की जाए।

जीव की तरह अन्यान्य तत्त्वों के बारे में भी यथातथ्य ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान के आलोक में ही व्यक्ति सही पथ पर आगे बढ़ सकता है।

सुराना निवास

बालीगंज, कलकत्ता

२३ मई १९५९

७६ : उपासक : उपासना : उपास्य

धर्म के क्षेत्र में उपासक, उपासना और उपास्य—ये तीन महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। उपासना करनेवाला उपासक कहलाता है। उपासना से तात्पर्य है—अपने उपास्य की उपासना करना। जिसकी उपासना की जाती है, उसे उपास्य कहा जाता है।

पूछा जा सकता है कि उपासक कैसा हो। यह कोई अनिवार्य या आवश्यक नहीं कि उपासक धर्मात्मा हो। वह पापी-से-पापी भी हो सकता है, पर यह आवश्यक है कि वर्तमान में उसकी अंतःप्रवृत्ति उपासना की ओर हो।

दूसरी बात है उपासना की। उपासना की विधि ऐसी होनी चाहिए, जिसमें मन, वाणी और कर्म का यथासंभव ऐक्य हो। इस ऐक्य के बिना उपासना का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नहीं होता। इसके साथ ही उपासना के उद्देश्य की भी स्पष्टता होनी चाहिए। स्पष्टता से तात्पर्य है कि वह स्वयं को कृतार्थ करने के पवित्र उद्देश्य से होनी चाहिए। दूसरों को कृतार्थ करने का उद्देश्य सही उद्देश्य नहीं है।

तीसरी बात है उपास्य की। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपास्य का सही-सही निर्णय होना चाहिए। पूछा जा सकता है कि उपास्य कौन होना चाहिए। उपास्य वह हो, जो छोटे-बड़े सभी के प्रति समभाव रखता हो, पतितपावन हो। यानी जो अपने संपर्क में आनेवालों को पापकारी प्रवृत्तियों से छुड़ाकर सत्प्रवृत्त करने की दृष्टि से जागरूक हो। साधु-संतों में यह गुणात्मकता प्राप्त होती है, इसलिए वे उपास्य होने के अधिकारी हैं, पर इस संदर्भ में एक बात बहुत ध्यान देने की है। कोई भी व्यक्ति साधु केवल वेश से नहीं, अपितु अपनी गुणात्मकता से होना चाहिए। साधु-वेश धारण कर लेने से ही कोई साधु नहीं हो जाता। वेश तो मात्र ऊपर की पहचान है। मूलतः तो साध्वोचित गुणों के प्रकट होने पर ही

व्यक्ति सच्चा साधु होता है और वही उपास्य और श्रद्धेय हो सकता है।
उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

- न वि मुंडिण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥
- समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥

— शिर मुंडाने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और कुस का वस्त्र धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं होता। वास्तविक श्रमण वही है, जिसके मन में सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, सम्मान-अपमान, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मृत्यु, शीत-उष्ण आदि के प्रति समता का भाव हो। सच्चा ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्मचर्य की आराधना करता हो। सच्चा मुनि वही है, जो ज्ञानाराधना-मनन करता हो और वास्तविक तपस्वी वही है, जो संयम-तप की साधना करता हो।

पर लोगों में इसका विवेक कम देखने को मिलता है। उनका श्रद्धाप्रधान मानस गुणात्मकता की ओर कम जाता है और वे हर-कोई को उपास्य और श्रद्धेय मान बैठते हैं, पर यह सुनिश्चित है कि गुणसंपन्न उपास्य की उपासना, उसके प्रति श्रद्धा-भाव ही उपासक के लिए कल्याण का हेतु बन सकता है।

सुराना निवास

सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता

२४ मई १९५९

७७ : भय, शोक और जुगुप्सा से बचें

तीन वृत्तियां

भय, शोक और जुगुप्सा—ये तीन अलग-अलग वृत्तियां हैं। सब प्राणियों में इनकी मात्रा एक सरीखी नहीं होती। किसी प्राणी में भय की मात्रा ज्यादा होती है, किसी में शोक की और किसी में जुगुप्सा की। बावजूद इसके, इतना सुनिश्चित है कि इनकी मात्रा जितनी कम होती है, व्यक्ति का उतना ही हित है।

भय हिंसा का जनक है

भय आशंका का नाम है, जिसे कि जीतना बहुत कठिन है। हालांकि भय परिस्थितिजन्य भी होता है, तथापि इसका मूलभूत कारण मोहनीय कर्म का उदय है। मोहनीय कर्म में भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है। चारित्रमोहनीय कर्म की पचीस प्राकृतियां बताई गई हैं। उन पचीस प्रकृतियों में से एक प्रकृति भय है। गहराई से देखा जाए तो भय हिंसा का जनक है। इसलिए भयाकुल प्राणी कभी अहिंसक नहीं बन सकता। अहिंसक बनने के लिए अभय बनना आवश्यक है। अभय या निर्भय बनने के लिए किसी परिस्थिति में न घबराने का दृढ़ निश्चय अत्यंत अपेक्षित है। इस दृढ़ निश्चय के द्वारा व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थिति को बिना भयग्रस्त हुए पार कर देता है। भय भले किसी प्रकार का क्यों न हो, वह व्यक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। धार्मिक व्यक्ति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह न तो स्वयं भयभीत बने और न औरों को भयभीत बनाए।

शोक का कारण

शोक बहुलांशतः मानसिक व्यथा से संबद्ध है। यह भी चारित्र-मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। उस प्रकृति के उदय से व्यक्ति शोकग्रस्त बनता है। बहुत-से लोग अकारण चिंता करके शोकाकुल बन

जाते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे लोग भी देखने को मिलते हैं, जो भयंकर परिस्थितियों में भी शोक नहीं करते। कुछ व्यक्ति प्रिय-वियोग-जैसी कठिन स्थिति आने पर एक बार शोकग्रस्त तो अवश्य हो जाते हैं, पर बहुत जल्दी संभल जाते हैं और स्वयं को शोक से मुक्त बना लेते हैं। गौतम गणधर की बात हम पढ़ते हैं। भगवान महावीर के निर्वाण की स्थिति में वे एक बार तो शोक की धारा में बह गए। चार ज्ञान से संपन्न होकर भी विलाप करने लगे। इसका भी एक कारण था। महावीर के साथ उनका संबंध इसी जन्म से नहीं, अपितु कई जन्मों से चला आ रहा था। इसलिए भगवान महावीर के निर्वाण की वह स्थिति वे सहसा झेल नहीं पाए और शोकग्रस्त हो गए, पर शीघ्र ही उनकी भावधारा बदली। उनकी मोह की गंथि का भेदन हुआ। इसके फलस्वरूप वे शोक से मुक्त हो गए और देखते-देखते उन्हें केवलज्ञान उपलब्ध हो गया।

बहिनों में शोक की प्रवृत्ति कुछ ज्यादा ही देखने में आती है। किसी पारिवारिक जन की मृत्यु से वे शोकविह्वल बन जाती हैं, पति-वियोग की स्थिति में शिर फोड़ लेती हैं, सती तक बन जाती हैं। इसके विपरीत कुछ-कुछ ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं, जब बहिनें प्रिय-से-प्रिय के वियोग में भी रुदन तक नहीं करतीं। अपना मन चट्टान की तरह मजबूत बनाकर उस आघात को झेलती हैं। ऐसे आदर्श उपस्थित करना मोहनीय कर्म के क्षयोपशम का द्योतक है।

घृणा करना अनुचित है

तीसरी वृत्ति है जुगुप्सा। जुगुप्सा का अर्थ है-घृणा। जुगुप्सा की प्रवृत्ति किसी-न-किसी रूप में प्रायः हर सांसारिक प्राणी में देखने में आती है। यह भी चारित्रमोहनीय कर्म की पचीस प्रकृतियों में से एक प्रकृति है। इस प्रकृति के उदय के प्रभाव से प्राणी जुगुप्सा करता है। जुगुप्सा भले किसी प्रकार की हो, किसी कारण हो, वह अच्छी नहीं है, उपादेय नहीं है। कुछ लोगों के मन में गंदगी के कारण घृणा का भाव पैदा होता है। मैं समझता हूँ, गंदगी को गंदगी जानना-समझना और उससे बचना तो ठीक है, पर उससे किसी प्रकार की घृणा करना उचित नहीं।

प्रसंग मृगालोद्धा का

आगमों में मृगालोद्धा का प्रसंग आता है। महारानी मृगावती का वह पुत्र था। भयंकर कटुकपरिणामी अशुभ कर्मों के उदय के कारण वह नाम

भय, शोक और जुगुप्सा से बचें

● १८१ ●

मात्र का मनुष्य था। जन्म से ही उसका शरीर लोढ़े के आकार का था। इसी कारण वह मृगालोढ़ा कहलाया। और तो क्या, उसके खाने और मलोत्सर्ग का मार्ग भी एक ही था। जिस मुंह से वह कुछ खाता, उससे ही कुछ देर बाद उत्सर्ग भी कर देता। पूरे शरीर से भयंकर दुर्गंध फूटती थी। जिस तलघर में महारानी मृगावती उसे रखती थी, वहां साधारण आदमी का तो एक-दो क्षण खड़ा रहना भी कठिन हो जाए। महारानी मृगावती अपने मातृत्व के कारण उस स्थिति में भी उसका पालन-पोषण करती थी। अन्य किसी को उसकी कोई जानकारी नहीं थी, पर भगवान महावीर तो परम ज्ञानी थे। उनसे कुछ भी अज्ञात नहीं था। किसी प्रसंग में उन्होंने गौतम स्वामी को उसके बारे में जानकारी दी। सुनकर गौतम स्वामी के मन में उसे देखने की भावना पैदा हुई। भगवान की आज्ञा लेकर वे महारानी मृगावती के महल में पहुंचे और उन्होंने राजकुमार मृगालोढ़ा को देखने की इच्छा व्यक्त की। सुनकर एक बार तो महारानी मृगावती को बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिस राजकुमार के बारे में मेरे सिवाय किसी को कोई जानकारी नहीं है, वह रहस्य गौतम स्वामी तक कैसे पहुंचा, पर अगले क्षणों में ही वह समझ गई कि सर्वदर्शी भगवान महावीर के माध्यम से यह रहस्य गौतम स्वामी तक पहुंचा है। उसने गौतम स्वामी से निवेदन किया—‘प्रभो! मेरा घर पावन कर आपने बड़ी कृपा की, पर जिस राजकुमार को देखने के आप इच्छुक हैं, वह देखने योग्य नहीं है। उसे देखने मात्र से मन में घृणा का भाव जागता है।’ गौतम स्वामी ने कहा—‘इसके लिए तुम्हें विचार करने की कोई जरूरत नहीं है। मैं यही तो जानना चाहता हूं कि ऐसी क्या स्थिति है।’ गौतम स्वामी की उत्सुकता पर रानी उन्हें तलघर के पास ले गई। जैसे ही उसने तलघर का दरवाजा खोला दुर्गंध-ही-दुर्गंध फैल गई। मृगालोढ़ा लुढ़कता हुआ दरवाजे के पास आया। उसके समाने भोजन रखा गया। उसने भोजन किया और देखते-देखते ही उसी द्वार से मलोत्सर्ग भी कर दिया। सारी स्थिति देख-जानकर गौतम स्वामी कर्म-विपाक की विविधता एवं विचित्रता के चिंतन में खो गए, पर उन्होंने घृणा बिलकुल भी नहीं की। मैं आपसे यही कह रहा था कि व्यक्ति गंदगी को गंदगी जाने-समझे और उससे बचने का प्रयत्न करे, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है, पर गंदगी के प्रति घृणा का भाव करना ठीक नहीं। यह कर्म-बंधन का हेतु है।

मैं देखता हूं, समाज में जातिविशेष और वर्णविशेष के लोगों के

प्रति एक घृणा का भाव है। यह ठीक नहीं है। यह वृत्ति बदलनी चाहिए। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से हम यह घृणा का भाव मिटाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसलिए उसकी आचार-संहिता में जाति आदि के आधार पर घृणा न करने का एक संकल्प रखा गया है। आप लोग भी इस मनोभाव से सर्वथा मुक्त होने का प्रयत्न करें। यह न केवल आपके आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आवश्यक है, अपितु स्वस्थ समाज व्यवस्था की अपेक्षा से भी महत्त्वपूर्ण है।

जै. श्वे. ते. महासभा भवन

कलकत्ता

२७ मई १९५९

७८ : व्यावहारिक जीवन में धर्म का प्रयोग

धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवन के सभी भागों में उपयोगी है। कहीं वह अवरोधक के रूप में उपयोगी बनता है तो कहीं उत्तेजक के रूप में। सत्प्रवृत्तियों या सत्कार्यों की प्रेरणा जगाने में वह उत्तेजक है तो दुष्प्रवृत्तियों/असत्कार्यों के लिए अवरोधक है।

जीवन की परिभाषा

धर्म का जीवन में उपयोग है, इसे समझने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि जीवन क्या है। यों जीवन सभी जीते हैं, पर जीवन की यथार्थ रूप में पहचान बहुत ही कम लोगों को होती है। क्या खाना-पीना और भोग-विलास ही जीवन है? क्या संसार में जीवित रहने की अवधि ही जीवन है? क्या विभिन्न भौतिक तत्त्वों की प्राप्ति ही जीवन है? मेरी दृष्टि में इन सब बातों से धर्म का कोई संबंध नहीं है। फिर जीवन क्या है? संयम ही वास्तविक जीवन है। यानी व्यक्ति की संसार में मृत्युपर्यंत रहने की संपूर्ण कालावधि के अंतर्गत जो काल संयमसंवलित होता है, वही उसका यथार्थ जीवन है।

धर्म किसके लिए

प्रश्न किया जा सकता है कि धर्म किसके लिए है। इस संदर्भ में भगवान महावीर ने कहा है कि धर्म धार्मिकों के लिए भी है और अधार्मिकों के लिए भी। धार्मिकों के लिए तो इसलिए कि वे धर्म में स्थिर रहें तथा अधार्मिकों के लिए इसलिए कि वे अधर्माचरण से धर्माचरण की ओर मुड़ें। यदि अधार्मिकों के लिए वह उपयोग का तत्त्व न हो तो उसके सहारे उनका उद्धार कैसे संभव हो सकेगा? हम मानते हैं कि मिथ्यादृष्टि प्राणी सम्यग्दृष्टि भी बनता है। उसका सम्यक्त्व प्राप्त करना धर्म की प्रायोगिकता व उपयोगिता का ही द्योतक है।

व्यावहारिक जीवन में धर्म के प्रयोग का प्रश्न अनेक लोगों के द्वारा उठता रहता है। इसका भी कारण है। वह कारण यह कि जब-तब उसका प्रयोग कम हो जाता है या कभी-कभी धर्म के उपयोग और उसके फलित का श्रेय अन्यत्र जाने लगता है। आप यह बात समझें कि हम इस जीवन में जो कार्य करते हैं, वह जीवन-व्यवहार है तथा इस जीवन के बाद जो-कुछ होगा, वह भी एक जीवन है। धर्म वर्तमान जीवन और आगामी जीवन दोनों के लिए उपयोगी और आवश्यक है।

धर्म का व्यावहारिक उपयोग

कुछ लोगों के मुंह से मैं इस आशय की शब्दावली सुनता हूँ कि आज धर्म का जीवन-व्यवहार में कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि उसके सहारे काम नहीं चल सकता। मेरी दृष्टि में यह चिंतन सही नहीं है। यदि कोई तत्त्व हमारे जीवन-व्यवहार के लिए काम का नहीं है, उपयोगी नहीं है तो इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि वह हमारे लिए नहीं है, किंतु धर्म का तत्त्व यदि अतीत में हमारे काम का या उपयोग का तत्त्व रहा है तो वह वर्तमान में भी काम का तत्त्व है और भविष्य में भी काम का तत्त्व रहेगा। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आर्जव, क्षांति, मुक्ति आदि तत्त्व धर्म के विभिन्न अंग हैं, विभिन्न रूप हैं। इनका मोक्षाराधना की दृष्टि से जितना उपयोग और महत्त्व है, उतना ही महत्त्व स्वस्थ जीवन-व्यवहार की दृष्टि से भी है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, बल्कि युद्ध में भी इन सबका व्यावहारिक उपयोग बहुत स्पष्ट है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोग

मैं मानता हूँ कि कमी धर्म की प्रयोगात्मकता की नहीं, बल्कि प्रयोग करनेवालों की है। कहना चाहिए कि यह मानव-जीवन की एक ऐसी प्राकृतिक चिकित्सा है, जो आए हुए विकार तो दूर करती ही है, साथ ही उनके आने का जो कारण है, उसे भी मिटाकर भविष्य में भी उनसे त्राण दिलाती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को सही रूप में पहचानकर उसे जीवन-व्यवहार में अधिकाधिक स्थान दिया जाए। यह जितना अधिक जीवन-व्यवहार में उतरेगा, व्यक्ति के लिए उतनी ही अधिक श्रेयस्कर स्थिति निर्मित होगी। अणुव्रत-आंदोलन भी

जीवन-व्यवहार में धर्म का एक प्रयोग है। वह बिना किसी भेदभाव के जन-जन को आह्वान करता है कि वह अपने जीवन-व्यवहार में धर्म को उतारे। उसका अभिप्रेत है कि लोग दिन-प्रतिदिन शुद्ध, सात्त्विक, ऋजु एवं संयमी बनते रहें। यही धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

कलकत्ता

३१ मई १९५९

७९ : आध्यात्मिक व नैतिक विकास ही वास्तविक विज्ञान है*

मनुष्य चिंतनशील व अनुभूतिप्रधान प्राणी है। रोटी, कपड़ा व पार्थिव भोग-सामग्री ही उसकी अंतिम मंजिल नहीं है। इन सबके परे उसके मन की भी कोई खुराक है और वह है—अध्यात्म। उसके बिना वह जी नहीं सकता, उसका चैतन्य मूर्च्छित होने लगता है। पार्थिव सुख-प्रसाधनों के ढेर में भी ग्लानि व दैन्य उसे कचोटने लगता है। उस भौतिक समृद्धि के शिखर से वह आध्यात्मिक उन्नयन की राह पकड़ता है। ऐसी स्थिति में ही तो भगवान महावीर ने कहा था—‘ज्ञानी होने का सार है कि वह किसी की हिंसा न करे।’ वस्तुतः अहिंसा धर्म का सारभूत तत्त्व है। अध्यात्म-जाग्रति के बिना अहिंसा, मैत्री, विश्वबंधुत्व व आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना का आविर्भाव नहीं हो सकता। भौतिक विज्ञान भौतिक सुख-सुविधा के साधनों का ढेर लगा सकता है, पर वह मानव-मन में संतोष व संयम नहीं जगा सकता; और संयम व संतोष के बिना मनुष्य सुख व शांति प्राप्त नहीं कर सकता। भौतिक विज्ञान चंद्रलोक की दूरी तय कर सकता हो, पर वह राष्ट्र-राष्ट्र, समाज-समाज, पड़ोसी-पड़ोसी में जो मनोदूरी है, विचारों की दूरी है, उसे तय नहीं कर सकता। ऐसा इसलिए कि मनुष्य का आध्यात्मिक व नैतिक विकास ही वास्तविक विज्ञान है।

अणुव्रत-आंदोलन अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर सुषुप्त मानव को जाग्रत करने का एक उपक्रम है। वह काले और गोरों में, हरिजनों और महाजनों में, किसानों और जमींदारों में, मजदूरों और पूंजीपतियों में समानता, सौहार्द व निर्द्वंद्व की स्थिति देखना चाहता है; और यह कार्य मनुष्य के नैतिक व आध्यात्मिक उन्नयन से ही संभव है।

पत्रकार सम्मेलन में प्रदत्त वक्तव्य।

आध्यात्मिक व नैतिक विकास ही वास्तविक विज्ञान है

● १८७ ●

उपदेश और हृदय-परिवर्तन

अणुव्रत-आंदोलन हृदय-परिवर्तन का मार्ग है। वह व्यक्ति-सुधार से समष्टि-सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। कोई कह सकता है कि ऐसे उपदेशात्मक आंदोलन से क्या होने का है; भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने भी तो ऐसे अभियान चलाए थे, पर उनसे क्या हुआ। संसार तो उनके बाद भी ज्यों-का-त्यों रहा। मैं मानता हूँ, यह निराशा का स्वर है। भगवान महावीर और बुद्ध के प्रयत्नों से कुछ भी नहीं हुआ, ऐसा सोचना अनुचित है। यथार्थ यह है कि उनके प्रयत्नों से उस समय हिंसा के रौद्र दावालयन में झुलसते समाज को एक अलौकिक शांति मिली थी। दासत्व-जैसी दुष्प्रथाओं से वह मुक्त बना था, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

कोई पूछ सकता है, मनुष्य के द्वंद्व समाप्त क्यों नहीं हो पाए। मैं मानता हूँ कि यह प्रश्न चिंतन का अतिरेक है। आज भी अणुव्रत या अन्य कोई प्रयत्न मनुष्यमात्र को सर्वथा समस्यामुक्त कर देगा, फिर उसके सामने एक भी द्वंद्व नहीं रहेगा—यह अतिकल्पना है। समाज क्रमिक विकास से ही आगे बढ़ता आ रहा है। आज की क्रांति आनेवाले समाज के लिए सुधार ही प्रमाणित होती है।

हृदय-परिवर्तन की बात को भी बहुत बार लोग साधारण कहकर टाल देते हैं, पर अंतिम सचाई यह है कि किसी निर्माण का पूर्ण रूप हृदय-परिवर्तन ही है। विचारों का परिवर्तन ही क्रियात्मक परिवर्तन बनता है। कुछ लोग इसे परिवर्तन और निर्माण का एक शिथिल प्रकार मानते हैं, पर बदलाव का इससे भिन्न कोई दूसरा मानवोचित प्रकार है भी तो नहीं। विज्ञान द्वारा भी अब तक कोई ऐसा यंत्र आविष्कृत नहीं हुआ है, जिसे छूते ही मनुष्य का हृदय बदल जाए और चोर या डाकू भला मनुष्य बन जाए, जबकि भगवान महावीर व गौतम बुद्ध आदि महापुरुष अपने उपदेशों से ऐसे लोगों का भी हृदय-परिवर्तन करने में सफल हुए हैं।

अणुव्रत-आंदोलन विचार-निर्माण का आंदोलन है। वह मनुष्य के संस्कारों में से शोषण, संग्रह आदि दोष मिटाकर एक उदार मानवीय प्रभावना का संचार करता है। अणुव्रत-भावना से प्रेरित लोग शोषण, संग्रह आदि से मुक्त रहकर भले जिस-किसी व्यवसाय में क्यों न जाएं, वह उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति हो जाएगी। नई समाज-रचना का सूत्रपात

वहां से अपने-आप होता रहेगा। कुछ इनी-गिनी प्रवृत्तियों तक ही रचनात्मकता को सीमित कर देना इस शब्द के साथ न्याय नहीं है।

महात्मा गांधी ने मद्य-निषेध को रचनात्मक-प्रवृत्तियों में लिया है। इस अर्थ में तो यह समग्र आंदोलन रचनात्मक है ही। यह कैसे हो सकता है कि मद्य-निषेध तो रचनात्मक प्रवृत्ति हो और रिश्वत-निषेध, मिलावट-निषेध, चोरबाजारी-निषेध आदि प्रवृत्तियां रचनात्मक न हों?

आदि से अब तक

दस वर्ष पूर्व जबकि भारत स्वतंत्र ही हुआ था, मैंने अपने आदेशानुवर्ती लगभग साढ़े छह सौ शिष्य साधु-साध्वियों के सामने अणुवत-आंदोलन की रूप-रेखा प्रस्तुत की और भारतवासियों के नैतिक पुनरुत्थान के लिए सचेष्ट होकर कार्य करने की प्रेरणा दी। कोई एक कार्यक्रम सुचिंतित रूप में उठाकर उसमें सुसंगठित-सुव्यवस्थित रूप से इतने बड़े साधु-समुदाय को लगाना एक महत्त्वपूर्ण बात थी। इसी पुनीत उद्देश्य से मेरे साधु-साध्वियों ने पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक भारत के प्रायः सभी अंचलों में पद-यात्राएं कीं और कर रहे हैं। मैं स्वयं भी इस अवधि में राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल आदि प्रांतों में लगभग दस हजार मील की पदयात्रा कर चुका हूं। मुझे अपने इस कार्य में साहित्यकारों, पत्रकारों, अधिकारियों व समाजसेवी जन-नेताओं का यथोचित भरपूर सहयोग मिला है। आंदोलन के कार्यक्रम से गांवों व नगरों में, शिक्षितों व अशिक्षितों में चरित्र-निर्माण की एक अपूर्व लहर आई है। सहस्रों की संख्या में राज्यकर्मचारियों व व्यापारियों ने रिश्वत न लेना, झूठा तौल-माप न करना, मिलावट न करना आदि इस आंदोलन के वर्गीय नियम ग्रहण किए हैं। लाखों की संख्या में विद्यार्थियों ने नकल न करना, तोड़-फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना आदि पांच नियम ग्रहण किए हैं तथा अपने-अपने स्कूल व कॉलेज में इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने अणुवत विद्यार्थी परिषद की स्थापना की है।

ब्रतों की न्यूनाधिकता पर आधारित तीन श्रेणियां हैं। उनमें लगभग एक लाख व्यक्ति प्रतिज्ञाबद्ध होकर सम्मिलित हुए हैं। कहा जा सकता है कि लगभग दस लाख व्यक्तियों ने इस अवधि में अणुवत-आंदोलन की यथाशक्य प्रतिज्ञाएं ग्रहण की हैं। जहां तक आंदोलन की विचार-प्रेरणा का प्रश्न है, वह तो करोड़ों-करोड़ों लोगों तक पहुंची है। विचार-शुद्धि का

वातावरण बनाने के लिए अणुव्रत-विचार-परिषद, अहिंसा-दिवस, अणुव्रत-शिविर आदि अनेक प्रवृत्तियां देश के विभिन्न भागों में चलती रही हैं और चल रही हैं। देश के आम चुनावों में लोग नैतिकता न खोएं, इस दिशा में भी चुनावों के प्रसंग पर एक प्रभावशाली कार्यक्रम चलाया गया था। अणुव्रत-आंदोलन के अंतर्गत *मैत्री-दिवस* का कार्यक्रम अंतरदेशीय क्षेत्र में चलनेवाले शीत-युद्धों व तनाव कम करने की दिशा में एक सात्त्विक चरण-विन्यास है।

यूनेस्को (U.N.E.S.C.O.) के डाइरेक्टर जनरल डॉ. लूथर इवेन्स और अनेक देशों के राजदूत इस कार्यक्रम में रस ले रहे हैं और वे इसे विश्व-मैत्री-दिवस के रूप में देखना चाहते हैं। इस प्रकार यह एक प्रगतिशील आंदोलन है। इसमें नाना प्रवृत्तियों के रूप में अभिनव उन्मेष सदा ही होते रहे हैं और हो रहे हैं।

बंग प्रदेश में अणुव्रत-आंदोलन का यह प्रथम वर्ष है। कलकत्ता पहुंचने में मेरे सामने यह आकर्षण तो था ही कि अणुव्रतों का पावन संदेश बंगवासियों के कानों तक पहुंचे, पर इससे भी अधिक बड़ा एक आकर्षण बंगीय संस्कृति का साक्षात्कार करना भी रहा है। इस संस्कृति में त्याग, संयम-साधना व धर्म के प्रति सदा से आदर रहा है और मुझे वह आज भी सुरक्षित लग रहा है। जब बंगाली भाई मुझसे मिलते हैं, तब उनका सौजन्य, साधु-प्रेम, सहज श्रद्धा आदि गुण मानो मूर्त हो उठते हैं। किसी युग में जैन-धर्म बंगवासियों का अपना धर्म रहा है, यह इतिहास बताता है। बहुत संभव है कि बंगाल भगवान महावीर की विहार-भूमि भी रहा हो।

लगभग पौने तीन माह से हम यहां अपना कार्यक्रम चला रहे हैं। इस अवधि में मैंने अनुभव किया है कि यहां के लोगों के मन में अणुव्रत की बात सुनने की तीव्र उत्सुकता है, जिज्ञासा का भाव है। पत्रकारों, साहित्यकारों तथा अन्य लोगों का भी आंदोलन को समुचित सहयोग मिल रहा है। इस वर्ष का चातुर्मासिक प्रवास हमने यहीं करने का निर्णय कर लिया है। इस अवधि में व्यापारियों, विद्यार्थियों, राज्यकर्मचारियों, विधायकों आदि सभी वर्गों के लोगों में तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में योजनाबद्ध ढंग से नैतिक जाग्रतिमूलक इस अणुव्रत कार्यक्रम को चलाने का निश्चय किया गया है।

पत्रकारों से अपेक्षा

अन्य वर्गों की तरह पत्रकार-समुदाय से इस संबंध में कुछ कहना चाहूंगा। आज के समाज में पत्रों व पत्रकारों का महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। लोग जहां प्रातःकाल उठकर *गीता*, *रामायण* आदि का पाठ किया करते थे, आज उनकी प्रथम निगाह समाचारपत्रों पर पड़ने लगी है।

वर्तमान सामाजिक मूल्यों में मौलिक परिवर्तन अपेक्षित है। पत्रकार यह दायित्व सफलतापूर्वक निभा सकते हैं। वे चाहें तो भूतवाद के भयंकर ज्वालामुखी की ओर दौड़ते हुए संसार को अध्यात्मवाद के सरस उपवन की ओर सहज ही मोड़ सकते हैं। मैं उनसे विशेष रूप से कहना चाहूंगा कि वे अपना यह पेशा केवल व्यवसाय व अर्थलाभ की बुद्धि से न चलाएं। ध्यान रहे, पवित्र-से-पवित्र कार्य व्यवसाय-बुद्धि का रंग पाकर दूषित हो जाता है।

अणुव्रत-आंदोलन पत्रकारों के लिए भी कुछ व्रत निर्धारित करता है—

1. स्वार्थ, लोभ व द्वेषवश भ्रमोत्पादक व मिथ्या संवाद, लेख व टिपण्णी प्रकाशित नहीं करूंगा।
2. किसी को बदनाम करने की धमकी देकर रुपए ऐंठने की कोशिश नहीं करूंगा।
3. भद्दे व अश्लील लेख, विज्ञापन, चित्रादि प्रकाशित नहीं करूंगा।

अणुव्रत-आंदोलन की सफलता का एक आधार यह भी है कि वह त्यागी और तपोधन साधुजनों द्वारा प्रेरित होता रहा है। लगभग साढ़े छह सौ साधु-साध्वियां करीब सवा सौ दलों में विभक्त हैं और वे भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रांतों में पाद-विहार करते हुए जन-जन को आध्यात्मिक और नैतिक प्रेरणा देते हैं। वे साधुजन जहां जन-जन को अणुव्रतों की शिक्षा देते हैं, वहां स्वयं जीवन में महाव्रत उतारकर चल रहे हैं।

अणुव्रत-आंदोलन किसी व्यक्ति व समाजविशेष का नहीं, अपितु सबका है। आशा है, सभी लोग इसे व्यापक बनाने में प्रेरणावान होंगे।

८० : महारंभ और महापरिग्रह से बचें

नरक-आयुष्य-बंधन के चार कारण

आयुष्य के चार प्रकार हैं—नरकायुष्य, तिर्यचायुष्य, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य। चारों ही प्रकार के आयुष्य के बंधन के अलग-अलग कारण बताए गए हैं। संक्षेप में नरकायुष्य-बंधन का कारण क्रूरतापूर्ण व्यवहार है। कुछ विस्तार में कहा जाए तो चार कारण हैं—१. महारंभ २. महापरिग्रह ३. पंचेंद्रिय-वध ४. मांसाहार।

महारंभ उस बड़ी हिंसा को कहते हैं, जो क्रूरतापूर्ण हो और सतत चलती हो। यों तो गार्हस्थ्य जीवन की कुछ ऐसी स्थितियां हैं, जिनके कारण व्यक्ति हिंसा से सार्वथा विरत नहीं हो सकता। वहां एक सीमा तक हिंसा अनिवार्य है। उस अनिवार्य हिंसा की बात हम छोड़ें, पर हिंसा से जुड़ी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियां भी हैं, जो आवश्यक और परिहार्य होने के बावजूद की जाती हैं। उनमें से कुछ प्रवृत्तियां क्रूरतापूर्ण होती हैं। उनके करने के पीछे व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति, महत्वाकांक्षा, अर्थलिप्सा आदि तत्त्व काम करते हैं। इनमें होनेवाली हिंसा महारंभ है। अतः प्रत्येक सदगृहस्थ को क्रूरतापूर्ण हिंसा से बचने के प्रति जागरूक रहना चाहिए, अन्यथा नरकायु-बंध की संभावना नहीं टाली जा सकती।

कृषि और जैन

कुछ लोगों की ऐसी अवधारणा है कि हिंसा के भय से जैन लोग कृषि नहीं करते। मेरी समझ में यह अवधारणा यथार्थपरक नहीं है। कट्टु सचाई यह है कि कृषि में होनेवाले कठिन श्रम से बचने की मनोवृत्ति एवं आरामतलबी के कारण वे इसे छोड़कर लगभग पूरी तरह व्यापार-व्यवसाय में लग गए हैं। प्राचीन समय में जैन लोग कृषि से जुड़े हुए थे। आज भी कुछ-कुछ जैन कृषि करते हैं। यद्यपि कृषि में एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के जीवों की हिंसा होती है, तथापि सैद्धांतिक दृष्टि

● १९२ ● ————— ज्योति जले : मुक्ति मिले

से आवश्यक और अनिवार्य हिंसा होने के कारण यह महारंभ की कोटि में समाविष्ट नहीं होती।

मैं देख रहा हूँ, आज सद्दा बहुत चलता है। लोग शायद समझते हैं कि वह हिंसा से परे है, पर वास्तविकता यह है कि यह सामान्य हिंसा की कोटि में नहीं, बल्कि महारंभ की कोटि में आता है। क्यों ? इसलिए कि उसमें मानसिक विकृति, भावों की क्रूरता, अध्यवसाय की मलिनता आदि बातें प्रचुर मात्रा में रहती हैं।

हिंसा की परिभाषा

प्रासंगिक तौर पर जैन-दर्शन का हिंसा का सिद्धांत भी संक्षेप में स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हिंसा का संबंध मात्र जीव के मरने से नहीं है। कभी-कभी जीव की मृत्यु हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। यह इसलिए कि वहां मन, वचन और काया की कोई दुष्प्रवृत्ति नहीं है। मूलतः हिंसा का संबंध व्यक्ति की अपनी दुष्प्रवृत्ति से है। जीव का मरना तो उसका एक स्थूल परिणाम है। यदि व्यक्ति दुष्प्रवृत्त नहीं है तो कदाचित जीव के मरने के बावजूद वह हिंसा के पाप का भागीदार नहीं है। इसके विपरीत यदि वह मन, वचन या काया—किसी स्तर पर दुष्प्रवृत्त है तो जीव के न मरने के बावजूद हिंसा के पाप से नहीं बच सकता। इसलिए हिंसा-अहिंसा के संदर्भ में लोगों को अपनी अवधारणा सम्यक बनानी चाहिए।

शोषण महारंभ है

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि कपड़ा, जूट आदि के व्यवसाय में हिंसा नहीं है, पर यह धारणा भी सम्यक नहीं है। इनके व्यापार-व्यवसाय और उद्योग में भी हिंसा निहित है और विशेष परिस्थितियों में ये महारंभ की कोटि में भी आ जाते हैं। इसी प्रकार श्रमिकों से दबावपूर्वक अधिक काम लेना या अन्य रूपों में उनका शोषण करना भी महारंभ है। ऐसी प्रवृत्तियों से सलक्ष्य बचा जाना चाहिए।

कारखानों में होनेवाली हिंसा को एकांततः महारंभ कहना तो थोड़ा कठिन है, पर इतना सुनिश्चित है कि उनके चलाने में होनेवाली वैचारिक या अन्य किसी प्रकार की क्रूरता महारंभ है। यद्यपि आज का चिंतन प्रवाह कल-कारखानों के पक्ष में है, उन्हें आर्थिक प्रगति एवं राष्ट्र के अभ्युदय के लिए आवश्यक मान लिया गया है, तथापि इतना तो स्पष्ट

ही है कि उनसे आवश्यकताओं की पूर्ति के लक्ष्य के विपरीत अपनी लालसाओं, महत्वाकांक्षाओं और लिप्सा की पूर्ति की चेष्टा करना अनुचित है। ऐसी स्थिति में उनमें होनेवाली हिंसा को महारंभ की कोटि में ही गिनना होगा। हां, जितने रूप में वहां क्रूरता का अभाव है, उतने परिमाण में वह महारंभ नहीं है।

महारंभ की भित्ति महापरिग्रह है। किसे कहते हैं महापरिग्रह ? मात्र संग्रह महापरिग्रह नहीं है, अपितु आसक्तिपूर्ण संग्रह महापरिग्रह है। महारंभ और महापरिग्रह दोनों, जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही बताया था, नरकायुष्य-बंधन के कारण हैं। हर व्यक्ति को इनसे बचने की दृष्टि से सतत जागरूक रहना चाहिए।

कलकत्ता

५ जून १९५९

८१ : वंचनापूर्ण व्यवहार से बचें

जैन-दर्शन के अनुसार प्राणी मायापूर्ण व्यवहार के कारण तिर्यचायुष्य अर्थात् पशु, पक्षी, कीट, पतंगा, मिट्टी, पानी, वनस्पति आदि का जीवन प्राप्त करता है। वैदिक दार्शनिकों ने ईश्वर के अतिरिक्त समस्त संसार को माया बताया है, पर जैन-दर्शन में वह कषाय का एक प्रकार है। क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में कषाय के चार प्रमुख भेद किए गए हैं। तात्पर्य यह कि जैन-दर्शन की मान्यता में माया एक बड़ा दोष है। इसकी परिधि में ऐसी अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां चलती हैं, जो प्राणी के तिर्यचायुष्य-बंधन में हेतुभूत बनती हैं।

थोड़े विस्तार में मायापूर्ण व्यवहार के चार प्रकार तिर्यचायुष्य-बंधन के कारण बताए गए हैं। वे हैं—१. दंभचर्या २. निकृति ३. अलीक वचन ४. कूट तौल-माप।

दंभचर्या माया का पर्यायवाची है। निकृति से तात्पर्य है—एक दोष छिपाने के लिए दूसरा दोष करना। एक कपटपूर्ण व्यवहार किया। वह कपट प्रकट न हो जाए, इसलिए दूसरा कपटपूर्ण व्यवहार करना—यह निकृति है। इसे गूढ़ माया भी कह सकते हैं। अलीक वचन यानी असत्य भाषण। कूट तौल-माप तो स्पष्ट ही है। तौल-माप में कमी-बेशी करना।

तिर्यचायुष्य-बंधन में हेतुभूत इन चारों प्रवृत्तियों से बचने का व्यक्ति को सलक्ष्य प्रयत्न करना चाहिए, पर इस संदर्भ में एक बात और समझ लेने की है। ध्यान रखने के बावजूद व्यक्ति से जब-तब प्रमाद हो सकता है, जान-अनजान में दोष हो सकता है, मजबूरी में असद्व्यवहार हो सकता है। यह निश्चित है कि इस निमित्त अशुभ कर्मों का बंधन होता है। दैनिक जीवन में जान-अनजान में होनेवाले दोषों के कारण होनेवाले इस बंधन से छूटने के लिए सनातन धर्म में पांच यज्ञों की बात कही गई है। जैन-धर्म में उसके लिए बारह प्रकार की तपस्या का विधान है।

बेशक तपस्या के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों से छूटा जा सकता है, पर इस सिद्धांत का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। चूंकि दुष्प्रवृत्तियों के कारण होनेवाला कर्मबंधन तपस्या के द्वारा काटा जा सकता है, इसलिए दुष्प्रवृत्ति/पाप करने की छूट होनी चाहिए, इस प्रकर का चिंतन उसका दुरुपयोग है। ऐसा चिंतन पाप के प्रति आसक्ति का द्योतक होता है, जो कि कर्मबंधन को प्रगाढ़ बनाता है।

आस्तिक लोगों के लिए तो अपना भविष्य संवारने की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की वंचना/माया से बचते हुए सत्य, ऋजुता, सहजता आदि तत्त्व स्वीकार करना अपेक्षित है ही, साथ ही जो लोग पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्म, परलोक आदि में विश्वास नहीं करते हैं, उनके लिए भी ये तत्त्व बहुत उपयोगी हैं, बल्कि वर्तमान-जीवन की स्वस्थता के लिए अनिवार्य हैं।

कलकत्ता

७ जून १९५९

८२ : देवायुष्य बंधन के कारण

आयुष्य के चार प्रकारों में एक प्रकार है—देवायुष्य। देवायुष्य-बंधन का कारण है—सराग संयम। विस्तार में कहा जाए तो चार कारण हैं—
१. सराग संयम २. संयमासंयम ३. बाल तपस्या ४. अकाम निर्जरा।

सराग संयम से तात्पर्य है—रागावस्था या अवीतरागावस्था का संयम। यह छोटे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक की स्थिति है। संयमासंयम का अर्थ है—संयम और असंयम दोनों का मिश्रित रूप। सीधी भाषा में कहा जाए तो श्रावकपन। श्रावक संयम की आंशिक आराधना करता है, शेष उसके जीवन में असंयम होता है। यह पांचवें गुणस्थान की स्थिति है। बाल तपस्या यानी अज्ञानावस्था में या देखा-देखी, बिना विवेक मात्र अनुकरण के रूप में की जानेवाली तपस्या। अकाम निर्जरा अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य के बिना की जानेवाली निर्जरा अथवा तरह-तरह की विपत्तियों, कष्टों, रोगों आदि के योग से सहज रूप से होनेवाली निर्जरा।

यों तो ग्रंथों में देवायुष्य-बंधन के उपर्युक्त चार कारण बताए गए हैं, पर जैन-दर्शन के अनुसार देवलोक या स्वर्ग जाने का कोई सीधा मार्ग नहीं है। मार्ग तो एक ही है—संयम-तप के द्वारा आत्म-शुद्धि या जीवन-शुद्धि का। उसके आनुषंगिक फल के रूप में पुण्य का बंधन होता है और उसके परिणामस्वरूप देवलोक यानी स्वर्ग की प्राप्ति होती है। आत्म-शुद्धि के साथ पुण्य की यह आनुषंगिकता ठीक वैसी है, जैसे मेघ के साथ बिजली। यहां समझने की बात यह है कि देवलोक या स्वर्ग का लक्ष्य स्थिर करना उचित नहीं है। लक्ष्य तो आत्म-उज्ज्वलता ही रहना चाहिए, मोक्ष ही होना चाहिए। संयम-तप का चरम लक्ष्य मोक्ष होता है, किंतु पूर्ण आत्म-विशुद्धि के अभाव में जब वहां तक पहुंचना संभव नहीं होता, तब पुण्य के योग से देवत्व की प्राप्ति होती है।

प्रासंगिक रूप में पुण्य के संदर्भ में थोड़ा-सा बता देना आवश्यक समझता हूँ। बहुत-से लोग पुण्य को अच्छा समझते हैं, उपादेय मानते हैं, पर तात्त्विक दृष्टि से तो वह पाप की तरह हेय ही है। यह ठीक है कि पुण्य से भौतिक सुख-सुविधाएं, अनुकूलताएं प्राप्त होती हैं, स्वर्ग और स्वर्गीय सुखों की उपलब्धि होती है, पर है तो वह बंधन ही। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति में वह उतना ही बाधक है, जितना कि पाप। मोक्ष-प्राप्ति के लिए पाप और पुण्य दोनों से समान रूप से छूटना जरूरी है।

दूसरी बात—पुण्य का स्वतंत्र बंधन नहीं होता। वह धार्मिक क्रिया से होनवाली आत्म-उज्ज्वलता के साथ ही होता है। देवत्व की प्राप्ति, जैसाकि मैंने अभी कहा, उसी पुण्य के योग से होती है।

प्रभु निवास

हेस्टिंग्स, कलकत्ता

११ जून १९५९

८३ : नैतिक दुर्भिक्ष कैसे मिटे

एक समस्या : एक समाधान

मैं देख रहा हूँ कि भारतवर्ष में नैतिकता का दुर्भिक्ष-सा छा रहा है। नैतिक मूल्य समाप्त हो रहे हैं। यह एक गंभीर स्थिति है। राष्ट्र-हितैषी लोग इस स्थिति से काफी चिंतित हैं। जब-तब वे अपनी चिंता व्यक्त भी करते रहते हैं, पर मैं मानता हूँ कि चिंता इस समस्या का समाधान नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि किसी समस्या का समाधान नहीं है। हम चिंता नहीं, चिंतन करें। मेरी समझ में इस स्थिति से त्राण पाने का एक ही उपाय है कि व्यक्ति-व्यक्ति के मन में यह भावना जाग्रत की जाए कि मेरे निमित्त किसी अन्य का अहित न हो, मेरे कारण किसी व्यक्ति का सुख बाधित न हो, मेरे द्वारा किसी का शोषण न हो। यदि इस भावना का व्यापक जागरण हो जाए तो नैतिक मूल्य पुनः प्रतिष्ठित हो जाएंगे। नैतिकता का सुंदर वातावरण स्वतः निर्मित हो जाएगा

जरूरी है दृष्टिकोण में बदलाव

कोई पूछ सकता है कि नैतिक दुर्भिक्ष की यह स्थिति क्यों बनी। मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि आदमी के चिंतन की धारा गलत बन गई है। धर्म की पालना के क्षेत्र में, जहां उसको व्यक्तिवादी होना चाहिए, वहां वह समाजवादी बन गया है। सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, ईमानदारी आदि धर्म के तत्त्व अपनाने के संदर्भ में समाज को प्रधानता देता है। वह इस आशय की बात कहता है कि सारा समाज सुधर जाए, समाज में इन तत्त्वों का व्यवहार शुरू हो जाए, फिर मैं सुधरूंगा, फिर मैं ये सब तत्त्व स्वीकार करूंगा। इसके विपरीत अर्थार्जन के क्षेत्र में, जहां कि उसे समाजवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, वह एकांत व्यक्तिवादी बन गया है। हर व्यक्ति अधिक-से-अधिक धन संगृहीत करना चाहता है। उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करना चाहता है।

नैतिक दुर्भिक्ष कैसे मिटे

● १९९ ●

इस स्थिति में बदलाव की नितांत अपेक्षा है। ऐसा होने से ही नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि बनेगी, नैतिकता को पनपने के लिए उर्वरा मिलेगी। फिर व्यक्ति दूसरों का सुख लूटने की बात नहीं सोच सकेगा, दूसरों का अहित-चिंतन नहीं कर सकेगा। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मसंयम-चेतना झंकृत एवं जाग्रत कर यह कार्य करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके व्यापक प्रचार-प्रसार के गर्भ में नैतिकता का दुर्भिक्ष मिटने की संभावना के दर्शन किए जा सकते हैं।

सुराना निवास

सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता

२० जून १९५९

८४ : लेश्या : एक विवेचन

लेश्या जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। लेश्या का अर्थ है— जीव के शुभाशुभ आत्म-परिणाम। *उत्तराध्ययन* सूत्र के चौतीसवें अध्ययन में छह लेश्याओं का विस्तृत विवेचन प्राप्त है। इनमें से प्रथम तीन लेश्याओं को अशुभ (अधर्म) तथा अंतिम तीन लेश्याओं को शुभ (धर्म) कहा गया है।

सांसारिक आत्मा द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है। वे पुद्गल व्यक्ति के परिणामों/भावधारा को प्रभावित करते हैं। अशुभ पुद्गल भावधारा को अशुभ और शुभ पुद्गल भावधारा को शुभ बनाते हैं। आत्मा की भावधारा को भाव लेश्या और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहा जाता है। शुभ और अशुभ भावधारा की तरतमता के आधार पर ही लेश्या को छह भागों में विभक्त किया गया है—१. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजोलेश्या ५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या

कृष्ण लेश्या सर्वाधिक अशुभ है। नील लेश्या उसकी अपेक्षा कम अशुभ है। यानी उसके बनिस्बत वह शुभ है। इसी प्रकार आगे की लेश्याएं क्रमशः अधिक शुभ हैं। इस क्रम में शुक्ल लेश्या सर्वाधिक शुभ है।

छहों लेश्याओं के परिणामों की तरतमता हम इस प्रकार समझ सकते हैं—एक व्यक्ति के आत्म-परिणाम इतने क्रूर हैं कि कुछ-एक फलों के लिए वह पूरा वृक्ष ही काट गिराता है। दूसरा उसी आवश्यकता-पूर्ति के लिए मात्र वृक्ष की शाखाएं ही काटता है। तीसरा केवल टहनियां काटता है। चौथा केवल फलों के गुच्छे तोड़ता है। पांचवा मात्र फल तोड़ता है। इस क्रम में छठा केवल वे फल लेता है, जो हवा के झोंकों से टूटकर स्वतः नीचे गिर गए हैं। इन छहों में पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्ण लेश्या के हैं और छठे व्यक्ति के शुक्ल लेश्या के।

यहां यह ध्यान में ले लेने की बात है कि छह लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्या के आधार पर रखे गए हैं। नाम की तरह ही इनके अलग-अलग वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का भी विवरण प्राप्त है।

कृष्ण लेश्या का वर्ण जीमूत यानी जल से परिपूरित घने कृष्ण बादल, महिष, द्रोण काक के पंख, खंजन, अंजन एवं नयनतारा की कालिमा के समान है।

नील लेश्या का वर्ण नील अशोक वृक्ष, चाष पक्षी के पंख तथा स्निग्ध वैडूर्य मणि की नीलिमा के समान बताया गया है।

कापोत लेश्या का वर्ण अलसी (तीसी) के फूल, कोयल के पंख तथा कबूतर की ग्रीवा के रंग के सदृश होता है।

तेजोलेश्या का वर्ण हिंगलु, धातु-गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच और दीपशिखा की लालिमा के समान होता है।

पद्म लेश्या का वर्ण हलदी या हरिताल को तोड़ने पर प्रकट रंग और सनधान्य फूल के सदृश पीला होता है।

शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंक नामक रत्न, कुंद के फूल, दुग्धधारा, चांदी तथा मुक्ताहार के सदृश शुभ्र-धवल होता है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति का वर्ण कृष्ण होता है, उसके आत्म-परिणाम या भाव भी क्रूर हों तथा जिसका वर्ण गौर हो, उसकी भावधारा अच्छी हो। तत्त्वतः भावधारा का संबंध शरीर के वर्ण से नहीं, अपितु लेश्या से है।

यह एक सुनिश्चित व्याप्ति है कि जिसमें वर्ण है, उसमें रस होगा ही। बहुधा तो वर्ण के आधार पर रस की और रस के आधार पर वर्ण की अवगति हो जाती है। आत्मा और आकाश दोनों अरूपी द्रव्य हैं। उनमें वर्ण नहीं है तो रस भी नहीं है। जिस प्रकार छहों लेश्याओं के अलग-अलग वर्ण हैं, उसी प्रकार छहों के रस भी अलग-अलग हैं। कृष्ण लेश्या का रस कड़वे तुंबे, नीम तथा कटुक रोहिणी की छाल के रस से भी अनंतगुना कड़वा होता है। नील लेश्या का रस कृष्ण लेश्या-जैसा कड़वा नहीं होता। उसे त्रिकटु यानी सोंठ (शूठी), पीपल (पिप्पली), काली मिर्च तथा गजपीपल के रस से अनंतगुना तिक्त बताया गया है। कापोत लेश्या का रस कच्चे आम और कच्चे कपित्थ से अनंतगुना

कषैला होता है। तेजोलेश्या का रस पके हुए आम और पके हुए कपित्था फल के रस से अनंतगुना खट-मीठा होता है। पद्म लेश्या का रस अच्छी सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक के रस से अनंतगुना मधुर होता है। शुक्ल लेश्या का रस खजूर, अंगूर, दूध, खांड और शक्कर के रस से अनंतगुना मधुर होता है।

प्रथम तीन लेश्याओं की गंध अत्यंत अशुभ, अप्रिय एवं अमनोज्ञ होती है। वह गाय, श्वान और सर्प के कलेवर की दुर्गंध से अनंतगुनी अधिक दुर्गंधमय होती है। शेष तीन प्रशस्त लेश्याओं की गंध सुगंधित पुष्पों तथा पीसे जा रहे सुवासित पदार्थों की सुगंध से भी अनंतगुनी अधिक सुगंधित होती है। वह अत्यंत शुभ, प्रिय एवं मनोज्ञ होती है।

प्रथम तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करवत की धार, गाय की जिह्वा एवं शाक वृक्ष के पत्तों के कर्कश स्पर्श से भी अनंतगुना अधिक कर्कश होता है। अंतिम तीन प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श आक की रूई, मक्खन व शिरीष पुष्पों के मृदु स्पर्श से भी अनंतगुना मृदु होता है।

कलकत्ता

२२ से २६ जून १९५९

८५ : जैन-एकता का पथ

संगठन का मूल

तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु एक महान आध्यात्मिक विभूति तो थे ही, एक कुशल संगठनकार भी थे। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने तात्कालिक विभिन्न संगठनों का गहरा अध्ययन किया और उसके आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि किसी संगठन का मूल मर्यादा है। मर्यादाविहीन संगठन प्राणशून्य शरीर के समान होता है। जिस प्रकार प्राणशून्य शरीर मात्र अस्थि-पंजर होता है, उसी प्रकार मर्यादारहित संगठन मात्र ढांचा होता है। वह उपयोगी नहीं बन सकता, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता, बल्कि लंबे समय तक अपना अस्तित्व भी नहीं बचा सकता।

महापुरुष का लक्षण

आज बीसवीं शताब्दी में प्रबुद्ध लोग संगठन के जिस परिष्कृत रूप का चिंतन कर रहे हैं, आवश्यकता महसूस कर रहे हैं, उसका व्यवस्थित प्रारूप उन्होंने दो शताब्दी पूर्व ही प्रस्तुत कर दिया था। महापुरुष का यह एक प्रमुख लक्षण है कि सामान्य लोग जो बात आज देखते हैं, उसे वे अपने ज्ञान-चक्षुओं से बहुत पहले देख लेते हैं। साधु-समाज को लक्ष्य कर उन्होंने कहा—‘शिष्यों का मोह छोड़ो। अलग-अलग शिष्य बनाने से संगठन की नींव कमजोर हो जाएगी। अतः एक आचार्य के अनुशासन में संयम की साधना करो, उनकी आज्ञा का सम्यक रूपेण पूरा-पूरा पालन करो। शिथिलाचार एवं सुविधावाद से दूर रहो। नाम, ख्याति एवं पद की लिप्सा छोड़ो।’

अपने तेरापंथ संघ के साधु-साध्वियों के लिए तो उन्होंने इन भावनाओं से संबद्ध अनेक मर्यादाएं भी बना दीं और सबकी सहमतिपूर्वक उन्हें संघ में अनिवार्य रूप से लागू कर दिया, पर तत्कालीन दूसरे-दूसरे

साधु-समुदायों ने उनके उपर्युक्त आह्वान की उपेक्षा की। उसे स्वीकार नहीं किया। करते भी कैसे? सुख-सुविधाएं छोड़ने का साहस वे जुटा नहीं पाए; और बिना इस साहस के यह संभव नहीं था। इस कारण जैनों के अन्य-अन्य संघों में वह एकसूत्रता नहीं आ सकी, जो तेरापंथ संघ में आई। मैं देख रहा हूँ, आज श्रमण संघ को एकसूत्र में बांधने का प्रयास हो रहा है। प्रयास अच्छा है, स्तुत्य है। यह दूसरी बात है कि इसमें सफलता कहां तक मिलती है।

प्रसंग अमर मुनि का

आगरा में कवि अमर मुनि से मिलना हुआ। उनकी बात से मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि जैन-समाज की युगीन समस्याओं के संदर्भ में वे काफी चिंतन-मनन करते हैं। वार्तालाप के दौरान एक प्रसंग में मैंने उनसे कहा—‘आचार्य भद्रबाहु, स्कंदिल और देवद्विगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में *आगमों* की पूर्व में तीन बार वाचना हो चुकी है। आवश्यकता है कि अब उनकी चौथी वाचना हो।’ अमर मुनि ने सहमति के स्वर में कहा—‘होनी ही चाहिए।’ मैंने पूछा—‘कैसे हो?’ अमर मुनि बोले—‘यदि आप चाहें तो।’ मैंने कहा—‘यदि प्रत्येक संप्रदाय अपना प्रतिनिधि चुने तो मैं तो बिलकुल तैयार हूँ।’ अत्यंत प्रमोद भाव के साथ अमर मुनि ने कहा—‘आपके पूर्वज तो दूरदर्शी थे, इसलिए आपके समक्ष इस संबंध में कोई समस्या नहीं है।’ बिना रुके ही वे आगे बोले—‘पर एक नेतृत्व की परंपरा और मर्यादा के अभाव में हमारे लिए यह कार्य दुरूह बन रहा है। हमारे सामने प्रश्न है कि प्रतिनिधि कौन चुने और किसे चुने। इस दृष्टि से यह कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक होते हुए भी असंभव-सा लगता है।’

उनकी यह बात सुन मुझे लगा कि जैन-संप्रदायों की वर्तमान स्थिति के कारण वे अत्यंत चिंतित एवं व्यथित हैं। उन्होंने बड़ी बेबाकी से एक कटु यथार्थ प्रकट किया है। मैंने कहा—‘जो बात असंभव-सी लगती है, उसे एक बार छोड़ें, किंतु जो संभव है, उसे तो क्रियान्वित करें। मैंने जैन-संप्रदायों की एकता की दृष्टि से एक पंचसूत्रीय योजना प्रस्तुत की है। सबके सहयोगात्मक रुख से उसे कार्यरूप दिया जा सकता है। पांच सूत्र ये हैं—

१. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
३. दूसरे संप्रदायों और उनके साधु-साध्वियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
४. कोई संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में कोई अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
५. धर्म के मौलिक तत्त्व—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

इस पंचसूत्रीय योजना को कार्यरूप देने के गर्भ में मैं जैन-शासन के बहुत बड़े हित के दर्शन करता हूँ।’

समय की मांग

जैन-एकता आज समय की मांग है। हमें युग की यह मांग गंभीरता से समझनी चाहिए, बल्कि पूरी करनी चाहिए। मेरा विश्वास है, यदि सभी संप्रदाय के लोग निष्ठापूर्वक इन सूत्रों को स्व मर्यादा के रूप में अपना लें तो जैन-एकता आसानी से फलित हो जाए।

हम अपनी मान्यताओं/विचारों/सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार करें, खुलकर प्रचार-प्रसार करें, इसमें कोई कठिनाई नहीं है, कोई संकीर्णता नहीं है, पर उसकी मर्यादा यह है कि हम दूसरों की मान्यताओं/विचारों/सिद्धांतों के खंडन से सलक्ष्य बचें। उन पर किसी प्रकार का लिखित-मौखिक आक्षेप-प्रक्षेप न करें। यह मर्यादा पारस्परिक सौहार्द एवं एकता के लिए बहुत आवश्यक है।

यह तो बहुत स्पष्ट है कि विचार-भेद है। हाथ की पांचों अंगुलियां भी समान नहीं होतीं, तब भला सबके विचार एक सरीखे कैसे हो सकते हैं ? इसकी तो कल्पना करना ही व्यर्थ है। इस स्थिति में हमारा काम यह है कि हम अनेकांत-दृष्टि से विरोधी विचारों में भी सत्य खोजें। कोई विचार सही लगे तो उसे ग्राहकबुद्धि से निःसंकोच भाव से स्वीकार कर लें और यदि न लगे तो उसे विचार-भेद की सीमा तक ही सीमित रखें। उसे मन-भेद का रूप न दें। उसके कारण लड़ें-झगड़ें नहीं। विचार-भेद के कारण परस्पर लड़ना-झगड़ना धार्मिकता की दृष्टि से तो सर्वथा अशोभनीय है ही, मानवता की दृष्टि

से भी अनुचित है। आप देखें— संसार में अरबों व्यक्ति मांसाहारी हैं! अब क्या उनसे लड़ा जाए? क्या झगड़ा किया जाए? हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उन्हें मांसाहार का अनौचित्य समझाएं, उनके विचार परिष्कृत करने का प्रयास करें। यदि हमारे प्रयास से उनके विचार परिवर्तित हो जाते हैं और वे मांसाहार छोड़ देते हैं, तो बहुत अच्छा है, पर सभी लोगों के विचार बदल जाएं और वे मांसाहार का परित्याग कर दें, यह संभव प्रतीत नहीं होता। हमारे सघन प्रयास के बावजूद कुछ लोग ही मांसाहार से मुक्त हो सकेंगे। शेष लोगों के प्रति हमारी मध्यस्थ वृत्ति रहनी चाहिए। उनसे विवाद करना हमारा काम नहीं है। सार-संक्षेप यह है कि विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता की वृत्ति जागना बहुत जरूरी है। संभव हो सके तो विचार-भेद मिटाएं, पर ऐसा संभव न होने की स्थिति में कम-से-कम असहिष्णु तो न बनें। जैन-एकता की यात्रा में यह एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव हो सकता है।

सभी संप्रदायों में परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी अपने व्यवहार की मर्यादा समझें। एक संप्रदाय के लोग दूसरे संप्रदाय के लोगों के प्रति घृणा का व्यवहार न करें, क्योंकि इससे कटुता पैदा होती है। फिर उस संप्रदाय के साधु-साध्वियों के साथ दुर्व्यवहार हो, उनके लिए अपशब्दों का प्रयोग किया जाए, यह तो और भी अनुचित है। इस संदर्भ में मैं तो यहां तक कहता हूं कि किसी संप्रदाय के साधु-साध्वी के प्रति अंतर में भी घृणा और तिरस्कार की भावना नहीं होनी चाहिए। दुर्व्यवहार और अपशब्दों के प्रयोग की बात तो उसके बाद की है। हां, यह दूसरी बात है कि श्रद्धा और भक्ति तो वहीं प्रकट होगी, जहां शुद्धाचार है। जहां इसका अभाव खटकता है, वहां आंतरिक श्रद्धा-भक्ति की बात संभव नहीं है, तथापि शिष्टाचार और सद्व्यवहार की बात कभी नहीं भूलनी चाहिए। यदि सभी लोग इस मर्यादा का पालन करें तो जैन-एकता की दृष्टि से यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात होगी।

दबावपूर्वक संप्रदाय-परिवर्तन करवाने की प्रवृत्ति बहुत ही अनुचित है। इससे पारस्परिक संबंध बिगड़ते हैं, कहीं-कहीं संघर्ष की स्थिति भी पैदा हो सकती है। हां, यदि कोई स्वेच्छा से समझपूर्वक ऐसा करता है, तो यह एक अलग बात है। उसे नहीं रोका जा सकता, पर इसमें भी इस मर्यादा का तो ध्यान रखना ही होगा कि उसके साथ सामाजिक

बहिष्कार-जैसा कोई अवांछनीय/अनुचित व्यवहार न किया जाए। इस मर्यादा का पालन जैन-एकता के पथ में आनेवाली एक बड़ी समस्या का समाधान है।

मुझे यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं कि सभी संप्रदायों के मौलिक सिद्धांतों में परस्पर भेद कम और अभेद ज्यादा है। इस स्थिति में हम एक तरफ आपसी समझ के स्तर पर भेद कम करने और मिटाने का प्रयत्न करें तो दूसरी तरफ अहिंसा, सत्य आदि सर्वमान्य सिद्धांतों का सामूहिक/संगठित प्रचार-प्रसार करें। इससे सबको साथ मिल-जुलकर कार्य करने का एक सुंदर मंच मिलेगा, सभी को एक-दूसरे को निकटता से समझने-समझाने का सहज अवसर प्राप्त होगा और पारस्परिक निकटता भी बढ़ेगी।

मैं देख रहा हूं, पूर्वपक्षया इन वर्षों में पारस्परिक समन्वय की भावना बढ़ी है, बढ़ रही है। यह भविष्य के लिए एक शुभ संकेत है। मैं चाहता हूं, उपर्युक्त सूत्र या मर्यादाएं स्वीकार कर समन्वय की भावना का और अधिक विकास किया जाए। यह जैन-शासन की बहुत महत्वपूर्ण सेवा है।

८६ : भारतीय संस्कृति का लक्ष्य : चरित्र-विकास*

भारत सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहां अर्थ और काम को जीवन-ध्येय कभी नहीं माना गया। यहां मोक्ष-प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य रहा है और धर्म उसका साधन। यद्यपि यहां के लोग विद्या, अर्थ, नाट्य, संगीत आदि के क्षेत्र में भी अन्य देशों की अपेक्षा ऊंचे रहे हैं, पर वे सर्वोच्च सम्मान व सर्वोच्च पूज्य-भाव त्याग, संयम व चरित्रबल को ही देते रहे हैं। यही कारण है कि एक अकिंचन परिव्राजक के सामने पृथ्वीपति सम्राट, जनमान्य धनकुबेर, दिग्गज विद्वान, विश्वविश्रुत कलाकार नतमस्तक होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं, क्योंकि उस अकिंचन परिव्राजक के जीवन में निश्छल तपःसाधना, शत्रु-मित्र के प्रति समता का भाव और निःश्रेयस-प्राप्ति की सात्त्विक स्पृहा होती है। यहां के चिंतनपरक मनीषी इन दृश्य नेत्रों से भी आगे अपने अंतश्चक्षुओं से देखा करते थे। बाह्य कानों से भी अधिक अपनी अंतश्चेतना से सुना करते थे। सृष्टि का अलभ्य रहस्य उन्होंने समझा था। उन्होंने कभी नहीं कहा—**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत्**। अतः यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति का लक्ष्य चरित्र-विकास है। अपना चरित्र खोकर कुछ भी पा लेना, यहां घाटे का सौदा माना गया है।

कला का लक्ष्य

नृत्य और संगीत भारतीय विद्या के प्रमुख अंग रहे हैं। बहुधा भारतीय मानस इन कलाओं का उपयोग भगवत्भक्ति के रूप में करता रहा है। संभव है, इसी लिए इन कलाओं की शिक्षा को विद्या का अंग माना गया था। उस युग में विद्या की परिभाषा थी—**सा विद्या या विमुक्तये**— विद्या वह है,

*सिने-सम्मेलन में प्रदत्त प्रवचन।

जो मनुष्य को मुक्ति अर्थात् श्रेयस की ओर प्रेरित करती हो। आज भी यदि कला का लक्ष्य केवल मनोरंजन या विलासवाद ही हो तो भारतीय संस्कृति उसे कला के रूप में स्वीकार नहीं करती।

हालांकि प्राचीन संस्कृत साहित्य में, विशेषकर काव्यों, महाकाव्यों व नाटकों में भी शांत, अद्भुत आदि रसों के साथ-साथ शृंगार रस को भी स्थान दिया गया है, तथापि उन काव्यों आदि का ध्येय केवल शृंगार-तृप्ति नहीं रह जाता। अधिकतर काव्य पाठक को श्रेय की ओर प्रेरित करनेवाले ही मिलते हैं। शृंगार रस भी वहां एक सीमित व सम्मत परिभाषा में प्रकट होता है। अशिष्ट वर्णनों को न काव्य माना गया है और न शृंगार रस ही। सिनेमा-जगत और साहित्य में अब तक यह बहुत बड़ा स्तर-भेद है।

चरित्र-बल का देश

प्राचीन काव्य-कला का आधुनिक रूप सिनेमा है। इसका विकास बहुत ही स्वल्पकालीन अवधि में हुआ है और द्रुतगति से और भी होता जा रहा है, यह स्पष्ट है। भारतवर्ष इस क्षेत्र में अगुआ देशों में है, यह सुना जाता है। भारतवर्ष निकट अतीत में ही स्वतंत्र हुआ है। एक लंबी पराधीनता के बाद छत्तीस कौमों के लोगों को अपने भविष्य का अपने हाथों निर्माण करने का अवसर मिला है। व्यक्ति, समाज और देश से संबद्ध जीवन के प्रत्येक पहलू में एक नया मोड़ आ रहा है। ऐसे वातावरण में भारतवासियों को विशेष जागरूकता के साथ काम लेना होगा। यह न हो कि वे संस्कृति के नाम पर प्राचीन रूढ़ियों व अंधविश्वासों से चिपक जाएं और प्रगति के नाम पर किसी सभ्यता व संस्कृति का अंधानुकरण करने लग जाएं। सिनेमा के क्षेत्र में भी कुछ पश्चिम का अंधानुकरण चल पड़ा है—ऐसा लगता है। हो सकता है, जहां *खाओ, पिओ और आनंद करो* के सिद्धांत की प्रमुखता हो, वहां सिनेमा-जगत में निम्नस्तरीय विलास-प्रदर्शन वांछित हो, परंतु भारतवर्ष की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यहां तो चरित्र-बल अर्जित करना चिंतन का मेरुदंड रहा है। यह सही भी है। इतिहास बताता है, जो देश और समाज विलास की दिशा में आगे बढ़ा, वह अपने पैरों के बल पर खड़ा नहीं रह सका। बहुत-सी जातियां विलासप्रधान मनोवृत्ति के कारण धूलि-धूसरित हो गईं। जहां चरित्र-बल नहीं है, वहां क्लीवता है। वह व्यक्ति या समाज थोड़ी भी प्रतिकूल स्थिति सह नहीं सकता, प्रतिपक्षी के सामने

घुटने टेक देता है। जहां चरित्र-बल है, वहां अन्य साधनों के अभाव में भी पौरुष मूर्तिमान रहता है। वहां आत्म-बल कभी तिरोहित नहीं होता। मैं एक कटु सत्य प्रकट कर रहा हूं कि आजकल के अधिकतर चलचित्र बच्चों, युवकों और बूढ़ों को अश्लील नृत्य व अश्लील संगीत के द्वारा जिस प्रकार कामुकता की ओर ढकेल रहे हैं, उसी प्रकार यदि बहुत दिनों तक यह क्रम चालू रहा तो देश की नैतिक अधोगति सुनिश्चित है। सिनेमा का प्रभाव आज कुछ ही लोगों तक सीमित नहीं रहा है। सबसे अधिक जनसंख्या को प्रभावित करनेवाली कोई चीज आज है तो वह है—सिनेमा। आज मंदिरों, गुरुद्वारों, मस्जिदों, गिरिजाघरों से भी अधिक भीड़ सिनेमाघरों पर देखी जाती है। इस व्यापक प्रभाव का ऐसा छिछला उपयोग ही होता रहे, यह अवश्यमेव एक गंभीर विचारणीय बिंदु है।

व्यक्ति-सुधार से वर्ग-सुधार

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि देश में सिनेमा के क्षेत्र में अश्लीलता रोकने के पक्ष में बृहत् जन-मत तैयार हो रहा है। सरकार भी इस दिशा में प्रयत्नशील है। सिनेमा-जगत में काम करनेवाले अनेक प्रमुख लोग भी इस दिशा में बहुत-कुछ सोच रहे हैं। आज का यह सम्मेलन इसी बात की ओर संकेत करता है। अणुव्रत-आंदोलन प्रत्येक व्यक्ति व प्रत्येक समुदाय में एक नैतिक हलचल देखना चाहता है। इसी लिए इसका नाम आंदोलन है। अणुव्रत-आंदोलन की यह मान्यता है कि सुधार कानून के द्वारा थोपा नहीं जा सकता। वह हृदय-परिवर्तन से ही आ सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति और प्रत्येक वर्ग जब स्वयं सुधार जाने के लिए एकमत होकर कटिबद्ध हो जाता है, तभी सुधार का क्रम बनता है।

सिनेमा के क्षेत्र में भी निर्माता, निदेशक, अभिनेता, अभिनेत्रियां आदि सभी लोग सुधार लाना चाहें तो कोई कारण नहीं कि वहां सुधार न आए।

सुधार का आरंभ कहां से

इस विषय में जो सबसे बड़ा तर्क दिया जाता है, वह यह कि सुधार की शुरुआत जनता से ही होनी चाहिए। जन-रुचि बदलने के बाद ही फिल्म-निर्माता परिवर्तन/सुधार की बात सोच सकते हैं। इस संदर्भ में मेरा चिंतन यह है कि सुधार का प्रारंभ दोनों ओर से होना चाहिए। जन-रुचि भी बदले और फिल्म-निर्माताओं की व्यवसाय-मनोवृत्ति भी बदले।

मनुष्य प्रगति तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसके दोनों चरण आगे न बढ़ते रहें। जो फिल्म-निर्माता यह कहते हैं कि यह सुधार जन-सापेक्ष ही है, वे यह भूल जाते हैं कि सिनेमा स्वयं रुचि-परिष्कार का भी एक साधन है। आज सिनमाओं के माध्यम से भावी समाज-रचना के लुभावने चित्र लोगों को दिखाए जाते हैं और उसके द्वारा अपने-अपने वाद की ओर उन्हें आकृष्ट किया जाता है। स्वास्थ्य आदि नाना विषयों का सिनेमा के माध्यम से प्रशिक्षण दिया जाता है। समाजगत नाना कुप्रथाओं व रूढ़ियों से जन-रुचि मोड़े, ऐसा का प्रयत्न किया जाता है। फिर क्या कारण हो सकता है कि प्रेम, विलास, आसक्ति और अश्लीलता के विषय में सिनेमा जन-रुचि का ही पोषण करता है? ऐसा लगता है कि फिल्म-निर्माताओं को देश से भी अधिक चिंता अपने व्यवसाय की है। इस स्थिति में देश चाहे रसातल में ही क्यों न चला जाए, पर उनका व्यवसाय फलता-फूलता रहे, यह दृष्टिकोण रहता है। लोकतांत्रिक देशों में तभी सुधार संभव होता है, जब समाजगत अपेक्षाओं के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ गौण मान लिए जाते हैं। अणुव्रत-आंदोलन संग्रह व शोषण की वृत्तियां मिटाकर आवश्यकताओं के अल्पीकरण पर बल देता है। वह व्यक्ति में संकीर्ण वृत्तियों का संकोच कर **मिती मे सव्वभूएसु** व **वसुधैव कुटुंबकम्** का आदर्श लाना चाहता है।

सभ्य व शिक्षित लोगों का बहुमत अश्लील प्रदर्शनों के पक्ष में हो, ऐसा नहीं लगता। अशिक्षित व असभ्य लोगों के अज्ञान को जनरुचि कहकर व्यवसायी समाज उससे अनुचित लाभ उठता है। यह जन-रुचि के बारे में एक प्रकार का शोषण है। अशिक्षित व असभ्य लोग तो बच्चे के समान होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि हर कार्य में उनकी रुचि को ही प्रधानता दी जाए। वहां उनकी रुचि के बजाय उनके हिताहित का प्रश्न प्रमुख है। अभिभावकों का कर्तव्य होता है कि बच्चा यदि अपनी सहज रुचि के कारण किसी अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त होता है तो वे उसे रोकें और उचित प्रवृत्ति करने का मार्ग-दर्शन करें। समाज में जो लोग शिक्षित, सभ्य व अगुआ हैं, उनका कर्तव्य है कि जो जन-रुचि उचित और हितकर नहीं है, उसे बदलें, न कि अपने लाभ के लिए उसका पोषण ही करते रहें। यह भी अनुभव में आ रहा है कि सिनेमा के चालू स्तर से लोग ऊबने लगे हैं और वे उच्चस्तरीय प्रदर्शन पसंद

करने लगे हैं। फिल्म-निर्माता भी यह बात कुछ-कुछ समझ चुके हैं, अतः निम्नस्तरीय प्रदर्शन कम करने लगे हैं। अणुव्रत-आंदोलन मनुष्य का दृष्टिकोण व मानदंड बदलना चाहता है। उसका प्रयत्न है कि मनुष्य असंयम से मुड़कर संयम की ओर बढ़े। उसका घोष है—संयमः खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है।

कलकत्ता

१८ जून १९५९

८७ : अणुव्रत-आंदोलन : एक नैतिक अभियान

जरूरी है नैतिक-निर्माण

आज चारों ओर निर्माण की चर्चा है, निर्माण का वातावरण है। लोग विभिन्न दृष्टियों से निर्माण करने में व्यस्त हैं, पर मैं अनुभव कर रहा हूँ कि नैतिक निर्माण की ओर किसी का विशेष ध्यान नहीं है। उसे उपेक्षित-सा बना रखा है, पर मैं नहीं समझता कि नैतिक निर्माण के अभाव में अन्यान्य सभी प्रकार के निर्माण मिलकर भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सुखी बना सकेंगे, शांति प्रदान करनेवाले सिद्ध हो सकेंगे। यदि सुख और शांति की किसी स्तर पर अभीप्सा है तो हर हालत में नैतिक निर्माण पर ध्यान केंद्रित करना होगा। इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं है। प्रश्न किया जा सकता है कि नैतिक निर्माण कौन करेगा। कौन का प्रश्न ही बेमानी है। व्यक्ति-व्यक्ति को स्वयं से ही यह शुभ पहल करनी होगी।

एक जीवन-निर्माणकारी अभियान

अणुव्रत-आंदोलन नैतिक निर्माण का अभियान है। चूंकि नैतिक निर्माण का फलित जीवन-निर्माण है, इसलिए इसे जीवन-निर्माणकारी अभियान कहना अधिक सार्थक है। इस जीवन-निर्माणकारी अभियान को सफल बनाने के लिए यों तो जन-जन के सहयोग की अपेक्षा है, तथापि मैं शीर्षस्थानीय लोगों को सहयोग के लिए विशेष रूप से आह्वान करूंगा, क्योंकि वे जैसा अचरण करते हैं, उसका प्रभाव जन-सामान्य पर पड़ता है। मैं चाहता हूँ, वे अपने जीवन और जीवन-व्यवहार में न्याय, नीति, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता आदि तत्त्वों को अधिक-से-अधिक स्थान दें। इससे समाज और राष्ट्र में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था

का भाव पैदा होगा। मैं मानता हूँ, जब तक समाज और राष्ट्र में नैतिक जागरण नहीं होगा, तब तक भले पचीस पंचवर्षीय योजनाएं क्यों न बन जाएं, काम बनेगा नहीं।

समाज में व्यापारियों का एक वर्ग है। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि वे अपने आचरण और व्यवहार पर ध्यान दें। अपनी तुच्छ स्वार्थ-सिद्धि के लिए मिलावट-जैसी अनैतिक प्रवृत्तियों द्वारा वे लाखों-करोड़ों लोगों का अहित न करें, उनके स्वास्थ्य एवं जीवन के साथ खिलवाड़ न करें। उनके व्यावसायिक आचरण में नैतिकता, प्रामाणिकता, ईमानदारी और सचाई होनी चाहिए। इसी प्रकार राज्यकर्मचारियों का भी एक बड़ा वर्ग है। उन्हें भी अपने आचरण और व्यवहार की तटस्थ समीक्षा करनी चाहिए कि कहीं जनता और सरकार को धोखा तो नहीं दे रहे हैं; अपने कर्तव्य के प्रति कहां तक जागरूक हैं; अपने अधिकारों का दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं; रिश्वत तो नहीं लेते हैं; अन्याय तो नहीं करते हैं.....यदि वे इन बुराइयों में फंसे हैं तो उन्हें अपना व्यवहार और आचरण बदलने की दृष्टि से गंभीरता से सोचना चाहिए।

अणुव्रत-आंदोलन जीवन-शुद्धि का आंदोलन है। वह सभी स्तरों पर समाज में सुधार चाहता है। इसलिए व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों की तरह ही किसान, मजदूर, विद्यार्थी आदि समाज के सभी वर्गों के लोगों को आह्वान करता हूँ कि वे अपना जीवन बुराइयों से मुक्त बनाएं, नैतिक मूल्यों के सांचे में ढालें। इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जाति, संप्रदाय आदि का कोई भेद नहीं है। सभी लोग समान रूप से इसे अपना सकते हैं। मुझे यह कहते हुए अत्यंत प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है कि सभी तरह के लोगों में इसके प्रति गहरी निष्ठा देखी जा रही है।

स्वस्थ समाज

अणुव्रत-आंदोलन का मूल तत्त्व संयम है। वह व्यक्ति के चिंतन, व्यवहार और वृत्ति को संयमप्रधान बनाकर जीवन-निर्माण का कार्य करना चाहता है। वस्तुतः संयम बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उसके अभाव में जीवन जीवन नहीं होता; समाज स्वस्थ नहीं बनता। आजकल समाजवादी समाज संरचना की चर्चा व्यापक स्तर पर चल रही है। इस संदर्भ में मेरा चिंतन यह है कि उसका आधार संयम रहना चाहिए। संयम पर आधारित

समाजवादी समाज ही जन-जन के लिए कल्याणकारी हो सकेगा। अणुव्रत-आंदोलन जिस स्वस्थ समाज की परिकल्पना लेकर चल रहा है, उसका आधारभूत तत्त्व संयम ही है। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि संयम-आधारित समाज ही स्वस्थ समाज हो सकता है, भले उसका नाम कुछ भी क्यों न रखा जाए।

प्रभु निवास, हेस्टिंग्स

कलकत्ता २८ जून १९५९

८८ : तेजोलेश्या के लक्षण

प्राणी की भावधारा को लेश्या कहा जाता है। लेश्या शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। तेजः, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुभ लेश्याएं हैं। उनके प्रभाव से प्राणी की भावधारा शुभ/प्रशस्त बनती है। इसके ठीक विपरीत कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन अशुभ लेश्याओं के प्रभाव से भावधारा अशुभ/अप्रशस्त होती है।

तीन शुभ लेश्याओं में पहली लेश्या है—तेजः। इस लेश्यावाले प्राणी का पहला लक्षण है कि उसकी वृत्ति नीची होती है, पर नीची वृत्ति का तात्पर्य जघन्य वृत्ति नहीं है। यहां इसका आशय नम्रता से है। यानी तेजोलेश्यावाला व्यक्ति अभिमानी नहीं होगा, विनम्र होगा। चलते समय अपनी दृष्टि नीची रखेगा। अभिमान का यहां प्रासंगिक अर्थ गर्व है, आत्माभिमान नहीं। आत्माभिमान तो अच्छा तत्त्व है। वह तो हर व्यक्ति में होना ही चाहिए। जिसमें यह आत्माभिमान नहीं, वह कैसा मानव! आत्माभिमान के अभाव में व्यक्ति हीनता की ग्रंथि से ग्रथित हो जाता है। परिणामतः वह अपने-आपको हीन-दीन-क्षीण समझने लगता है। मेरी दृष्टि में स्वयं को महान या अतिरिक्त मानना जितना बुरा है, उससे भी ज्यादा बुरा है, स्वयं को हीन-दीन-क्षीण मानना। दुराचारी द्वारा स्वयं को सदाचारी बताया जाना जितना अनुचित है, उससे ज्यादा अनुचित है सदाचारी होते हुए भी अपने-आपको दुराचारी मानना और बताना। निष्कर्ष की भाषा में अपनी संपन्नता का आत्माभिमान बुरा नहीं, बल्कि अच्छा ही है। यह आत्माभिमान व्यक्ति के लिए इस बात का द्योतक है कि वह इतने गुणों का अधिकारी है।

तेजोलेश्यावाले व्यक्ति का दूसरा लक्षण है कि वह अचल और स्थिर विवेकवाला होगा। यह एक प्रकट सचाई है कि चंचलता और अस्थिरता दोनों विकास या उत्थान में प्रमुख बाधक तत्त्व हैं। वही व्यक्ति विकास कर पाता है, जो अचपल हो, यानी जिसका मन, वचन और

काया तीनों अधिक चंचल न हों तथा जिसका विवेक स्थिर हो। क्षण-क्षण में अस्थिर और बदलनेवाला प्रगति नहीं कर सकता।

तेजोलेश्यावाले प्राणी का एक अन्य लक्षण है कि वह अमायावी होगा। माया यानी वंचना को उसके जीवन में कोई स्थान नहीं होगा। इस स्थिति में वह किसी का बुरा तो खैर कर ही नहीं सकता, किसी को बुरी/गलत सलाह भी नहीं दे सकता। गलत सलाह देनेवाला एक बार भले अपने मन में प्रसन्न हो जाए, पर अंततोगत्वा उसका बुरा परिणाम उसे अवश्य भोगना पड़ता है।

तेजोलेश्यावाले व्यक्ति के विचार ऊंचे होंगे। वह दिन-भर हंसी-मजाक, ठट्टा आदि करके अपना समय बर्बाद नहीं करेगा। मेरी दृष्टि में ज्यादा हंसी-मजाक आदि करना तुच्छता का लक्षण है। महान व्यक्ति इनसे बचता है। जीवन में विनय का गुण होना भी तेजोलेश्या का एक लक्षण है। विनय का गुण प्रकट हो जाने के बाद उच्छृंखलता को टिकने के लिए स्थान ही कहां है? तत्त्वतः विनय एक आत्मगुण है। आप ध्यान दें, हर महान व्यक्ति में इस गुण के दर्शन होते हैं।

दमितेंद्रिय, योगी और उपधानवान होना भी तेजोलेश्या की परिणतियां हैं। दमितेंद्रिय का अर्थ तो आप समझते ही हैं। जिसने अपनी इंद्रियां नियंत्रित कर ली हों, वह दमितेंद्रिय है। योगी का तात्पर्य साधु या संन्यासी होने से नहीं है। योगी का तात्पर्य है योगवान होना। योगवान वह होता है, जिसका मन, वचन और काया तीनों ध्यान, स्वाध्याय, चिंतन-मनन आदि धार्मिक क्रियाओं में लगे रहें। उपधानवान का आशय तपस्वी होने से है। वह तपस्वी, जो *आगम* का स्वाध्याय करने के लक्ष्य से तपस्या करता है, उपधानवान कहलाता है। ऐसी मान्यता है, बल्कि अनुभूत सचाई भी है कि तपस्या का संबल साथ रहने से स्वाध्याय में विघ्न-बाधा नहीं आती।

तेजोलेश्या के कुछ लक्षण मैंने प्रकट किए। कुछ लक्षण और अवशिष्ट हैं। उनके बारे में संभवतः आप कल सुनेंगे।

प्रभु निवास

हैस्टिंग्स, कलकत्ता

४ जुलाई १९५९

८९ : धर्मनिष्ठ की पहचान

दृढ़धर्मी-प्रियधर्मी

तेजोलेश्या के कुछ लक्षणों की चर्चा मैंने कल के प्रवचन में की थी। उसी क्रम में प्रियधर्मिता और दृढ़धर्मिता—ये दो लक्षण तेजोलेश्या के और हैं। तेजोलेश्यावाला व्यक्ति असंदिग्ध रूप में प्रियधर्मी होगा, दृढ़धर्मी होगा। प्रियधर्मी का तात्पर्य है—जिसे धर्म प्रिय है। दृढ़धर्मी का आशय है—जो धर्म में दृढ़ है, मजबूत है। ये दोनों विशेषण ऊर्ध्वगामी जीवों के लिए हैं, पर इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। कोई भी जीव ऊर्ध्वगामी दूसरों के बनाए नहीं बनता। वह बनता है अपने उच्च आचार और भावना से। ऐसे व्यक्ति, जिनकी धर्म के प्रति आंतरिक अभिरुचि है, लगाव है, निष्ठा है, धार्मिक क्रियाओं के प्रति उत्साह है, जो धर्मसंघ की उन्नति एवं अभिवृद्धि के लिए सतत जागरूक रहते हैं, वे प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी हैं। धर्म को समस्त संसार में प्रसारित करने की दृष्टि से उनका चिंतन चलता ही रहता है, ताकि उनके कल्याण के साथ-साथ संसार के अनन्य प्राणी भी कल्याण-पथ के पथिक बन सकें। इस कोटि के लोग आत्मोत्थान या आत्म-उज्ज्वलता के साथ-साथ प्रचुर पुण्य का संचय भी कर लेते हैं। यहां तक कि उत्कृष्ट परिणाम में वे तीर्थकरनाम- गोत्रकर्म तक का बंधन भी कर सकते हैं। तीर्थकरनामगोत्र पुण्य की उत्कृष्ट प्रकृति मानी गई है। जब भी कोई तीर्थकर बनता है, तब वह तीर्थकरनामगोत्र नामक इस पुण्य-प्रकृति के उदय के परिणामस्वरूप ही बनता है। मात्र केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से कोई तीर्थकर नहीं बनता।

पुण्य भी बंधन है

पुण्य की बात जब आ गई है तो प्रसंगवश एक बात स्पष्ट कर दूं। पुण्य भी पाप की तरह बंधन है। यद्यपि पुण्य से सुख-सुविधा, भोग-विलास और यहां तक कि मनुष्यभव एवं देवभव भी मिलता है, पर मोक्ष-

प्राप्ति में वह उतना ही बाधक है, जितना कि पाप। पाप और पुण्य दोनों का सर्वथा क्षय होने के बाद ही मोक्ष-सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है। पुण्य के संदर्भ में एक बात और जान लेने की है। किसी क्रिया या प्रवृत्ति से पुण्य का स्वतंत्र बंध नहीं होता। उसका बंधन धार्मिक क्रिया/प्रवृत्ति से होनेवाली आत्म-उज्ज्वलता के साथ आनुषंगिक फल के रूप में होता है। अर्थात् धर्माचरण का मुख्य फल तो आत्म-विकास या आत्म-उज्ज्वलता है और गौण फल पुण्य का बंधन।

धर्म के बारे में लोगों के मन में अनेक गलत अवधारणाएं हैं। उसे सम्यक रूप में समझनेवाले लोग थोड़े हैं। इस कारण उसके नाम पर बहुत-से गलत तत्त्वों को प्रोत्साहन और मान्यता प्राप्त है। मूलतः धर्म आत्मा का मौलिक गुण है। जो व्यक्ति उसमें जितना गहरा पैठता है, उसके जीवन में उतनी ही धार्मिकता प्रकट होती है। विस्तार में जाएं तो धर्म सहिष्णुता, क्षमा, मैत्री, शांति, शील, संयम, संतोष आदि आत्मगुणों के विकास का नाम है। प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी की इस धर्म के प्रति अभिरुचि और निष्ठा होती है।

अश्लील साहित्य से बचें

धर्म-तत्त्व को आत्मसात करने की दृष्टि से सत्साहित्य का स्वाध्याय अत्यंत उपयोगी है, पर आज के जन-मानस में सत्साहित्य पढ़ने की रुचि बहुत कम देखने को मिलती है। उसकी जगह लोग असत व अश्लील साहित्य पढ़ने में समय बर्बाद करते हैं। यह भी एक कठिनाई है कि आम लोगों में इतना हंस-विवेक नहीं होता कि वे दूध-दूध पी लें और पानी-पानी छोड़ दें। मैं सुधारवादी युवकों से कहना चाहता हूं कि वे कोई ऐसा प्रबंध करें, जिससे उनके यहां ऐसा साहित्य न आ पाए, जो जीवन को पतित करे, विकारग्रस्त बनाए। मैं बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि सुधार के क्रम में पहला सुधार या बुराइयों के प्रतिकार की दिशा में पहला प्रतिकार अश्लील और असत्साहित्य पर रोक लगाने का हो।

प्रभु निवास

हैसटिंग्स, कलकत्ता

५ जुलाई १९५९

१० : पद्म लेश्या का अधिकारी कौन

शुभ लेश्याओं की श्रेणी में पद्म लेश्या का दूसरा स्थान है। पद्म श्रेष्ठता और गौरव का प्रतीक है। शायद इसी कारण भारत सरकार ने सम्मानस्वरूप दिए जानेवाले पदकों के नाम *पद्मश्री*, *पद्मभूषण* व *पद्मविभूषण* रखे हैं, पर ध्यान रखें, *पद्मश्री*, *पद्मभूषण* एवं *पद्मविभूषण* के सम्मान या पदक पाना फिर भी उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन पद्म लेश्या का पदक पाना है।

कौन होता है पद्म लेश्या का अधिकारी? पद्म लेश्या का अधिकारी होता है—मंदकषायी। यानी जो क्रोध के आवेश में अंधा नहीं है, मान के मदोन्मत्त हाथी पर आरूढ़ नहीं है, माया की टेढ़ी-मेढ़ी सीढ़ी पर नहीं चढ़ता है, लोभ की लपटों में झुलसता नहीं है, वह पद्म लेश्या का अधिकारी है। जो प्रशांतचित्त है, अर्थात् जिसका चित्त प्रशांत है, विषम/प्रतिकूल परिस्थितियों में जो शांत और संतुलित रहता है, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, सम्मान-अपमान की हर स्थिति समता से सहन करता है, वह पद्मलेश्या का अधिकारी है।

मैं देख रहा हूँ, आज समाज में अर्थ के प्रति आकर्षण का भाव बढ़ रहा है। इसका कारण लोभ है। लोभ के वशीभूत हुआ व्यक्ति अर्थार्जन के साधन की शुद्धि पर भी ध्यान नहीं दे पाता। उसकी दृष्टि संकीर्ण हो जाती है। वह सदा अपने से अधिक समृद्धिवान और संपन्न व्यक्तियों को ही देखता है और येन केन प्रकारेण उनकी श्रेणी में आने के लिए, उनसे आगे निकलने के लिए प्रयत्नशील रहता है, पर जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, संतोषी होता है, उसकी दृष्टि अपने से पीछे खड़े लोगों को देखती है, दरिद्र और साधन-विहीन लोगों पर केंद्रित होती है। वह इस भाषा में सोचता है कि मुझसे से विपन्न, भूखे और साधनहीन लोग बड़ी संख्या में समाज में हैं, फिर मैं अधिक संग्रह क्यों करूँ। यह संतोष की वृत्ति उसके अर्थार्जन के साधनों को गलत बनने से बचाती

है। ऐसी वृत्तिवाला व्यक्ति पद्म लेश्या का अधिकारी होता है। पद्म लेश्यावाले व्यक्ति के अन्य लक्षण हैं—वह आत्मा का दमन करनेवाला, अल्पभाषी और जितेंद्रिय होता है।

कलकत्ता

६ जुलाई १९५९

९१ : शुक्ल लेश्या की परिणति

छह लेश्याओं का विवेचन चल रहा है। तीन शुभ लेश्याओं में अंतिम लेश्या है—शुक्ल लेश्या। जैसा उसका नाम है, वैसा ही उसका अर्थ और गुण है। शुक्ल अर्थात् धवल और उज्ज्वल। यही शुक्ल लेश्या की प्रकृति है। इस लेश्यावाला व्यक्ति चरित्र से उज्ज्वल एवं हृदय से स्वच्छ होगा। उसके अंतःकरण में छल, कपट, दंभ आदि दुष्प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा *उत्तराध्ययन* सूत्र में शुक्ल लेश्या की ऐसी अनेक परिणतियां या लक्षण बताए गए हैं, जिनके आधार पर यह निर्णय या पहचान की जा सकती है कि अमुक व्यक्ति पद्म लेश्यावाला है। उनकी पहली परिणति है—

अद्वरुद्वाणि वज्जिता, धम्मसुक्काणि ज्ञायए।

— जो आर्त और रौद्र ध्यान का वर्जन करता है तथा धर्म्य और शुक्ल ध्यान में तल्लीन रहता है, वह शुक्ललेश्यावान है।

ध्यान का तात्पर्य एकाग्र चिंतन से है, पर एकाग्र चिंतन एकांततः अच्छा ही नहीं होता, वह बुरा भी हो सकता है, होता है। इस दृष्टि से ध्यान के चार प्रकार किए गए हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इष्ट व्यक्ति/वस्तु का वियोग तथा अनिष्ट व्यक्ति/वस्तु का संयोग होने पर जो चिंतन की एकाग्रता होती है, उसे आर्त ध्यान कहते हैं। वेदना से उत्पन्न होनेवाली आतुरता और विषय-सुख प्राप्त करने के लिए किया जानेवाला मानसिक संकल्प भी आर्तध्यान है। किसी को मारना, झूठ बोलना, चोरी करना, डाका डालना, दूसरे को फंसाना आदि से अनुबद्ध चिंतन तथा भौतिक विषयों की सुरक्षा के लिए होनेवाला चिंतन रौद्रध्यान है। लोक-स्वरूप, आत्मकल्याण, भगवद्वाणी आदि पर चिंतन एकाग्र होना धर्म्य ध्यान है। शुक्ल ध्यान सबसे अतीत है। इसकी तुलना *पातंजलयोगदर्शन* में वर्णित समाधि से होती है। दोनों में काफी साम्य है। यदि शुक्ल ध्यानवाले की दृष्टि किसी वस्तु पर स्थिर रह जाती है तो

शुक्ल लेश्या की परिणति

वह सोचता है कि यह क्या है, ज्ञाता कौन है और ज्ञेय कौन है। यह चिंतन करते-करते वह ऐसा तल्लीन हो जाता है कि सिद्धावस्था तक पहुंच जाता है।

ध्यान के इन चार प्रकारों में से शुक्ल लेश्यावाला व्यक्ति धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान में लीन रहता है। आर्त और रौद्र ध्यान में कभी नहीं जाता।

शुक्ल लेश्या की एक परिणति के बारे में मैंने संक्षेप में बताया। इसकी अन्य भी कई परिणतियां हैं। उनके बारे में भी जानना आवश्यक है।

सूरज जूट प्रेस

काशीपुर, कलकत्ता

७ जुलाई १९५९

९२ : सुख-दुःख समभाव से सहें

सुख और दुःख—ये दोनों स्थितियां सामान्यतः संसार के हर प्राणी के जीवन के साथ जुड़ी रहती हैं। अध्यात्म का संदेश यह है कि दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति को अपना संतुलन बनाए रखना चाहिए, समत्व में अवस्थित रहना चाहिए, विचलित नहीं होना चाहिए। वह बराबर यह सोचता रहे कि सुख और दुःख दोनों ही स्थायी नहीं हैं। यदि सुख आया है तो वह भी जानेवाला है और दुःख आया है तो वह भी जानेवाला है।

जिस प्रकार वर्षा पूर्व की भयंकर गरमी (ऊमस) को वर्षा आने की पूर्व सूचना या संकेत मान अच्छा समझा जाता है, उसी प्रकार सुख से पूर्व आनेवाले भयंकर दुःख को सुख के आगमन की एक शुभ सूचना मान हंसते-हंसते झेल लेना चाहिए। दुःख जाता है तो उसे सुख दे जाता है और सुख जाता है तो उसे दुःख दे जाता है। आप जरा सोचें कि उस स्थिति से क्या लाभ, जो जाते समय दुःख देकर जाए। बहुत करके यह देखा जाता है कि सुख में जीनेवाले व्यक्ति प्रमादी, आलसी और विलासी होते हैं। उनकी पुरुषार्थ-चेतना सुप्त-सी बन जाती है। इसके विपरीत दुःख भोगनेवाले लोगों के जीवन में प्रायः पुरुषार्थ की ज्योति जलती रहती है। रूपक की भाषा में सुख संध्या का लाल क्षितिज है कि जिसके पीछे घोर अंधकार है तथा दुःख उषाकाल की लालिमा है कि जिसके पीछे उज्ज्वल प्रकाश-ही-प्रकाश है। सुख के क्षणों में व्यक्ति प्रायः सबको भूल जाता है, जबकि दुःख के क्षणों में वह स्वयं को ही नहीं, बल्कि परिवार, पास-पड़ोस, धर्म, परमात्मा सभी को याद रखता है। गहराई से देखा जाए तो दुःख एक कसौटी है। दुःख के क्षणों में ही मनुष्य की परख होती है कि वह स्वर्ण है या पीतल; अच्छा है या बुरा। दुःख में हिमालय की तरह अडिग रहनेवाले व्यक्ति ही संसार में महापुरुष कहलाते हैं और उनके नाम ही इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर गौरव के साथ लिखे जाते हैं। उनके संसार से विदा हो जाने के पश्चात सुख-दुःख समभाव से सहें

भी लोग बड़े आदर के साथ उनका स्मरण करते हैं। इससे ठीक विपरीत स्थिति होती है—दुःख में विचलित होनेवालों की। वे पतझड़ के पत्तों की तरह होते हैं। उन्हें कोई जानता तक नहीं कि वे कौन हैं। इसलिए दुःख में विचलित नहीं होना चाहिए।

उत्तरपाड़ा, कलकत्ता

८ जुलाई १९५९

९६ : शांति का मार्ग

धर्म के प्रति अनास्था क्यों

आज भौतिक विज्ञान की प्रगति एवं विकास अपने उत्कर्ष पर है। इस कारण लोगों को सुख-सुविधाओं के विभिन्न साधन उपलब्ध हैं, परंतु धर्म और अध्यात्म के अभाव में यह भौतिक विकास मानव के लिए भय और त्रास का कारण सिद्ध हो रहा है। इस एकांगी प्रगति और विकास के कारण मनुष्य की मनुष्यता कुंठित हो गई है। परिणामतः वह धर्म के प्रति अनास्थाशील बन रहा है।

धर्म के प्रति मानव के अनास्थाशील बनने का एक अन्य कारण यह भी है कि वह अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं है। उसके साथ बहुत-से विजातीय तत्त्व मिल गए हैं। इसके परिणामस्वरूप आम आदमी के दिमाग में धर्म के प्रति अनेक प्रकार की भ्रांतियां पैदा हो गई हैं। वह उसे जीवन के लिए अनावश्यक और अनुपयोगी तक मानने लगा है, पर यह एक यथार्थ है कि वास्तविक शांति की प्राप्ति उसकी शरण में ही प्राप्त हो सकती है। इसके सिवाय वह कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

धर्म का आवास कहां है

पर मैं जिस धर्म की चर्चा कर रहा हूं, उसका वास्तविक वास मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा आदि धर्मस्थानों में नहीं है, विभिन्न धर्मशास्त्रों में भी उसका वास नहीं है। फिर उसका वास कहां है? उसका वास है—व्यक्ति-व्यक्ति की अंतरात्मा में, उसके जीवन में। जो धर्म व्यक्ति की आत्मा में नहीं रहता, जीवन और जीवन-व्यवहार में नहीं उतरता, वह धर्म वास्तव में धर्म है ही नहीं।

धर्म जीने की कला है

मेरी दृष्टि में धर्म एकमात्र वह तत्त्व है, जो व्यक्ति को जीवन की सही राह पकड़ता है। इसलिए मैं उसे जीवन जीने की कला कहता हूं। धर्म शांति का मार्ग

सबके साथ मैत्री की बात सिखाता है, सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ता है, प्रमोद भाव के साथ जीने की अभिप्रेरणा देता है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, आक्षेप-प्रक्षेप आदि तत्त्वों का धर्म से कोई संबंध नहीं है। जो धर्म इन तत्त्वों को बढ़ावा देता है, वह सही माने में धर्म नहीं है। वह तो धर्म का विकृत रूप है। दूसरे शब्दों में वह अधर्म है। आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म का मौलिक या वास्तविक स्वरूप समझकर उसे जीवन में उतारा जाए, जीवन-व्यवहार और आचरण का हिस्सा बनाया जाए। यदि ऐसा होगा तो मेरा विश्वास है कि इस वैज्ञानिक युग में भी धर्म की ध्वजा ऊंची रहेगी।

वैज्ञानिक नया मोड़ लें

आज के वैज्ञानिकों ने छोटी-छोटी वस्तु की जो सूक्ष्म खोजबीन की है, उसे देख लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं। ऐसी अनेक कल्पनाएं आज साकार हो गई हैं, जो पहले हवाई महल समझी जाती थीं, पर आत्मा के संदर्भ में वे कोई खोज नहीं कर पाए हैं, जो कि धर्म का केंद्र बिंदु है। मैं समझता हूं, यह तभी संभव है, जब उसका अस्तित्व स्वीकार कर उसे समझने का प्रयत्न हो। हमारे ऋषि-महर्षियों ने आत्मा, परमात्मा, चेतना आदि की खोज की, पर उन्होंने यह खोज आज के वैज्ञानिकों की तरह यंत्रों से सुसज्जित प्रयोगशाला में नहीं, बल्कि साधना की गहराई में उतरकर की थी। इस खोज की यात्रा में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मैत्री, शील, महाव्रत, अणुव्रत आदि तत्त्व प्राप्त हुए, जो कि मानव-समाज के लिए अत्यंत उपयोगी और लाभकारी सिद्ध हो रहे हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिकों ने जो भौतिक आविष्कार किए हैं, उनके कारण सर्वत्र भय, उद्वेग और उत्तेजना का वातावरण बना हुआ है। अपेक्षा है, वैज्ञानिक लोग भौतिकता से धर्म आध्यात्मिकता की ओर मुड़ें और इस दिशा में खोज प्रारंभ करें, पर जैसा कि मैंने अभी कहा, यह तभी संभव है, जब वे आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर उसे समझने का लक्ष्य बनाएं।

कलकत्ता

११ जुलाई १९५९

९४ : संस्कृत और भारतीय संस्कृति

संस्कृत और संस्कृति—ये दोनों शब्द *डुक्रंन्*-करणे धातु से बने हैं। जिस प्रकार एक ही धातु के दो रूप होने के कारण दोनों शब्दों में साम्य है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति में अन्योन्याश्रय संबंध है तथा ये दोनों एक-दूसरे से काफी प्रभावित हैं। दूसरे शब्दों में ये एक-दूसरे के अभाव में अपूर्ण हैं।

संस्कृति भाव एवं भाषा का संगम है। भाव जहां वैयक्तिक होता है, वहां भाषा सामाजिक भी होती है। भारतीय संस्कृति संस्कृत भाषा में भरी पड़ी है। भारतीय संस्कृति जिस प्रकार पुरातन है, संस्कृत भाषा की भी एक लंबी परंपरा है। वैदिक साहित्य तो उसमें भरा पड़ा है, उत्तरवर्ती बौद्ध-साहित्य एवं जैन-साहित्य—ये दोनों भी उससे अटे पड़े हैं। यद्यपि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने समय में लोक-भाषा भी अपनाई है, तथापि संस्कृत भाषा का अपना एक विशेष महत्त्व है। यद्यपि युगीन कुछ-एक परिस्थितियों के कारण आज संस्कृत और संस्कृति दोनों ही मंद हैं, तथापि मेरा ऐसा मानना है कि भारतीय संस्कृति को जीवित रखने के लिए संस्कृत भाषा को जीवित रखना आवश्यक है।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा का व्याकरण इतना उन्नत और कसा हुआ है कि उसमें कोई विकार नहीं है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी एक अत्यंत उन्नत संस्कृति है और वह विकारों से परे है। बहुत-से लोग संस्कृति शब्द को समझने में भूल करते हैं। वे उसे अंग्रेजी के *कल्चर* (Culture) शब्द के स्थान पर व्यवहृत करते हैं, पर संस्कृति शब्द का यह सही अर्थ नहीं है। यह बहुत ही गहरा शब्द है। संस्कृति तो मांजने को कहते हैं। इसके द्वारा जीवन एवं जीवन की पद्धति का संस्करण एवं परिमार्जन होता है।

भारतीय संस्कृति की बड़ी विशेषता यह है कि उसमें किसी के संस्कृत और भारतीय संस्कृति

अधिकार के अपहरण, राज्यसीमा-विस्तार, विध्वंसक शस्त्रास्त्रों के निर्माण आदि की शिक्षा एवं प्रेरणा नहीं दी जाती, बल्कि हेय-त्याग की बलवती शिक्षा दी जाती है। प्रासंगिक रूप से बता दूं कि उसमें आश्रव एवं आसक्ति को हेय माना गया है। संवर एवं अनासक्ति को उपादेय बताया गया है।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार समन्वय है। वैदिक, जैन, बौद्ध एवं अन्य भारतीय धर्मों की यह विशेषता रही है कि उनमें अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने की बात पर विशेष बल दिया गया है, पर दुर्भाग्य से आज इस सहिष्णुता की बहुत कमी आ गई है। यदि इसकी कमी नहीं आती तो परस्पर आदान-प्रदान से संबंधों की निकटता बनी रहती। इसके अभाव में अनेक बहुमूल्य साहित्यिक कृतियां आज समाप्त हो गई हैं। अपेक्षा है, सभी बिंदुओं पर गंभीरता से चिंतन कर एक नया मोड़ लिया जाए, ताकि यह छीजत भविष्य में रोकी जा सके। आशा करता हूं, सभी धर्मों के अधिकारी लोग इस दिशा में विधेयात्मक चिंतन करेंगे।

बंगीय संस्कृत साहित्य परिषद, कलकत्ता

१९ जुलाई १९५९

१५ : भौतिकता से अध्यात्म की ओर मुड़ें

आज संसार में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकार की समस्याएं हैं, पर मेरी दृष्टि में मूलभूत समस्या मनुष्य के निर्माण की है। अनेक प्रयत्नों के बावजूद मानव ऊंचा नहीं उठ रहा है। पूछा जा सकता है कि इसका कारण क्या है। कारण तो निश्चय ही है, क्योंकि कारण के बिना कभी कोई कार्य नहीं हो सकता। फिर इस बात के तो अनेक कारण बताए जा सकते हैं। उनमें मूलभूत कारण है—मानव का भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा अध्यात्म के प्रति अनास्था का भाव। मेरा निश्चित अभिमत है कि जब तक मानव भौतिक-सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए विलासमय जीवन जिएगा, भौतिक साधनों की ओर अधिक झुकेगा, तब तक इस स्थिति में बदलाव की कोई संभावना नहीं है। स्पष्ट शब्दों में कहूं तो सुधार असंभव है। आज परदा पर्था, दहेज, मिलावट, झूठा तौल-माप-जैसी बहुत-सी बुराइयां समाज में व्याप्त हो रही हैं। वे उस दिन स्वतः समाप्त हो जाएंगी, जिस दिन मानव का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाएगा। वह भौतिकवाद से अध्यात्माभिमुख बन जाएगा, अपनी तृष्णा एवं लालसा को सीमित व नियंत्रित कर लेगा, अति अर्थार्जन से विमुख होकर संयम की दिशा में गतिशील बन जाएगा। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि व्यक्ति अपने जीवन की तटस्थ समीक्षा करे।

मेरा ऐसा अभिमत है कि जब तक मनुष्य का चिंतन अति संग्रह पर आधारित रहेगा, तब तक उसकी मनुष्यता निखर नहीं सकेगी, जीवन को सही दिशा प्राप्त नहीं हो सकेगी। आप निश्चित मानें, जो व्यक्ति दूसरों के अधिकार छीनकर, कुचलकर तथा शोषणपूर्ण तरीकों से अर्थ-संग्रह कर धनकुबेर बनने की लालसा करता है, उसका पतन स्वाभाविक है, अवश्यंभावी है। इसलिए इस अति संग्रह की मानसिकता में परिवर्तन आना अत्यंत आवश्यक है।

कलकत्ता, २३ अगस्त १९५९

भौतिकता से अध्यात्म की ओर मुड़ें

• २३१ •

९६ : मानव अपनी पहचान करे

दीपक तले अंधेरा !

आज मानव विज्ञान के युग में जी रहा है। ऐसा माना जा रहा है कि आज मानव ने बहुत प्रगति की है। उस प्रगति के बल पर वह आकाश को मापने का प्रयत्न कर रहा है, पाताल के रहस्य जानने की चेष्टा कर रहा है, लेकिन कैसी बात है कि इतना होते हुए भी वह दीपक तले अंधेरा वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है! जिस मानव ने अपने उर्वर मस्तिष्क की खोजों के बल पर संसार में चारों ओर प्रकाश-किरणें फैलाईं, वह स्वयं अंधेरे में रहा! जिसने विश्व-व्यवस्था के गूढ़-से-गूढ़ तत्त्व जाने-पहचाने, वह स्वयं से सर्वथा अनजान और अपरिचित रह गया! क्या यह उसके लिए हास्यास्पद बात नहीं है? मेरा ऐसा मानना है कि यही वह मूलभूत कारण है, जिसने मानव की चरम प्रगति को दुर्गति की दिशा प्रदान की है। यह बात सुनने में कर्णप्रिय नहीं भी हो सकती, पर यथार्थ से किंचित भी परे नहीं है। इसलिए यह सर्वाधिक जरूरी है कि मानव सबसे पहले अपनी पहचान करे। आप निश्चित मानें, जब तक मानव स्वयं की पहचान/परख के प्रति गंभीर नहीं बनेगा, उसकी कोई भी प्रगति पूर्ण और स्थायी नहीं हो सकती।

धन साधन है, साध्य नहीं

आज के मानव को जब मैं देखता हूँ तो मुझे बहुत स्पष्ट अनुभव होता है कि वह अशांत है, बहुत अशांत है। इसका कारण? कारण बहुत स्पष्ट है। वह गलत रास्ते जा रहा है। उसने अर्थ को जीवन का साध्य मान लिया है, जबकि वह मात्र साधन है। अर्थ को उसके द्वारा यह अनपेक्षित अतिरिक्त महत्त्व दिया जाना ही उसकी अशांति का मूलभूत कारण है। अर्थवाद के चंगुल में फंसकर उसका चिंतन विकृत हो चला है। और इस विकृत चिंतन के फलस्वरूप आज वह अपनी मानवता से

पराङ्मुख बनता जा रहा है। अतः आज की बड़ी अपेक्षा यह है कि मानव की यह गलत मनोवृत्ति या चिंतन बदला जाए। जन-जन में पुनः इस भावना का तीव्र प्रसार किया जाए कि अर्थ मात्र आजीविका चलाने का साधन है, जीवन-साध्य नहीं। प्रश्न होगा कि फिर साध्य क्या है। साध्य है—संयम। साध्य है—सदाचार। साध्य है—सात्त्विकता। अणुव्रत यही उद्देश्य लेकर चलनेवाला एक व्यापक अभियान है। यह जाति, वर्ण, वर्ग आदि के भेद-भाव के बिना मानव-मानव को अर्थवाद के चंगुल से बाहर निकालकर उसे संयम, सदाचार एवं सात्त्विकता की ओर अग्रसर करना चाहता है। आप भी अणुव्रत को समझें और अपनाएं। आपके चिंतन, व्यवहार, आचरण और संपूर्ण जीवन में एक गुणात्मक परिवर्तन आएगा।

सैन्ट्रल बैंक, कलकत्ता

२९ अगस्त १९५९

९७ : अंतर्मुखी बनने का दिन*

आज का दिन मेरे लिए अंतर्मुखी बनने का दिन है। तेईस वर्ष पूर्व प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव कालूगणी ने मुझे आचार्यपद का दायित्व सौंपा था। उस दायित्व का निर्वहन करता हुआ आज मैं चौबीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। इन तेईस वर्षों में संसार ने अनेक नए मोड़ लिए। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में नई जाग्रति आई। आध्यात्मिक क्षेत्र भी परिवर्तन से अछूता नहीं रहा। धार्मिक जगत में भी चेतना जागी। मैंने भी मौलिकता की सुरक्षा करते हुए युग के साथ परिवर्तन किया है।

यद्यपि मैं तेरापंथ धर्मसंघ का आचार्य हूँ, तथापि मेरा कार्यक्षेत्र तेरापंथ-समाज और जैन-समाज तक ही सीमित नहीं है। पूरे मानव-समाज का हित केंद्र में रखकर मुझे कार्य करना है, क्योंकि धर्म बिलकुल असांप्रदायिक तत्त्व है। वह किसी संप्रदायविशेष के लिए नहीं होता। भगवान महावीर ने हमें व्यापकता की राह दिखाई है। वे जो धर्मोपदेश करते थे, वह मात्र जैनों के लिए नहीं, अपितु संपूर्ण मानव-समाज के लिए, बल्कि कहना चाहिए कि प्राणिमात्र के उत्थान और कल्याण के लिए होता था। हम तो उन्हीं के पदचिह्नों पर चलनेवाले हैं। फिर हम क्यों संकीर्ण दायरे में रहें? अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से हमने जो चारित्रिक जाग्रति का काम शुरू किया है, वह बहुत ही व्यापक कार्य है। बिना किसी संकीर्णता के वह मानव-मानव को सच्चरित्र बनाने का प्रयास करता है। हालांकि यह कार्य आसान नहीं है, बहुत कठिन है, तथापि हमें इसकी कोई चिंता नहीं है। हमें अपनी पूरी शक्ति के साथ इसे आगे बढ़ाना है। मैं अपने श्रावकों से विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि वे तो अवश्यमेव इस नैतिक अभियान के साथ जुड़ें, अपना जीवन नैतिक आदर्शों के इस सांचे में ढालें। आपको यह नहीं देखना है कि दूसरे-दूसरे

*चौबीसवें आचार्य-पदारोहण दिवस के प्रसंग पर प्रदत्त प्रवचन से।

लोग नैतिक बनते हैं या नहीं। आप तो स्वयं से शुभ शुरुआत करें। संसार के नैतिक बनने या न बनने से आपके सुधार की कीमत किंचित भी कम नहीं होगी। सच्चरित्र का मूल्य शाश्वत है।

कलकत्ता

११ सितंबर १९५९

९८ : एक दिव्य महापुरुष : आचार्य भिक्षु*

आचार्य भिक्षु अठारहवीं शताब्दी के एक दिव्य महापुरुष थे। महापुरुष किसी एक समाज, जाति या वर्ग के नहीं होते। वे तो सबके होते हैं, क्योंकि वे सबके हित एवं कल्याण की बात कहते हैं। इसी लिए वे सभी कि लिए स्तुत्य एवं वंदनीय होते हैं।

आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण की, पर वैचारिक विभेद एवं चारित्रिक शिथिलता के कारण उन्होंने उससे अपना संबंध तोड़ लिया और स्वतंत्र रूप में विहरण करने लगे। इस पृथक्त्व के परिणामस्वरूप उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। यहां तक कि जैन घरों से उन्हें भिक्षा भी नहीं मिल पाती। कोई कदाच उन्हें रोटी-पानी दे देता तो उसे दंड का भागी बनना पड़ता। ऐसी स्थिति में हर-कोई उन्हें भिक्षा देने की हिम्मत कर भी कैसे सकता था? पर आचार्य भिक्षु तो साहस के पुतले थे। उन्होंने कष्टों के समक्ष हार नहीं मानी। वे अपने स्वीकृत पथ पर अनवरत चलते रहे, कहीं मुड़े नहीं, कहीं रुके नहीं। उनका यह साहस और धैर्य धीरे-धीरे रंग लाया। लोगों में उनका प्रभाव बढ़ने लगा। उसके फलस्वरूप उनका तेरापंथ संघ उत्तरोत्तर विकास करने लगा। हजारों-हजारों लोग उसके साथ जुड़ गए।

जैन-वाङ्मय की अमूल्य निधि

अपने क्रांतिकारी विचारों को जन-जन में प्रचारित करने के लिए उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं कीं। उनकी समग्र रचनाओं का गाथा-परिमाण लगभग अड़तीस हजार पद्य है। उनका वह साहित्य जैन-वाङ्मय की एक अमूल्य निधि है। दो शताब्दियों के पश्चात भी वह हमारा मार्गदर्शन कर रहा है। अपेक्षा है, उनके साहित्य का गंभीरता से अनुशीलन किया जाए।

*एक सौ सत्तावन वें भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन का अंश।

एक नया उपक्रम

आचार्य भिक्षु प्रवर्तित तेरापंथ की द्विशताब्दी का पुण्य प्रसंग हमारे सामने है। उसे निमित्त बनाकर हमने कल से एक नया कार्य प्रारंभ किया है। वह कार्य यह है कि उस अवसर तक उन परिवारों की एक सूची तैयार की जाए, जो संघ द्वारा निर्मित/प्रस्तुत नया मोड़-प्रशस्त पथ स्वीकार करें। यह सामूहिक सुधार की दिशा में एक प्रयोग है। हम अब व्यष्टि-सुधार से समष्टि-सुधार की ओर अग्रसर हो रहे हैं। राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद ने भी अणुव्रत-आंदोलन के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि अब समय आ गया है, जब अणुव्रत-आंदोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में कार्य करना चाहिए। मैं मानता हूँ, हमने जो उपक्रम शुरू किया है, उससे राजेंद्र बाबू की भावना साकार हो सकेगी।

जब अणुव्रत-आंदोलन प्रारंभ हुआ, तब मैंने स्वयं अपने हाथ से उन लोगों के नाम लिखने शुरू किए, जो अणुव्रती बनना चाहते थे। अब जबकि हम समाज-सुधार की दिशा में एक नया मोड़ ले रहे हैं, इस अभियान के साथ जुड़नेवाले लोगों की व्यवस्थित तालिका बनाना आवश्यक प्रतीत होता है। जो भी परिवार इसके साथ जुड़ना चाहे, वह अपना नाम दे सकता है।

कलकत्ता

१४ सितंबर १९५९

९९ : विधायकों के लिए आचार-संहिता बने

अणुव्रत-आंदोलन पिछले एक दशक से राष्ट्र में कार्य कर रहा है। राष्ट्र के अनेक मूर्धन्य विचारकों, विद्वानों व जन-नेताओं का इसे वैचारिक समर्थन मिला है, मिल रहा है, पर मेरी दृष्टि में वैचारिक समर्थन ही पर्याप्त नहीं है। जब तक वह समर्थन आचार के धरातल तक नहीं आ जाता, तब तक आंदोलन का मूलभूत उद्देश्य पूरा नहीं होता, साध्य की सिद्धि दूर ही रहती है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वैचारिक समर्थन का कोई मूल्य ही नहीं है। उसका भी अपना एक मूल्य है, पर इतना सुनिश्चित है कि जब तक आचार उसके अनुकूल नहीं होता, तब तक उसकी बहुत सार्थकता प्रकट नहीं होती। इसलिए अपेक्षा है कि लोग वैचारिक समर्थन के साथ-साथ आंदोलन की आचार-संहिता स्वीकार करने का लक्ष्य भी सामने रखें।

कुछ लोग आचार-संहिता स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझते, पर मेरी दृष्टि में आचार-संहिता स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अत्यंत आवश्यक है। आप देखें, अध्यात्म के क्षेत्र में साधु तथा समाज के क्षेत्र में विधायक—ये दोनों प्रतीक होते हैं, लेकिन इन दिनों इन दोनों ही प्रतिनिधियों ने अपने आचरण का जैसा परिचय दिया है, उसे देख-सुन-पढ़कर आनेवाली पीढ़ियां हंसें, नहीं-नहीं रोएं तो भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कैसी बात है कि एक देश के प्रधानमंत्री की हत्या एक बौद्ध भिक्षु के हाथों हुई है! यह श्रमणों एवं अहिंसा के पुजारियों के लिए कितने शर्म की बात है! जिनके नाम के साथ गौतम बुद्ध का नाम जोड़ा जाता है, जिन्हें श्रमण कहा जाता है, उनके द्वारा ऐसा जघन्य और नृशंस कृत्य!

दूसरी तरफ देश की विधानसभाओं में समाज के प्रतीक—विधायक आपस में माइक के डंडों, जूतों आदि का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि वे जनता के पथ-दर्शन का कार्य कैसे

करेंगे। सचमुच ही एक यह एक गंभीर चिंतनीय बात है।

इन स्थितियों को देखते हुए आचार-संहिता की आवश्यकता की बात और अधिक पुष्ट हो जाती है। साधुओं के लिए तो आचार-संहिता है ही। अपेक्षा है, उसके प्रति पूर्ण गंभीर रहते हुए उसका सम्यक पालन किया जाए। अब रही बात विधायकों की। उनके लिए अभी तक ऐसी कोई आचार-संहिता नहीं है। इस संदर्भ में गंभीरता से चिंतन-मनन कर एक ऐसी आचार-संहिता बननी चाहिए, जिसमें विधायकों के लिए आचार-संबंधी कुछ अनिवार्य नियम हों। अणुव्रत आचार-शुद्धि की दृष्टि से एक बनी-बनाई व्यावहारिक एवं संतुलित आचार-संहिता है।

कलकत्ता

३० सितंबर १९५९

१०० : अहिंसा व्यवहार में आए

अहिंसा धर्म का प्राणतत्त्व है। उसके दो प्रकार हैं—सैद्धांतिक अहिंसा और व्यावहारिक अहिंसा। सिद्धांत की अहिंसा अपने स्थान पर है। उसे जानना और हृदयंगम करना आवश्यक है, पर इससे भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है व्यवहार की अहिंसा। हमारा प्रत्येक व्यवहार, फिर भले वह किसी स्तर का क्यों न हो, ऐसा होना चाहिए, जिसमें अहिंसा की पुट स्पष्ट रूप से झलके। हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिए, जिसमें लोगों को अहिंसा के दर्शन हों। इसी प्रकार हमारा साहित्य, हमारे सिद्धांत और विचार ऐसे होने चाहिए, जिन्हें पढ़-सुनकर व्यक्ति के मन में विकार पैदा न हो, जो कि हिंसा का बीज है। यही अहिंसा की व्यावहारिक और साक्षात् अनुभूति है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में ग्रहण करना चाहिए। संक्षेप में कहा जाए तो अप्रमाद अहिंसा है, और प्रमाद हिंसा है। जीवन में जितना-जितना अप्रमाद का विकास होता है, उतना-उतना व्यक्ति अहिंसा के निकट जाता है। हर व्यक्ति को चाहिए कि मानसिक, वाचिक और कायिक कोई प्रवृत्ति करते समय वह प्रमाद से बचने का लक्ष्य रखे।

मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि गृहस्थ का जीवन पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। उसके लिए एक सीमा तक हिंसा करनी ही पड़ती है, पर इस संदर्भ में एक बात समझने की है। आवश्यक या अनिवार्य होने के कारण हिंसा को अहिंसा मानना उचित नहीं है। उसे हिंसा ही माना जाना चाहिए। अफीम को अफीम समझकर खाना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा उसे गुड़ समझकर खाना है, क्योंकि उसका परिणाम बहुत ही अनिष्टकर आता है। हिंसा को अहिंसा मानने से समाज में अनेक प्रकार की गलत धारणाएं पैदा होती हैं। मुझे इस बात की आशंका है कि इन गलत धारणाओं के कारण लोग अपना बहुत बड़ा अहित कर सकते हैं। इसलिए अपेक्षा है कि हिंसा और अहिंसा के संदर्भ में व्यक्ति

का चिंतन बिलकुल स्पष्ट और स्वस्थ रहना चाहिए। वह हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा माने। जिस सीमा तक हिंसा छोड़ना शक्य हो, उस सीमा तक अहिंसा का पथ स्वीकार करे और जो हिंसा अशक्य की कोटि में हो, उसे हिंसा ही माने, अहिंसा मानने की दोहरी भूल न करे।

कलकत्ता

४ अक्टूबर १९५९

१०१ : अणुव्रत-आंदोलन अपने ध्येय में सफल है*

अणुव्रत-आंदोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में हुआ था और इसका दशम अधिवेशन दिनांक १६, १७ एवं १८ अक्टूबर को भारत के विशालतम नगर कलकत्ता में होने जा रहा है। इस अवधि यह आंदोलन प्रतिवर्ष पर्याप्त गति से आगे बढ़ता रहा है। प्रथम अधिवेशन में समग्र अणुव्रत-प्रतिज्ञाएं ग्रहण करनेवालों की संख्या जहां छह सौ इक्कीस थी, वहां इस अधिवेशन में वह संख्या पांच हजार के लगभग हो चली है। फिर वर्गीय नियम ग्रहण करनेवालों की संख्या तो सहस्रों में न रहकर लाखों में पहुंच गई है। इस अभियान के माध्यम से नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा तो कोटि-कोटि लोगों तक पहुंची है, यह तो बिलकुल स्पष्ट है ही। इस काल-अवधि में इस आंदोलन के अंतर्गत और भी अनेक नव-नव उन्मेष आते रहें हैं। मैं मानता हूं, अणुव्रत-आंदोलन एक विचार-क्रांति का अभियान है और वह अपने ध्येय की दिशा में आगे बढ़ने में पूर्ण सफल रहा है। आप देखें, आज समस्त देश में नैतिक जागरण की गूंज हो उठी है। हर क्षेत्र से लोग इस विषय पर बोलते हैं और नाना योजनाएं क्रियान्वित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय की परामर्शदात्री समिति का ध्यान भी देश के विद्यार्थियों को नैतिक प्रशिक्षण देने की ओर गया है। नैतिक मूल्यों को स्थायित्व देने की दिशा में यह एक शुभ प्रयत्न माना जा सकता है। विद्यार्थियों में नैतिक संस्कार जगाने के लिए अणुव्रत-आंदोलन के अंतर्गत एक स्वतंत्र कार्यक्रम है और वह द्रुत गति से लाखों-लाखों विद्यार्थियों में आगे बढ़ रहा है। मैं आशा करता हूं, इस अधिवेशन से उस कार्यक्रम को और अधिक व्यवस्थित रूप देकर हम देश की एक बड़ी समस्या का समाधान करने में योगभूत हो सकेंगे। इस अधिवेशन से प्रारंभ होनेवाली त्रिवर्षीय अणुव्रत-योजना में कम-से-कम तीन

*पत्रकार-सम्मेलन में प्रदत्त वक्तव्य।

लाख विद्यार्थियों को विद्यार्थी-वर्ग से संबद्ध अणुव्रत-प्रतिज्ञाएं दिलाने का तथा कम-से-कम पांच सौ विद्या-केंद्रों में नैतिक संगठन बनाने का ध्येय रखा गया है।

इस अधिवेशन में तीन दिनों के प्रेरणाप्रद कार्यक्रम रहेंगे। अंतरंग सम्मेलन में अणुव्रती अपने विगत वर्ष के संस्मरण प्रस्तुत करेंगे। निर्धारित नियमों पर आलोचन-प्रत्यालोचन चलेगा और व्रत-वृद्धि पर समागत सुझावों पर विचार होगा। खुले अधिवेशन में सहस्रों अणुव्रती आगामी वर्ष के लिए सामूहिक प्रतिज्ञाएं करेंगे। कलकत्ता-जैसे भौतिकता-प्रधान नगर में नैतिक और आध्यात्मिक जाग्रति का यह समारोह संभवतः अपने-आपमें प्रथम ही होगा।

इसी प्रसंग में विगत वर्ष का सिंहावलोकन कर लेना भी आवश्यक होगा। आलोच्य वर्ष नैतिक भावनाओं के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। देश के विभिन्न भागों में आकर्षक एवं रुचिपूर्ण कार्य चला। कुछ नई दिशाओं में भी आंदोलन आगे बढ़ा। इस संबंध में कलकत्ता में आयोजित अणुव्रत भावना पर आधारित सिने कॉफ्रेंस, पटना विश्वविद्यालय में परीक्षापत्रों में अणुव्रत-आंदोलन पर निबंध की मांग, कलकत्ता में कुछ-एक कुख्यात असामाजिक तत्त्वों का अणुव्रत से प्रेरणा पाकर सद्गृहस्थ के रूप में बदल जाना आदि उल्लेखनीय घटनाएं हैं।

इस वर्ष उत्तरप्रदेश और बिहार की यात्रा करते हुए बंगाल आए। मार्गवर्ती गांवों में सहस्रों-सहस्रों लोग जिस प्रकार तन्मय होकर अणुव्रत की बात सुनते तथा जीवनगत बुराइयों का दृढ़ता एवं आत्मविश्वासभरे शब्दों में परित्याग करते, वह दृश्य आज अविस्मरणीय बन रहा है। मुझे पद-यात्राओं से यह अनुभव मिला है कि गांवों के लोग सुधार को जिस द्रुत गति से पकड़ते हैं, उस द्रुत गति से शहर के लोग नहीं। नगर के लोगों में उपदेश होता है तो लगता है मानो पानी चिकने घड़ों पर पड़ रहा है। इसके विपरीत ग्रामीण लोगों में जब उपदेश होता है, तब लगता है कि पानी किसी उर्वर खेत में बरस रहा है। बावजूद इसके, नैतिक प्रेरणा के विषय में नगरों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। हालांकि यह कार्य कठिन अवश्य है, तथापि प्राथमिकता से करने का है, क्योंकि नगरों के लोग कोटि-कोटि ग्रामीणों के अगुआ हैं। वे यदि अपना रास्ता

अणुव्रत-आंदोलन अपने ध्येय में सफल है

● २४३ ●

ठीक नहीं करते हैं तो ग्रामीण लोग सही राह पर कैसे चल सकेंगे? यही तो कारण है कि नगरों में नैतिक प्रचार का कार्य कठिन मानते हुए भी मैंने चातुर्मास-प्रवास के लिए महानगर कलकत्ता को चुना है।

यहां मुझे विरोध और स्वागत दोनों मिले। पर आधारशून्य विरोध से मैं विचलित नहीं हुआ और प्रतिदिन होनेवाले स्वागत को मैंने बहुत करके नहीं माना। निष्ठापूर्वक सत्प्रवृत्त रहना मेरे जीवन का ध्येय है। फिर उससे कैसा भी परिणाम क्यों न आए, विचलित होना या प्रसन्न होना मेरा कार्य नहीं है। इस संबंध में मेरे लिए अतीव आह्लाद की बात यह है कि इस कलकत्ता-प्रवास में मुझे यहां के सभ्य नागरिकों, उच्चस्तरीय पत्रकारों व साहित्यकारों तथा नैतिक मूल्यों में निष्ठा रखनेवाले जन-नेताओं का पर्याप्त सहयोग मिलता रहा है। विविध तत्त्वों से प्रभावित इस कलकत्ता महानगर के वातावरण में नैतिक मूल्यों को सुदृढ़ करने में मुझे जो सफलता मिली, वह मेरे लिए अत्यंत संतोष का विषय है। लगभग एक मास पश्चात मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से हमारी आगामी यात्रा का शुभारंभ होनेवाला है। यह कलकत्ता से सरदारशहर (चूरू, राजस्थान) तक लगभग बारह सौ मील की एक अखंड पदयात्रा है।

१०२ : कर्तव्य-पूर्ति के लिए नया मोड़ आवश्यक*

अहिंसा की सीमाएं विस्तृत हुई हैं

अणुव्रत-आंदोलन दस वर्षों की अवधि पार कर चुका है। इस लंबे समय में विश्व के रंगमंच पर छोटे-बड़े अनेक परिवर्तन हुए हैं, अनेक घटनाएं घटी हैं। विज्ञान की चामत्कारिक प्रगति हुई है। सामाजिक विकास, आर्थिक उन्नति तथा संपदा के संवर्धन की होड़ में प्रत्येक राष्ट्र तत्परता से सक्रिय है। शक्ति-संतुलन के लिए शस्त्रास्त्रों के निर्माण की स्पर्धा भी कम नहीं रही है। शीत युद्ध भी तीव्र गति से चला है। थोड़ी मात्रा में प्रत्यक्ष युद्ध भी हुआ है और कुछ प्रसंगों में वह होते-होते रुका है। सारी घटनाओं को मिलाकर देखा जाए तो लगता है कि अहिंसा की सीमाएं विस्तृत हुई हैं।

समझौता-नीति विकसित हो रही है

सैनिक शक्ति और आणविक अस्त्रों की वृद्धि के बावजूद भय घटा नहीं है, प्रत्युत बढ़ा है और मानव-जाति के प्रलय की कल्पना स्पष्ट हुई है। तब एकमात्र शस्त्र में विश्वास करनेवाले लोगों को भी यह अनुभव हुआ है कि विवादों के अंत का यह सही मार्ग नहीं है। पारस्परिक सौहार्द, विश्वास, भाईचारा, सामीप्य और एक-दूसरे की नीति एवं कार्यक्रमों का सम्मान करने से ही समस्याओं का समाधान हो सकता है। इस पद्धति के द्वारा ही मनुष्य, मनुष्य की भांति जी सकता है। एक वाक्य में यही कि आवेगपूर्ण प्रवृत्ति घट रही है, समझौता-नीति विकसित हो रही है।

अणुव्रत आंदोलन की भूमिका

यह जो हुआ है, वह अणुव्रत-आंदोलन के द्वारा ही हुआ है—ऐसी गर्वोक्ति मैं नहीं कर सकता, किंतु जो हुआ है, उसका भागीदार वह

*अणुव्रत-आंदोलन के दशम वार्षिक अधिवेशन में प्रदत्त उद्घाटन-भाषण।

अवश्य है, क्योंकि यह उसके लक्ष्य की पूर्ति है। आंदोलन का लक्ष्य है—चरित्र-विकास। चरित्र का संबंध केवल व्यापार-शुद्धि तक ही सीमित नहीं है। उसका संबंध उन सब कार्यों से है, जो मनुष्य को हिंसक बनाते हैं। खाद्य पदार्थों में मिलावट करनेवालों को यदि चरित्रवान नहीं कहा जा सकता तो आणविक अस्त्रों का निर्माण करनेवालों को भी चरित्रवान नहीं कहा जा सकता। शोषण, अन्याय, असहिष्णुता, आक्रमण, दूसरों के प्रभुत्व का अपहरण या उसमें हस्तक्षेप और असामाजिक प्रवृत्तियाँ—ये सब चरित्र के दोष हैं। लगभग सभी लोग इनसे आक्रांत हैं। भेद है प्रकार और मात्रा का। कोई एक प्रकार के दोष से आक्रांत है तो कोई दूसरे प्रकार के दोष से, कोई कम मात्रा में है तो कोई अधिक मात्रा में। अभी हमारे सामने भारतीय नागरिक हैं। उनमें असहिष्णुता, आक्रमण, दूसरे के प्रभुत्व का अपहरण या उसमें हस्तक्षेप—इन दोषों की मात्रा विशेष नहीं है, किंतु शोषण और असामाजिक प्रवृत्तियों की मात्रा अधिक है। व्यावहारिक सचाई जितनी कई दूरवर्ती राष्ट्रों के नागरिकों में है, उतनी भारतीय नागरिकों में नहीं है। यद्यपि आस-पास की आलोचना में कुछ कठिनाई होती है, पर उसे मिटाने के लिए सही निदान के सिवाय और कोई उपाय भी तो नहीं है। अणुव्रत-आंदोलन की अधिक शक्ति जीवन-व्यवहार का असदाचार मिटाने में लगी है। आंदोलन ने छोटी-छोटी बुराइयों की ओर जनता का ध्यान खींचा है। कुछ बुराइयों को लोग बुराई मानना भूल गए थे। उन्हें फिर से भान हुआ है और वे बुराई को बुराई समझने लगे हैं—यह आंदोलन की सफलता है। बुराइयाँ छोड़ने के अभियान में जितनी अपेक्षा थी, उतने लोग सम्मिलित नहीं हुए हैं—यह आंदोलन की विफलता है। विफलता का एक हेतु आर्थिक दुर्व्यवस्था हो सकता है, पर इसके अतिरिक्त कुछ और भी है। चारित्रिक आंदोलन इसलिए पूर्ण सफल नहीं होते कि जो और है, उसे महत्त्व नहीं दिया जाता, सारा महत्त्व अर्थव्यवस्था को दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्थव्यवस्था दोषपूर्ण होती है, तब समाज में विकार बढ़ते हैं। अर्थव्यवस्था का परिवर्तन एक राष्ट्रीय प्रश्न है। राष्ट्रीय नेताओं के सामने अभी समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य है। अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य है चरित्रवान समाज का निर्माण। अर्थव्यवस्था सुधरे बिना चरित्रवान बनने में कठिनाई होती है तो चरित्रवान बने बिना समाजवादी समाज बने, यही भी संभव नहीं है। इसलिए मैं बहु धा राष्ट्र के प्रमुख

व्यक्तियों से कहता हूँ कि वे और योजनाओं के साथ-साथ चरित्र-विकास की योजना को भी महत्त्व दें। भारत में अब भी वैसा मानस है कि वह विश्व को शांति, अनाक्रमण और सह-अस्तित्व की अमूल्य देन दे सकता है। अणुव्रती इस देन को स्थिर बनानेवाले हैं। वे समाज के अंग हैं। अर्थनीति व राजनीति से वे जुड़े हुए हैं। उन्हें विकृतियों से बचाए रखना उनका कर्तव्य है। कर्तव्य की पूर्ति के लिए उन्हें नया मोड़ लेना आवश्यक है। आंदोलन की भावना लोगों तक पहुंची है, प्रचार हुआ है। अब क्रियात्मक रूप की अपेक्षा अधिक है। अणुव्रती अभी शक्तिशाली नहीं बने हैं। वे जनता को अपने पथ पर चलने के लिए खींच नहीं पाए हैं। हो सकता है कि उनका मार्ग कठिन हो और यह भी हो सकता है कि उस मार्ग पर उन्हें जिस रूप में चलना चाहिए था, उस रूप में वे शायद न चल पाए हों। इस परिप्रेक्ष्य में वे आत्म-निरीक्षण करें।

अणुव्रती समाज का पथ-दर्शन करें

यह बहुत ही श्रेय है कि सब लोग अणुव्रती बन जाएं, किंतु यह भी कम श्रेय नहीं है कि समाज का पथ-दर्शन अणुव्रती करें। अणुव्रती से मेरा मतलब है—चारित्रिक मानदंडों को प्राथमिकता देकर चलनेवाले लोग। आज ऐसे लोगों की कमी हो रही है। उसका कारण भी स्पष्ट है। नई पीढ़ी को प्रारंभ से ही बौद्धिक विकास की शिक्षा मिलती है। चारित्रिक मूल्यों के प्रति उसकी आस्था बढ़ाने का यत्न नहीं किया जाता। भौतिक विचारों के पकने पर आध्यात्मिक विचार उसे बहुत कम छू पाते हैं। आध्यात्मिक भित्ति सुदृढ़ बने बिना नैतिकता भी नहीं पनप पाती। कुछ राष्ट्रों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई है। यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना के इस विकास से नैतिक विकास को भी प्रोत्साहन मिला है, तथापि इतना स्पष्ट है कि उससे नैतिकता का एकांगी विकास हुआ है, जबकि हम उसका सर्वांगीण विकास चाहते हैं। दैनंदिन व्यवहार में भी नैतिकता हो और सब राष्ट्रों के प्रति या बड़े-बड़े कार्यों में भी नैतिकता हो। इसका आधार अहिंसा ही बन सकती है। अहिंसा और आध्यात्मिकता में कोई अर्थ-भेद नहीं है। जब तक जीवन में अहिंसा नहीं आती, सबको समान मानने की भावना विकास नहीं पाती, तब तक सत्य का भी आचरण नहीं होता। सत्य, अपरिग्रह, स्वावलंबन—इन सभी का बीज अहिंसा है। अहिंसा की प्रतिष्ठा संयम से ही हो सकती है। बौद्धिक विकास के साथ संयम की शिक्षा मिले, वैसा शिक्षा-प्रयोग संभवतः नहीं

कर्तव्य-पूर्ति के लिए नया मोड़ आवश्यक

● २४७ ●

हो रहा है। अणुव्रती का जीवन एक प्रयोगशाला-जैसा होना चाहिए। नए-नए प्रयोग ही कार्य को आगे बढ़ाते हैं। कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। कमी है—कार्य करनेवाले व्यक्तियों की। व्यक्तियों का निर्माण इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम तैयार किए जा सके हैं, जो यह ज्योति सुदूर तक फैला सकें। व्यक्ति तब बनता है, जब उसका कोई निश्चित लक्ष्य हो, उसकी पूर्ति की तड़प हो और उसका आग्रह हो। रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और परंपराओं में संयम हो, सरलता हो, यह एक लक्ष्य है। इसकी पूर्ति की तड़प और आग्रह पैदा कर सकें तो व्यक्ति-निर्माण की दिशा में एक सफल प्रयत्न होगा।

भावी संभावनाएं

आंदोलन का दूसरा दशक अधिक संभावनाओं के साथ शुरू हो रहा है। विचार-पक्ष जो बना है, उसकी आचार में परिणति होगी, ऐसा विश्वास है। ऐसा न हो तो कोरे दार्शनिक सिद्धांतों से होना जाना भी क्या है! इस चातुर्मास में *अणुव्रती समाज व्यवस्था* के बारे में लंबा चिंतन चला है। कुछ निष्कर्ष भी सामने आए हैं। *अणुव्रत समिति* एक ऐसे शिक्षा-संस्थान की बात सोच रही है, जहां जनता को बौद्धिक और चारित्रिक दोनों प्रकार की शिक्षा मिले और जहां से अर्थनीति, राजनीति एवं समाज की परंपराओं को अहिंसात्मक पथ-दर्शन दिया जा सके। चरित्र-विकास के उपदेश प्रयोगात्मक शिक्षा के बिना पूर्ण सफल नहीं हो सकते। बंगाल की इस सुदीर्घ यात्रा के बाद लोगों तक भावना पहुंचाने का क्रम एक प्रकार से पूर्ण होता है। अब दूसरे क्रम पर अधिक ध्यान देना है। अणुव्रत-आंदोलन के कार्यकर्ता और उसके प्रशंसक इस पर गहराई से विचार करें।

कलकत्ता

१६ अक्टूबर १९५९

१०३ : अणुव्रती धार्मिक जीवन का उदाहरण उपस्थित करें*

समय की अवधि होती है, इसलिए कोई भी अनुष्ठान आरंभ और अंत से मुक्त नहीं होता। निष्ठा ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका अंत नहीं होता।

निष्ठा पाना सहज बात नहीं है, पर जिसमें यह होती है, वह कुछ कर गुजरता है। सफल का अर्थ है निष्ठावान और निष्ठावान का अर्थ है सफल। प्रत्येक संस्थान को निष्ठावान व्यक्तियों की अपेक्षा होती है। अणुव्रत-आंदोलन भी निष्ठावान व्रती चाहता है। निष्ठा में *करो या मरो* के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं होता। लक्ष्य की सिद्धि के लिए जिसमें मृत्यु का वरण करने की उमंग हो, वही जीता है और उसी की निष्ठा होती है।

आज का वैज्ञानिक युग सिद्धांत की अपेक्षा प्रयोग में अधिक विश्वास करता है। धार्मिक लोग प्रयोग कम करते हैं, सिद्धांत अधिक दोहराते हैं, किंतु आज का भौतिकवाद अध्यात्म को चुनौती दे रहा है, उसे वे क्यों नहीं देखते? क्या वे अनीति, असदाचार और धर्म को एक साथ चलाते रहेंगे? धर्मप्रधान देश में अनैतिकता क्यों? इन प्रश्नों का समाधान दिए बिना क्या धार्मिक लोग धर्म को आकर्षण का केंद्र-बिंदु बनाए रख सकेंगे? धर्म से वृत्तियों का परिमार्जन नहीं होता तो उसकी उपासना से और क्या मिल सकता है? धर्म का वर्तमान में क्या उपयोग है? धार्मिक का जीवन कितना स्पष्ट होता है, अणुव्रती इसका उदाहरण उपस्थित करें। वे मृदु हों। दूसरों के प्रति अन्याय और शोषण करने का प्रमुख हेतु क्रूरता है। 'सब जीव समान हैं'—यह मानकर चलनेवाले दूसरे मनुष्यों के प्रति क्रूर व्यवहार करें—यह कितना बड़ा आश्चर्य है! अणुव्रती सहिष्णु हों।

*अणुव्रत-आंदोलन के दशम वार्षिक अधिवेशन के पूर्णाहुति समारोह में दिया गया दीक्षांत भाषण।

अणुव्रती धार्मिक जीवन का उदाहरण उपस्थित करें

असहिष्णुता से कलह होता है, लड़ाइयां होती हैं और युद्ध होते हैं। सहिष्णु व्यक्ति प्रत्येक अप्रिय परिस्थिति टाल देता है। जो सहन करने का मंत्र नहीं जानता, वह शांति से जी नहीं सकता।

अणुव्रती नम्र हों। उद्वेगता से व्यक्ति बहुत नीचे स्तर पर चला जाता है। विनय अपना सहज गुण है। जो नम्र होता है, वह सहज ही दूसरों को अपनी और आकृष्ट कर लेता है।

अणुव्रती समभावी हों। उनमें घृणा न हो। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति घृणा का मनोभाव रखे—यह कितनी दयनीय मनोदशा है! जब प्रेम का अभाव होता है, तभी घृणा बढ़ती है। प्रेम का विस्तार होने से ही घृणा मिट सकती है।

अणुव्रती स्वावलंबी बनें—दूसरों पर निर्भर रहनेवाले व्रत निभाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। अपने प्रयत्न में भरोसा रखनेवाला इस कठिनाई से सहज रूप में बच जाता है।

ये पांचों बातें आंदोलन के व्रतों में हैं, किंतु व्रत लेने मात्र से वे सफल नहीं होते। उनकी सफलता के लिए उनकी उपासना करनी होती है। यदि एक साथ सारे व्रतों की उपासना कोई कर सके तो बहुत अच्छी बात है, पर वैसा करना कठिन है। मैं अणुव्रतियों को परामर्श देता हूँ कि इस वर्ष वे इन पांचों बातों की साधना करें।

साधना का क्रम यह हो कि इन पांचों बातों के अभ्यास का दैनिक लेखा-जोखा रखें। पांच अंकों की कल्पना करें और किस दिन कितने अंक प्राप्त होते हैं, इसका वे स्वयं ध्यान रखें। अगले अधिवेशन पर उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें।

दूसरों के लिए खपे बिना कोई उनके हृदय को नहीं छू सकता। आंदोलन की भावना तब तक यथेष्ट प्रसार नहीं पा सकती, जब तक दूसरों के लिए कुछ न किया जाए, परंतु दूसरों के लिए करने की क्षमता उन्हीं में हो सकती है, जो अपने-आपको तपाएं, खपाएं।

मैं विश्वास करता हूँ कि अणुव्रतियों में कार्य करने की तड़प जागेगी और अगले वर्ष तक उसका परिणाम अवश्य प्रत्यक्ष होगा।

कलकत्ता

१९ अक्टूबर १९५९

● २५० ●

ज्योति जले : मुक्ति मिले

१०४ : प्रतिलेखन का दिन*

आज मैं पैंतालीस वर्ष पूर्ण कर छयालीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। मेरे लिए आज का दिन प्रतिलेखन का दिन है। मैं अभी युवा हूँ और मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि मेरा यह यौवन चिरकाल तक बना रहेगा, क्योंकि यौवन उम्र से भी कहीं अधिक विचारों पर निर्भर करता है। बूढ़ा तो लोगों ने मुझे उस दिन स्वीकार किया था, जिस दिन मेरे प्राणदेवता पूज्य गुरुदेव कालूगणी ने मेरे कंधों पर तेरापंथ धर्म संघ का भार डाला था। मुझे उस दिन की वह बात बहुत अच्छी तरह से याद है, जब मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने मुझे बयासी वर्ष का बूढ़ा कहा था। लोगों को उनकी इस बात पर आश्चर्य हुआ और उन्होंने प्रश्न की भाषा में कहा कि अभी तो इनकी अवस्था मात्र बाईस वर्ष की है, फिर ये बूढ़े कैसे हो गए। उन्हें समाहित करते हुए मंत्री मुनि ने कहा था कि साठ वर्ष की अवस्था आचार्यश्री कालूगणी की और बाईस वर्ष इनकी। दोनों को जोड़ने से बयासी वर्ष हो जाते हैं। गुरु अपने उत्तराधिकारी को अपना अधिकार ही नहीं सौंपते, जीवनभर की अनुभव-संपदा भी सौंपकर जाते हैं।

यह वर्ष मेरे लिए एक दृष्टि से अत्यंत लाभकारी रहा है। मेरे अंतर में आत्म-बल की वृद्धि हुई है। कोई पूछे कि आपके अंतर में आत्म-बल की वृद्धि कैसे हुई है तो आपको बताया जाना असंभव है, पर हुई अवश्य है और वह अनुभवगम्य है। हां, इतना अवश्य बता सकता हूँ, वह पूज्यवर कालूगणी की ही देन है, उनकी कृपा का ही प्रसाद है। एकदम निम्न स्तर के विरोध हमारे सामने आए, फिर भी हमारा कार्य-उत्साह और आत्मबल घटा नहीं, बल्कि बढ़ता गया। मेरी आत्मा कहती है कि आगामी वर्ष इस क्षेत्र में और अधिक प्रगति होगी।

*छयालीसवें जन्म-दिवस के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन।

धर्मसंघ में इस वर्ष उल्लेखनीय तपस्याएं हुई हैं। आप देखें, बारहमासी, छहमासी की तपस्याएं हुई हैं। एक कृच्छ्र तपस्या—*भ्रदोत्तर प्रतिमा तप* आज भी चालू है। मुझे लगता है, पिछली शताब्दी में शायद ही ऐसी तपस्या हुई हो। साहित्य-सृजन की दृष्टि से भी यह वर्ष काफी कार्यकारी रहा है। यह कार्य उल्लेखनीय गति से चला है। *आगमों* के संपादन एवं अनुवाद का कार्य भी संतोषप्रद गति से आगे बढ़ा है। साधु-साध्वियों के साथ-साथ श्रावक लोग भी इसमें हाथ बंट रहे हैं। अगला वर्ष हमारे लिए अतिरिक्त प्रसन्नता का होगा क्योंकि सामने *तेरापंथ त्रिशताब्दी समारोह* आ रहा है।

मंगल संदेश आज के दिन यही है कि सभी आत्मनिष्ठापूर्वक संयम और सदाचार के पथ पर आगे बढ़ें।

कलकत्ता

२ नवंबर १९५९

१०५ : दीक्षा : क्या और क्यों

त्याग कितना किया जाए

भारतीय परंपरा में सदा से ही त्याग को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भारत में भोगी-विलासी व्यक्ति भी बहुत हुए, पर यहां महत्त्व त्याग और त्यागी व्यक्तियों को ही मिला है। मैं मानता हूं, यह भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशेषता और महत्ता है। यहां के बड़े-बड़े सम्राटों के शिर अकिंचन भिक्षुओं, श्रमणों एवं संन्यासियों के चरणों में झुके हैं, पर समझने की बात यह है कि उनका वह झुकना उन अकिंचन संन्यासियों के वेश के प्रति नहीं, अपितु उनके द्वारा अध्यात्म-साधना हेतु किए गए त्याग के प्रति था। प्रश्न है कि त्याग कितना किया जाना चाहिए। इसका उत्तर यही है कि त्याग यथाशक्ति होना चाहिए। अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य की अनदेखी करनेवाला त्याग-मार्ग से फिसल जाता है। अगर शक्ति एक उपवास करने की है तो आप एक ही करें और आप यदि एक से अधिक करने की शक्ति रखते हैं तो अधिक करें। यही तो कारण है कि आदर्श पर चलनेवाले सब नहीं होते, थोड़े ही होते हैं, पर वे थोड़े ही व्यक्ति वास्तव में समाज का पथ-दर्शन करते हैं। आज जबकि अणुव्रती बनते भी लोग सकुचा रहे हैं, तथ्यहीन सामाजिक रीति-रिवाजों का परित्याग नहीं कर पा रहे हैं, ऐसे में यह बिलकुल असंभव बात है कि सब लोग महाव्रती बन जाएं। अणुव्रती और महाव्रती में बहुत बड़ा अंतर होता है। अणुव्रती तो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यथाशक्ति पालन करता है, जबकि महाव्रती के लिए यह अनिवार्य है कि वह सर्वथा अहिंसक हो, संपूर्ण सत्यवादी हो, सब प्रकार की चोर-वृत्ति का त्यागी हो, परिपूर्ण अपरिग्रही हो व कामिनी से रहित हो। महाव्रतों की साधना में कोई छूट नहीं होती, जबकि अणुव्रती को छूट होती है। वह अपनी इच्छानुसार प्रतिज्ञाएं करता है।

कैसी बात है कि कुछ बौद्धिक लोग दीक्षा-जैसी बात को भी निरी दीक्षा : क्या और क्यों

आलोचना का विषय बना लेते हैं, पर मैं नहीं समझता कि जब वे त्याग की आवश्यकता स्वीकार करते हैं, तब त्यागी की आवश्यकता अस्वीकार कैसे करते हैं। उन्हें त्यागी की आवश्यकता स्वीकार करनी ही होगी।

तेरापंथ की दीक्षा

दीक्षा सर्वत्याग का मार्ग है। यों तो सभी धर्मों की दीक्षा में संन्यासियों के लिए अनेक प्रकार के नियम हैं, पर जैन-दीक्षा के नियम अपेक्षाकृत अधिक कठिन हैं। उसमें भी तेरापंथ की दीक्षा के नियम तो और भी कठोर हैं। तेरापंथ की दीक्षा में शास्त्रीय मर्यादाओं के साथ-साथ संघीय मर्यादाओं का भी पूर्ण रूप से पालन करना होता है। वहां संयम-साधना के लिए *करो या मरो*—यह एक ही लक्ष्य सामने रहता है। दीक्षित हो जाने के पश्चात साधु-साध्वियों का खान, पान, शयन आदि सारी प्रवृत्तियां संघीय विधि-विधानानुसार होती हैं। फिर एक और महत्वपूर्ण बात है। दीक्षित साधु-साध्वियों को एक आचार्य के अखंड अनुशासन एवं नेतृत्व में रहना होता है। इस प्रकार के अनुशासन एवं मर्यादाओं में रहकर त्याग का जीवन जीना अपने-आपमें बहुत ही महत्वपूर्ण है। सबको इस बारे में प्रामाणिक जानकारी करनी चाहिए और इस संबंध में गंभीरता से चिंतन करना चाहिए। जिस युवक व युवती का परस्पर में वैवाहिक संबंध तय हो, जिस युगल का भावी जीवन भोग-विलास में व्यतीत होनेवाला हो और जो भौतिक अभिसिद्धि की दृष्टि से संपन्न हो, उस युगल द्वारा भोग-विलास से मुंह मोड़कर तेरापंथ के कड़े अनुशासन में दीक्षा के लिए तैयार होना, निःसंदेह त्याग की पराकाष्ठा का ही द्योतक है।

दीक्षार्थी की अर्हता

पूछा जा सकता है कि दीक्षार्थी कौन होता है। दीक्षार्थी वही होता है, जो संसार से विरक्त हो, संसार के भोग-विलास से विरक्त हो। जिसके हृदय में यह विरक्ति नहीं जागी, वह दीक्षार्थी नहीं हो सकता। दीक्षार्थी के संदर्भ में एक बात और समझ लेने की है। दीक्षार्थी बनाया नहीं जाता, बल्कि अंतर में वैराग्य के अंकुर फूटने से व्यक्ति स्वयं दीक्षार्थी बनता है। वैसे इस सत्कार्य के लिए प्रेरणा देकर भी किसी योग्य व्यक्ति को तैयार किया जाए तो कोई अनुचित बात नहीं है। इसके बावजूद अंतिम सचाई यही है कि बनाने से कोई दीक्षार्थी नहीं बनता, व्यक्ति स्वयं

इस पथ पर चलने का निर्णय लेता है। इस संदर्भ में योग्यता की कसौटी की बात भी समझ लेनी चाहिए। उम्र इसकी कोई सही कसौटी नहीं है। व्यक्ति को जब अपने हिताहित का भान होने लगे और वह दीक्षा लेने को तत्पर हो, तभी उसे दीक्षा के योग्य समझा जाता है। इसके पश्चात भी एक अवधि तक उसके विचारों की परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा की प्रक्रिया से गुजरने के पश्चात जब यह विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति का निश्चय अटल है, तब उसे दीक्षा दी जाती है। दीक्षा लेने के पश्चात व्यक्ति का लक्ष्य अविश्रांत रूप से स्व-पर का कल्याण करना होता है। त्याग के इस पथ पर बढ़नेवाले लोग सचमुच अभिनंदनीय होते हैं और उनका यह अभिनंदन, अभिनंदन करनेवालों के लिए भी गौरव व सम्मान की बात होती है।

दीक्षा का उद्देश्य और लक्ष्य

दीक्षा या सर्वत्याग के संदर्भ में एक बात और स्पष्ट कर दूँ। दीक्षा ख्याति, नाम और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए नहीं होती। उसका तो एकमात्र उद्देश्य आत्माराधना होता है। भौतिक अभिसिद्धियों के लिए त्याग-पथ स्वीकार करना करोड़ों-अरबों की संपत्ति कौड़ी के बदले लुटाने के समान है। त्यागी या दीक्षार्थी का चरम लक्ष्य आत्म-उज्ज्वलता करते हुए परमात्म-पद प्राप्त करना होता है। दीक्षा स्वीकार करनेवाले व्यक्ति के समक्ष उद्देश्य एवं लक्ष्य की स्पष्टता बहुत आवश्यक है। सही उद्देश्य एवं सही लक्ष्य से होनेवाली गति ही सार्थक होती है।

कलकत्ता

७ नवंबर १९५९

१०६ : महिलाएं अपनी शक्ति पहचानें*

आज प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि वह विकास करे, निर्माण की दिशा में आगे बढ़े। इस लक्ष्य से यत्र-तत्र अनेक उपक्रम चल भी रहे हैं। इस संदर्भ में मेरा चिंतन यह है कि वही विकास और निर्माण श्रेयस्कर है, जिसमें आत्मा और जीवन का विकास होता हो, निर्माण होता हो। इस दिशा में आगे बढ़ने में पुरुष और महिला का कोई भेद नहीं होना चाहिए। महिलाओं को आत्म-विकास और जीवन-निर्माण के क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रहना चाहिए।

मैं देख रहा हूं, आज महिला समाज जाग्रति की दिशा में करवट ले रहा है। प्रगति की विभिन्न राहों पर महिलाएं चरणन्यास करने के लिए कटिबद्ध हो रही हैं। इस संदर्भ में मैं उनसे एक बात कहना चाहता हूं। प्रगति की विभिन्न राहों पर आगे बढ़ने के साथ-साथ उन्हें कृत्रिम कटघरे और बंधन से बाहर निकलने के लिए भी अपनी शक्ति का भान करना होगा। वे यह बात कभी न भूलें कि उनमें वह शक्ति है, जिससे वे परिवार और समाज का ही नहीं, अपितु पूरे विश्व का पथ-दर्शन कर सकती हैं। आप पूछेंगी कि यह कैसे। आप देखें, माता के द्वारा संतान का विकास होता है और संतान माता से प्राप्त पथ-दर्शन के आलोक में अपना भावी रास्ता तय करती है। इस दृष्टि से महिलाओं पर एक गुरुतापूर्ण उत्तरदायित्व है और इसी लिए उन्हें जगदंबा और स्रष्टा कहकर पुकारा गया है। अपेक्षा है, महिला-वर्ग, मातृ-जाति अपनी शक्ति पहचाने।

महिलाएं यह बात समझें कि अच्छा कार्य थोड़े-से व्यक्तियों से प्रारंभ होकर ही धीरे-धीरे व्यापक बनता है। आप ध्यान दें, गंगा का जो

*श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथ महिला मंडल की स्थापना के उपलक्ष्य में आयोजित सार्वजनिक महिला-सम्मेलन में प्रदत्त प्रवचन।

विशाल प्रवाह हमें दिखाई देता है, उसका मूल स्रोत उतना बड़ा नहीं है, जितना की मैदानी भाग में है। आज तेरापंथी समाज की थोड़ी-सी बहिनों द्वारा स्थापित यह संगठन अपने ध्येय के अनुसार नारी-जागरण का व्यापक कार्य करता हुआ ग्राम-ग्राम एवं नगर-नगर में चरित्र, सदाचार, नैतिकता, सत्य, प्रामाणिकता, ईमानदारी आदि की लौ जागाकर विश्व को प्रेरणा देने का प्रयास करेगा तो निर्माण की दिशा में उल्लेखनीय कार्य हो सकेगा। आशा करता हूँ, महिलाएं अपने इस लक्ष्य की दिशा में सतत आगे बढ़ती रहेंगी।

कलकत्ता

१३ नवंबर १९५९

१०७ : चरित्र-शुद्धि का अभियान आगे बढ़ाएं

कलकत्ते का लगभग साढ़े आठ मास का प्रवास संपन्न कर अब मैं कल यहां से विदा हो रहा हूं। यहां मेरा शानदार स्वागत-हुआ तो विरोध भी हुआ, पर यह कोई नई बात नहीं है। मैं जहां भी जाता हूं, ये दोनों प्रकार की स्थितियां लगभग सामने आती हैं। चिंतन के क्षणों में मैं कई बार सोचता हूं कि इसका मूल कारण क्या है। तत्काल एक समाधान मिलता है कि जब तक व्यक्ति वीतराग/आप्त नहीं बन जाता, तब तक ये दोनों स्थितियां उसके सामने बनी रहती हैं, ताकि प्रशंसा सुनकर व्यक्ति को गर्वित होने का मौका न मिले और वह अपने-आपको संतुलित बनाया रख सके। मैं अनुभव करता हूं कि विरोध ने सचमुच मुझे संतुलित बने रहने में सहयोग किया है। इस दृष्टि से मैं विरोध को स्वागताह्व मानता हूं, पर मुझे इस बात का खेद है कि कलकत्ते में मुझे वह विरोध नहीं मिला, जिस विरोध का स्वागत किया जाना चाहिए। इतने बड़े नगर में इतने निम्नस्तर का विरोध देखकर मुझे आश्चर्य है और वह भी अपने विचारों की उपज-व्यक्तिगत भावना के प्रतिफलन की दृष्टि से।

कलकत्ते में हुए विरोध में तीन तरह के लोग थे। प्रथम कोटि के वे लोग, जो अपने-आपको धार्मिक तो मानते हैं, किंतु धर्म-तत्त्व का उन्हें वास्तविक ज्ञान ही नहीं है। दूसरी कोटि के वे लोग, जिनका साधु, संन्यासी, संयम आदि के नाम से विरोध है। तीसरी कोटि के वे लोग, जो चाहते थे कि शोषण, भ्रष्टाचार, मिलावट आदि अनैतिक प्रवृत्तियों पर आधारित उनका अस्तित्व बना रहे। वे मेरी यह आवाज सुनकर बेचैन हो उठे कि भ्रष्टाचार मत करो, मिलावट मत करो, शोषण से अर्थार्जन मत करो.....उन्होंने सोचा कि चरित्र-शुद्धि की बुलंद आवाज ने अगर जन-जन के हृदय में अपना स्थान बना लिया तो हमारा अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। अतः उन्होंने चिंतन किया कि हम इस प्रकार विरोध करें कि न तो रहे बांस, न बजे बांसुरी। इस विरोध के द्वारा हमें धैर्य से

विचलित करने का बहुत प्रयास किया गया, पर हमारा सौभाग्य मानना चाहिए कि ऐसा निम्नस्तरीय विरोध देखकर भी हमने अपना धैर्य नहीं खोया, हम विचलित नहीं हुए। कदाचित् धैर्य खोकर विचलित हो जाते तो वर्षों से संचित सहिष्णुता का तत्त्व हम गंवा बैठते।

खैर, जो कुछ होना था, वह हुआ। पर अंत में *सत्य ही भगवान है*—यह कथन सार्थक हुआ। लोगों ने सही तत्त्व का अंकन किया। उन्हें वास्तविकता समझ में आई। बावजूद इसके, इतना सुनिश्चित है कि इस कारण महानगर में जिस व्यापक स्तर पर कार्य करने की हमारी तमन्ना थी, समाज के सभी वर्गों को लक्ष्य रखकर हमने जो कार्य-योजना बनाई थी, उसके अनुरूप कार्य करने की गति में कुछ मंदता आई। गहराई से देखा जाए तो यह क्षति हमारी नहीं, अपितु इस नगर, नगर के नागरिकों और आचार की हुई। चारित्रिक शुद्धि के अभियान का जितना लाभ यहां के नागरिकों को मिलना चाहिए था, उतना नहीं मिल सका। वे उससे काफी अंश में वंचित रह गए। अस्तु, जबकि अब मैं विदा हो रहा हूं, कलकत्ता-वासियों का दायित्व है कि वे चरित्र-शुद्धि की दिशा में हमारे द्वारा चलाए गए अभियान को जन-जन में अमर बनाने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास करें, ताकि गतिरोध से हुई क्षति की पूर्ति हो सके। कलकत्तावासियों में भी अधिक दायित्व उन लोगों का है, जिनके कारण यह अवांछित गतिरोध पैदा हुआ।

तेरापंथी लोगों से इस अवसर पर एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूं। आप लोग मेरे अनुयायी कहलाते हैं, भक्त कहलाते हैं। आपकी अब सही कसौटी है। यहां से प्रस्थित होने के पश्चात जब मैं यह सुनूंगा कि तेरापंथियों की दुकानें ऐसी हैं कि जहां मिलावट नहीं होती, अनैतिकता और भ्रष्टाचार नहीं होता, शोषण नहीं चलता; वे अपनी चरित्र-शुद्धि का ध्यान हर क्षेत्र में रखते हैं, तो मुझे सात्त्विक प्रसन्नता होगी। सिर्फ दर्शन और उपासना करने से वह प्रसन्नता नहीं हो सकती।

विदाई के इस प्रसंग पर मैं उन सबसे सरल हृदय से खमतखामणा करता हूं, जिनके प्रति विरोध करने के कारण किसी प्रकार की उच्चावच भावना आई हो। जब मैं यहां से प्रस्थान ही कर रहा हूं, तब यह भार साथ क्यों ले जाऊं? आशा है, मेरे ये विचार उन लोगों तक पहुंचेंगे।
कलकत्ता, १५ नवंबर १९५९

१०८ : अणुव्रत जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है

युग की बड़ी त्रासदी

आज चारों ओर राष्ट्र के उत्थान की चर्चा है। विभिन्न स्तरों पर इस उद्देश्य से कार्य-योजनाएं भी बन रही हैं। इस संदर्भ में मेरा व्यक्तिगत चिंतन यह है कि जब तक जन-जन के मन में त्याग और संयम के प्रति निष्ठा नहीं जागेगी, बुराइयों के प्रति सामूहिक रूप में घृणा नहीं पैदा होगी, तब तक हजार कार्य-योजनाएं भी देश का उत्थान नहीं कर सकतीं। पर घृणा मात्र बुराई के प्रति होनी चाहिए, बुरे आदमी के प्रति नहीं, क्योंकि बुराई कभी सुधर नहीं सकती, वह अच्छाई नहीं बन सकती, जबकि बुरा आदमी सुधरकर अच्छा आदमी बन सकता है। आज के युग की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि लोगों ने बुराई को बुराई मानना भी छोड़ दिया है। राष्ट्र में बन रही अनैतिकता की विकट स्थिति का मूल कारण यही है। अणुव्रत-आंदोलन ने एक दशक की स्वल्प अवधि में एक प्रयत्न किया है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति के कानों तक एक आवाज पहुंची है, जन-जन के हृदय में एक जाग्रति फैली है। लोग बुराई को बुराई मानने का साहस करने लगे हैं। मैं इसे आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानता हूं।

अणुव्रती कौन

अणुव्रत-आंदोलन एक व्यापक कार्यक्रम है। यह जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। व्यापारी व्यापार-क्षेत्र में रहते हुए मिलावट व ब्लैक-मार्केटिंग न करें, राज्यकर्मचारी अपना कार्य करते हुए रिश्वत न लें, मिल-मालिक अर्थार्जन के नशे में पागल बन श्रमिकों का शोषण न करें, श्रमिक लोग कम श्रम करके अधिक वेतन पाने की आकांक्षा न रखें, छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए अवैधानिक तरीकों का उपयोग न करें तथा तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लें तो मानना

चाहिए कि उनके जीवन में अणुव्रत-भावना साकार हो रही है। जिन लोगों के जीवन में अणुव्रत-भावना साकार हुई है, वे अणुव्रती हैं, जिस वर्ग का जीवन अणुव्रत भावना से भावित हुआ है, वह वर्ग अणुव्रती है। संक्षेप में कहा जाए तो अणुव्रती वह है, जो समाज और अपने कार्य-क्षेत्र में रहता हुआ नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पित रहे, अपनी नैतिकता बचाए रखने का प्रयास करे।

अणुव्रत-आंदोलन असांप्रदायिक है

अणुव्रत-आंदोलन की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि यह जितना हिंदुओं के लिए आवश्यक है, उतना ही आवश्यक मुसलमानों के लिए है। जितना जैनों के लिए उपयोगी है, उतना ही उपयोगी अन्यान्य धर्मावलंबियों के लिए है। प्रकारांतर से कहा जाए तो अणुव्रत-आंदोलन एक असांप्रदायिक आंदोलन है, मानव-धर्म है। अपेक्षा है, जन-जन का जीवन अणुव्रत के सांचे में ढले।

वर्धमान

२२ नवंबर १९५९

१०९ : सत्य धर्म को पहचानें

अर्थ मात्र साधन है

भारतीय संस्कृति संसार की एक महान संस्कृति है। इस संस्कृति ने सर्वोच्च मूल्य भोग, अर्थ और सत्ता को नहीं, अपितु त्याग और संयम को दिया है। यही तो कारण है कि भारतवर्ष में सम्मान और प्रतिष्ठा उन्हें मिली, जिन्होंने धन-वैभव, भोग-विलास और सत्ता का परित्याग कर संयम और आत्म-साधना का पथ अंगीकार किया, किंतु यह कितने खेद की बात है कि आज भारतीय लोक-मानस का झुकाव अर्थ की ओर बढ़ता जा रहा है। इस कारण वह अधिक-से-अधिक धन बटोरना चाहता है। इस चाह से बंधा होने के कारण वह अर्थार्जन में साधन-शुद्धि की बात भी भूल रहा है, करणीय-अकरणीय का विवेक भी नहीं कर पा रहा है। फलतः आज बाजार में शुद्ध आटा, शुद्ध घी और शुद्ध तैल तक का मिलना कठिन हो रहा है। मानव यह बात क्यों भूल रहा है कि अर्थ जीवन का साध्य नहीं, अपितु मात्र जीवन चलाने का एक साधन है? अपेक्षा है, मानव का दृष्टिकोण बदले, उसे वह सम्यक बनाए। जब यह परिवर्तन नहीं होता, तब तक समाज में व्याप्त अनैतिकता, भ्रष्टाचार, शोषण आदि दुष्प्रवृत्तियां मिट सकें, यह असंभव है।

धर्म का सही स्थान

मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि धार्मिक कहलानेवाले लोग भी अनैतिकता, अप्रामाणिकता, शोषण और भ्रष्टाचार करते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। वे कहलाने मात्र के धार्मिक हैं, वास्तव में धार्मिक नहीं हैं। कोई व्यक्ति वास्तविक धार्मिक तभी बनता है, जब धर्म उसके जीवन में उतरे; और धर्म के जीवन में उतरने के बाद व्यक्ति थोड़े-से अर्थ के लिए अनैतिकता, भ्रष्टाचार, शोषण-जैसी प्रवृत्तियां नहीं कर

सकता, बल्कि उनके बारे में सोच भी नहीं सकता, पर आज की त्रासदी यह है कि धर्म धर्मग्रंथों और धर्मस्थानों में कैद-सा हुआ पड़ा है। ऐसी स्थिति में वह अपना असर कैसे दिखा सकता है? इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि धर्म को धर्मग्रंथों एवं धर्मस्थानों से बाहर निकालकर धार्मिक के जीवन और जीवन-व्यवहार में प्रतिष्ठित किया जाए। धार्मिक का जीवन ही उसका सही स्थान है।

धर्म का शुद्ध स्वरूप

पर धर्म के स्वरूप के बारे में लोगों में भ्रांतियां बहुत हैं। इसलिए वे धर्म के नाम से ऐसी-ऐसी बातें चला रहे हैं, जिनका कि उससे कोई संबंध नहीं है, बल्कि दूर का भी संबंध नहीं है। आप पूछेंगे कि धर्म का शुद्ध स्वरूप क्या है। धर्म का शुद्ध स्वरूप है-

- विश्व-मैत्री की भव्य भित्ति पर,
सत्य-अहिंसा के खंभों पर,
टिका हुआ है महल मनोहर,
सदा सचेतन सत्य धर्म की जय हो जय।
शांति-निकेतन सत्य धर्म की जय हो जय॥
- वर्ण जाति का भेद न जिसमें,
लिंग रंग का छेद न जिसमें,
निर्धन-धनिक विभेद न जिसमें,
समता-शासन सत्य धर्म की जय हो जय।
शांति-निकेतन सत्य धर्म की जय हो जय॥
करुणा-केतन जैन धर्म की जय हो जय॥
धर्म की जय हो जय॥

— धर्म का प्रासाद विश्वमैत्री की भव्य भित्ति पर टिका हुआ है। अहिंसा और सत्य उसके दो सुदृढ़ खंभे हैं। उसमें वर्ण, वर्ग जाति, संप्रदाय, लिंग, रंग आदि का कोई भेद नहीं है। निर्धन और धनवान का भी उसमें कोई अंतर नहीं है। वह संसार के सभी मनुष्यों को, बल्कि समस्त प्राणियों को समान रूप से अपनी शरण देता है।

मैं मानता हूँ, ऐसा धर्म ही संसार के लिए त्राण बन सकता है। अणुव्रत धर्म का यही स्वरूप जन-जनव्यापी बनाना चाहता है। आवश्यकता है, लोग धर्म का शुद्ध स्वरूप समझकर उसे जीवनगत बनाएं। निश्चय ही उनके जीवन की सार्थकता प्रकट होगी।

गया

१५ दिसंबर १९५९

११० : जीवन-उत्थान का आधार

चरित्र-निर्माण क्यों

मेरे कानों से जब-तब इस आशय की शब्दावली टकराती है कि आज देश में अनाज की कमी है, स्टील की कमी है, अन्यान्य अनेक प्रकार की आवश्यक वस्तुओं की कमी है। मैं इसका प्रतिवाद नहीं करता, पर इतना अवश्य कहता हूँ कि आज देश में सबसे बड़ी कमी अच्छे आदमियों की है। यदि यह कमी पूरी न हुई तो कुछ भी बनने का नहीं है, भले देश को सोने का भी क्यों न बना दिया जाए। इसमें किसी को भी किंचित भी संदेह करने की गुंजाइश नहीं कि जिस योजना को क्रियान्वित करने में सामान्यतः अरबों रुपयों का बजट होता है, वही योजना यदि ईमानदार, नैतिक एवं प्रामाणिक लोगों द्वारा क्रियान्वित होती है तो वह करोड़ों में पूरी हो सकती है, पर कठिनाई तो यही है कि ईमानदार, नैतिक एवं प्रामाणिक व्यक्तियों के हाथों से काम बहुत कम कराया जाता है। इसका ही यह परिणाम है कि करोड़ों के काम में करोड़ों का गबन होता है, धोखा होता है। इस कारण कोई भी योजना अपेक्षित रूप में सफल नहीं हो पाती। मैं मानता हूँ, आज जितना बल दूसरी-दूसरी बातों के विकास पर दिया जा रहा है, उतना यदि चरित्र-निर्माण पर दिया जाए तो बहुत उल्लेखनीय कार्य हो सकता है। आप यह सचाई हृदयंगम करें कि चरित्र-निर्माण जीवन-उत्थान का मूल है। मूल ही नहीं तो पत्ते, फूल और फल कहां से आएंगे? कैसे आएंगे? यदि चरित्र-निर्माण पर ध्यान केंद्रित नहीं होगा, तो जीवन-उत्थान कभी संभावित नहीं है।

अणुव्रत-आंदोलन : चरित्र-निर्माण का अभियान

अणुव्रत-आंदोलन की चर्चा अभी आपने सुनी। यह चरित्र-निर्माण का एक सार्वजनिक व्यापक अभियान है। किसी जाति, वर्ण, वर्ग और जीवन-उत्थान का आधार

संप्रदाय का व्यक्ति इस अभियान के साथ जुड़ सकता है। चरित्र-निर्माण के इस अभियान के माध्यम से हम जन-जन के जीवन-उत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं। मुझे इस बात का तोष है कि जनता इस कार्यक्रम में अच्छी अभिरुचि ले रही है। कुछ वर्षों में ही इस आंदोलन ने अपनी एक पहचान बनाई है। आपसे अपेक्षा है कि आप भी इस अभियान के साथ जुड़ें। इसकी आचार-संहिता संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें, ताकि आपका चारित्रिक पक्ष उज्ज्वल बने, आपके जीवन-उत्थान का मार्ग प्रशस्त बने।

त्याग को सर्वोच्च मूल्य मिले

प्रश्न किया जा सकता है कि राष्ट्र का चारित्रिक पतन क्यों हुआ। यों तो इसके उत्तर में अनेक बातें बताई जा सकती हैं, पर सबसे बड़ा कारण है—धन को अतिरिक्त महत्त्व मिलना। आप देखें, आज सर्वत्र धन की पूछ है। जिसके पास प्रचुर धन है, उसे ऊंचा आसन मिलता है, आदर और सम्मान मिलता है। तब भला उसे अतिरिक्त महत्त्व क्यों नहीं मिलेगा? क्यों नहीं उसके प्रति एक विशेष आकर्षण का भाव पैदा होगा? और जिस चीज के प्रति व्यक्ति के मन में विशेष आकर्षण का भाव होता है, उसे वह येन केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहता है। गलत-से-गलत हथकंडे अपनाने में भी उसे कोई संकोच नहीं होता। यह विकृत मनोवृत्ति जब तक नहीं मिटेगी, तब तक जन-जीवन ऊंचा कैसे उठेगा? हम न भूलें कि भारत की एक विशेष संस्कृति रही है। यहां वैभव सदैव त्याग के चरणों में लुटता रहा है। राजा-महाराजा और चक्रवर्ती सम्राट अकिंचन संतों की चरण-धूलि मस्तक पर लगाकर धन्यता की अनुभूति करते रहे हैं। तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृति में सर्वोच्च स्थान त्याग को प्राप्त रहा है, पर यह कितने खेद की बात है कि उसी भारत में आज यह सांस्कृतिक मूल्य भुलाया जा रहा है! त्याग के स्थान पर धन-वैभव को प्रतिष्ठित करने की भयंकर भूल हो रही है! हमारा कर्तव्य है कि हम त्याग का मूल्य पुनः स्थापित करें। तभी यह राष्ट्र अपना सही गौरव प्राप्त कर सकेगा।

डालमिया नगर

१८ दिसंबर १९५९

१११ : जनता सही मार्ग-दर्शन की प्यासी है

मैं एक पदयात्री हूँ। पदयात्रा मेरा जीवन-व्रत है। पदयात्रा के माध्यम से मेरा देश की जनता से सीधा संपर्क होता है। मैंने अपनी पदयात्राओं में यह बात गहराई से अनुभव की है कि जनता आज भी सच्चे उपदेशों की भूखी है, सही पथ-दर्शन की प्यासी है, बल्कि उसके अनुसार चलने के लिए समुद्यत है, पर कठिनाई यह है कि सच्चे उपदेशकों और सही मार्ग-दर्शकों का अकाल-सा पड़ गया है। इस कारण वह ठीक रास्ते पर नहीं चल पा रही है। यह कमी मुझे बहुत खटकती है, बहुत खलती है। मुझे यह बताने की कोई अपेक्षा नहीं कि यह भारतवर्ष है, जहां ऋषि-महर्षियों ने सदा जनता में सदुपदेश बांटा, उसे सही मार्ग दिखाया, बल्कि उसका पथिक बनाया और राष्ट्र का भविष्य संवारा। आज भारतवासी पथिक तो हैं, पर किस पथ पर उन्हें चलना चाहिए—इस बात से अनजान बने वे चल रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे भटक जाते हैं। इसी का परिणाम है कि उन्हें न सुख मिल रहा है और न शांति ही। मैंने जन-जन के लिए जिस मार्ग का निर्माण किया है और जिस पर चलने की मैं यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रेरणा करता हूँ, वह है—अणुव्रत-आंदोलन। यह एक ऐसा मार्ग है, जिस पर चलने से व्यक्ति का जीवन सुव्यवस्थित एवं स्वस्थ बनता है। वह आपने जीवन में सुख और शांति की अनुभूति करता है। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन में व्याप्त बुराइयों पर सीधा प्रहार करता है। जहां इससे एक तरफ व्यक्ति का जीवन नैतिकता, प्रामाणिकता, ईमानदारी-जैसे मनवोचित गुणों से भावित होता है, वहीं दूसरी ओर समाज का वातावरण भी स्वस्थ बनता है, राष्ट्र का भविष्य भी उज्ज्वल होता है। हजारों-हजारों लोगों ने इस पथ पर पदन्यास कर अपने जीवन को सही दिशा प्रदान की है, सुख और शांति की अनुभूति की है। लाखों-लाखों लोग इससे परिचित हुए हैं। आप भी इस पथ को जानें, समझें और इस पर चरणन्यास करें। मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यह जनता सही मार्ग-दर्शन की प्यासी है

चरणन्यास आपके जीवन के लिए वरदान सिद्ध होगा। आप अपने-आपमें अनिर्वचनीय सुख और शांति की अनुभूति करेंगे, मानव-जीवन की सार्थकता महसूस करेंगे, समाज की स्वस्थता एवं राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में योगभूत बन सकेंगे।

गोपीगंज

२८ दिसंबर १९५९

११२ : व्यापारी सत्य के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ बनें

देश की आर्थिक समृद्धि का एक प्रमुख अंग व्यापारी-वर्ग है। कहना चाहिए कि एक दृष्टि से व्यापारी-वर्ग देश का हृदय है। उच्च शिक्षा प्राप्त न करने पर भी व्यापारियों के पास उल्लेखनीय बुद्धि-वैभव है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि व्यापार के बल पर अंग्रजों ने भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व जमाया था। अनेक कमजोर देशों ने व्यापार के द्वारा अपना आर्थिक विकास किया, इतिहास इस बात का भी गवाह है। ऐसी किंवदंती है कि रावण का राज्य योग्य व्यापारी सलाहकार न होने के कारण ही गया। मैं नहीं जानता कि यह बात कितनी यथार्थ है, पर यह निर्विवाद है कि व्यावहारिक बुद्धिमत्ता में व्यापारी-वर्ग अग्रगण्य है।

आज व्यापारी-वर्ग बदनाम है। इसका कारण? कारण यह कि उसका एकमात्र लक्ष्य अर्थार्जन बन गया है। व्यापारी लोग धर्म, नीति, प्रामाणिकता, ईमानदारी और स्वास्थ्य की उपेक्षा कर सकते हैं, पर अर्थ की नहीं। यदि पाताल में भी अर्थलाभ होने की संभावना हो तो वे सभी प्रकार की कठिनाइयां एवं कष्ट झेलकर वहां भी जाने को तैयार हो जाते हैं। ऐसा प्रतिभासित होता है कि अर्थ-संग्रह का भूत प्रतिपल उन पर सवार रहता है। यही तो कारण है कि वे पारिवारिक ग्राहक एवं सगे भाई के साथ भी धोखाधड़ी कर लेते हैं। सरकार को धोखा देना तो उनके लिए बाएं हाथ का खेल है। कानून बनते ही उसकी पकड़ में न आने का रास्ता खोज निकालते हैं। आम तौर पर राज्यकर्मचारियों के बारे में यह शिकायत सुनने को मिलती है कि वे रिश्वत लेते हैं, पर मैं व्यापारियों से कहना चाहता हूं कि वे अपना आत्मालोचन करें। वे राजकर्मचारियों पर जितना दोष मढ़ते हैं, उतने ही दोषी क्या वे स्वयं नहीं हैं? क्या वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए रिश्वत नहीं देते हैं? क्या वे अपना व्यापार प्रामाणिकता से चलाते हैं?

व्यापारी सत्य के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ बनें

• २६९ •

क्या वे नैतिकता और ईमानदारी का पालन करते हैं? स्थिति तो यह है कि आज व्यापक स्तर पर मिलावट का धंधा चलता है। और तो और, खाद्य पदार्थ भी शुद्ध उपलब्ध नहीं होते। यहां तक कि औषधि-जैसी वस्तु भी इस मिलावट से अछूती नहीं है। ऐसी स्थिति में जनता के स्वास्थ्य एवं समुचित चिकित्सा की क्या आशा की जा सकती है! व्यापारी लोग इस बात पर गंभीरता से चिंतन करें कि क्या अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार से उपार्जित धन सदा उनका साथ निभाएगा। मैं पूछना चाहता हूं कि रोगजन्य स्थूलता की अपेक्षा क्या स्वाभाविक कृशता श्रेष्ठ नहीं है। आप बताएं कि अनैतिकता असत्य, भ्रष्टाचार से उपार्जित धन से पूंजीपति बनने की अपेक्षा क्या नैतिकता, प्रामाणिकता, सत्य आदि की टेक रखनेवाला गरीब ज्यादा अच्छा नहीं है।

मेरी दृष्टि में आज सबसे बड़ी हानि इस बात की हुई है कि व्यापारी-वर्ग का नैतिकता और प्रामाणिकता से व्यापार चलाने के प्रति विश्वास समाप्त हो रहा है। सत्य के प्रति उसकी आस्था डगमगा गई है। अपेक्षा है, व्यापारी लोग सत्य के प्रति दृढ़निष्ठ बनकर व्यवहार में उसका पूरा-पूरा प्रयोग करें। इस प्रयोग से प्रारंभ में भले ही व्यक्ति को कुछ कष्ट उठाना पड़े, पर इतना सुनिश्चित है कि अंततोगत्वा परिणाम मधुर और सुंदर ही आता है। अणुव्रत-आंदोलन के अंतर्गत व्यापारी-वर्ग के लिए कुछ नियम हैं। वे नियम स्वीकार कर व्यापारी लोग जीवन को सही दिशा दे सकते हैं।

११३ : आज का युग और धर्म

धर्म और धर्मस्थान नंदनवन हैं

कहा जाता है कि देवताओं को शांति की आवश्यकता होती है तो वे नंदनवन चले जाते हैं। वहां का वातावरण उन्हें शांति प्रदान करता है, आनंद-विभोर बना देता है। निश्चय ही वह नंदनवन हमारे प्रत्यक्ष नहीं है, पर धर्मरूपी नंदनवन तो बिलकुल प्रत्यक्ष है। उसकी महिमा गाते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है, बल्कि धार्मिक व्यक्ति भी मंगल है। इसी प्रकार धर्म को अजर, अमर और निश्चल बताया गया है।

बंधुओ! जिस धर्म को शास्त्रों में इतना महिमामंडित किया गया है, वह निस्संदेह नंदनवन है। इस नंदनवन में रमण करनेवाला अनिर्वचनीय सुख और शांति का अनुभव करता है। उसका हृदय आनंद से ओतप्रोत बन जाता है।

धर्म ही क्यों, धर्मस्थान भी तो नंदनवन ही है, पर इस संदर्भ में एक बात समझने की है। नंदनवन मात्र वह धर्मस्थान है, जहां वास्तव में ही धार्मिक क्रियाएं चलती हैं। तथाकथित धर्मस्थान नंदनवन कदापि नहीं हो सकते, जहां बाहर तो मोटा-सा धर्मस्थान का साईन बोर्ड लगा रहता हो और अंदर लड़ाई-झगड़ा और खून-खराबा के रूप में अधर्म चलता हो।

विवेक ही धर्म है

प्रश्न है, धर्म का स्वरूप क्या है। *आगमों* में कहा गया है— **विवेगे धम्ममाहिण**। यद्यपि यह बहुत छोटा-सा वाक्य है। मात्र आठ ही अक्षर हैं, पर इस छोटे-से वाक्य में, इन आठ अक्षरों में धर्म का सार समाया हुआ है। विवेक ही धर्म है। धर्म की इतनी सीधी और छोटी कसौटी और क्या होगी! जहां विवेक है, वहां धर्म है। जहां विवेक नहीं

है, वहां धर्म नहीं है। वैसे तो धर्म की कोई मोहर-छाप नहीं होती, उसका कोई चिह्न नहीं होता, तथापि कोई मोहर-छाप और चिह्न माना जाए तो वह एकमात्र विवेक है।

पूछा जा सकता है कि विवेक से क्या तात्पर्य है। **विवेकः पृथगात्मता**—विवेक पृथक्करण का नाम है। किसका पृथक्करण? सत और असत का पृथक्करण। यह क्रिया अच्छी है और यह क्रिया बुरी है, यह बात वाच्य है और यह वाच्य नहीं है, यह तत्त्व ग्राह्य है और यह तत्त्व ग्राह्य नहीं है.....इस प्रकार की पहचान और पृथक्करण विवेक है। जिस व्यक्ति के जीवन में यह विवेक की बात अच्छे ढंग से आ जाती है, वह सहज रूप में धार्मिक बन जाता है। इसके विपरीत खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना आदि जितनी भी आवश्यक क्रियाएं हैं, वे यदि विवेकशून्य हैं तो अधार्मिकता प्रकट होती है। इसलिए अपेक्षित है कि व्यक्ति अपनी विवेक-चेतना जगाए। जिस सीमा तक उसकी यह चेतना जाग्रत होती है, उस सीमा तक उसकी धार्मिकता उजागर हो जाती है।

श्रद्धा का मूल्य

समाज में दो तरह के लोग हैं। एक बुद्धिवादी और दूसरे पारंपरिक विश्वासों को महत्त्व देनेवाले। बुद्धिवादी लोगों का अपना चिंतन होता है। वे केवल परंपराओं या सिद्धांतों की दुहाई से आकृष्ट नहीं होते। वे आकृष्ट होते हैं युक्तिपूर्वक समझाने से, पर उनमें प्रायः धर्म टिकता नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। वे श्रद्धाशून्य बन रहे हैं। श्रद्धा के बिना सम्यक ज्ञान कैसे आएगा? श्रीकृष्ण *गीता* में कहते हैं—**श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः।**

कुछ लोग श्रद्धा और ज्ञान-विज्ञान को परस्पर विरोधी तत्त्व समझते हैं, पर मेरी दृष्टि में यह समझ सही नहीं है। श्रद्धा तो धर्म और विज्ञान के बीच की कड़ी है। मैं मानता हूं, जिस दिन श्रद्धा के माध्यम से धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के निकट आएं, परस्पर जुड़ेंगे, उस दिन विकास की अनेक नई-नई दिशाएं उद्घाटित हो जाएंगी।

अणुबम से आज कौन परिचित नहीं है? उसका आविष्कार इसलिए नहीं हुआ था कि वह लाखों-लाखों प्राणियों का नाश करे, लेकिन वह श्रद्धाहीन व्यक्तियों के हाथों में पड़ गया। इस कारण सारा संसार संत्रस्त हो रहा है। ऐसा कहा जाता है कि अणु का आविष्कारक पागल हो गया

था। जीवन के उत्तरार्द्ध में उसे इस आविष्कार पर अत्यंत अनुताप हुआ। उसने कहा—‘मैंने संसार में आकर क्या किया! मुझे ऐसा अनुमान नहीं था कि आगे चलकर मेरा यह आविष्कार संसार के लिए अभिशाप बन जाएगा।.....’ और इस दुःखात्मक संवेदना के साथ उसने प्राण त्याग दिए।

अणुबम की विनाशकारी लीला संसार देख चुका है। कोई भी अपने राष्ट्र में ऐसा विनाश नहीं चाहता। इसलिए संसार के किसी कोने में एक छोटे-से राष्ट्र में भी इससे संबद्ध कोई घटना घटित होती है तो सभी राष्ट्र चौंक उठते हैं। एक राष्ट्र की घटना से सारा संसार प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रभावित होता है। आशंकित हो उठते हैं कि न जाने कब क्या घटित हो जाए। इसलिए सर्वत्र भय और आतंक का वातावरण बना हुआ है।

उज्जयिनी में एक व्यक्ति अरघट्ट चला रहा था। संयोगवश माला कुएं में गिर पड़ी। वह अत्यंत व्यथित हुआ। उसकी व्यथा चेहरे पर उतर आई। उसे इस स्थिति में देख किसी ने पूछा—‘भाई! क्या बात है? इतने व्यथित क्यों हो?’ उसने कहा—**माला पतिता।** पर प्रश्नकर्ता गलत समझ गया। उसने समझा—मालव लोग यहां आ गए हैं। उसने सुन रखा था कि मालव जाति आक्रमणकारी और खूंखार होती है। उसके मन में आकस्मिक रूप से भय बैठ गया और वह बिना कुछ स्पष्टीकरण लिए वहां से भाग खड़ा हुआ। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास, दूसरे व्यक्ति से तीसरे व्यक्ति के पास, तीसरे से चौथे व्यक्ति के पास—इस क्रम से यह बात आगे से आगे पहुंचती हुई चारों ओर बात फैल गई—**मालवाः पतिता।** देखते-देखते सारी उज्जयिनी नगरी में आतंक छा गया। परिणामतः अनेक व्यक्तियों की भय के अतिरेक में अकाल मृत्यु हो गए। बहुत-से नगरी छोड़ कहीं अन्यत्र सुरक्षित स्थान पर चले गए।

बंधुओ! ठीक यही दशा आज के मानव-समाज की बन रही है। जन-जन के मन में अणुबम का भय बैठ गया है। वैज्ञानिक संचार-साधनों के माध्यम से किसी घटना की सूचना आज कुछ ही समय में सारे संसार में पहुंच जाती है और भय बढ़ जाता है। प्रासंगिक तौर पर एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि अणुबम विध्वंसकारी है, इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञान बुरा है। विज्ञान अपने-आपमें बहुत ऊंचा तत्त्व है। वह तो नए-नए सत्यों के उद्घाटन की प्रक्रिया है, पर आप जानते हैं

कि अच्छी-से-अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग संभव है। विज्ञान के साथ भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। वह श्रद्धाहीन लोगों के हाथों में पड़ गया है। वे उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। इस कारण वह बदनाम हो रहा है। इसलिए विज्ञान को भला-बुरा कहने की अपेक्षा उसे श्रद्धाहीन व्यक्तियों से बचाने की जरूरत है। यही बात धर्म के लिए भी है। श्रद्धाशून्य बौद्धिक लोगों के हाथों धर्म का कोई हित होनेवाला नहीं है। वे धर्म के प्रति गलत वातावरण निर्मित करते हैं। बहुत सही तो यह है कि धर्म टिकता ही श्रद्धाशील मानस में है। श्रद्धाशीलता के बिना उसके टिकने का आधार ही नहीं बनता। यह प्रसन्नता की बात है कि युग अब एक नई करवट ले रहा है। मैं बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहा हूँ कि बौद्धिक वर्ग श्रद्धा का मूल्य समझने लगा है। इससे भी आगे वह श्रद्धा के मूल्य को उसकी सही प्रतिष्ठा दिलाने के लिए प्रयत्नशील है।

धर्मोपासना का उद्देश्य

दूसरी कोटि के लोग परंपरावादी होते हैं। उनकी मनः-स्थिति बड़ी विचित्र होती है। वे धर्म का मर्म समझने का प्रयत्न ही नहीं करते। ऐसी स्थिति में उनके जीवन में धर्म आए भी कैसे? उन्होंने समझ रखा है कि दिन में भले कितना ही पाप करें, एक बार मंदिर में गए, साधु-संतों के चरणों पर शिर रगड़ा कि सारा पाप समाप्त। बंधुओ! यह कितनी बड़ी विडंबना है! मैं मानता हूँ, भले कोई व्यक्ति मंदिर जाए, पूजा-पाठ करे, साधु-संतों की संगत करे, सामायिक-पौषध करे, पर जब तक धर्म का सही रूप उसके जीवनगत नहीं होता, उसका कल्याण असंभव है। यदि उपासना इसलिए की जाती है कि भविष्य में पाप या दुष्कर्म ज्यों-का-त्यों चलता रहे तो यह सर्वथा अनुचित है। यह दृष्टिकोण धर्म के अनुकूल नहीं, अपितु धर्म को अपने स्वार्थ के अनुकूल बनाने का है। ऐसी उपासना से आत्मोदय का उद्देश्य कैसे पूरा हो सकता है? दवा रोग मिटाने के लिए होती है, पर जिस व्यक्ति के समक्ष यह लक्ष्य नहीं होता, वह तो दवा इसलिए खाता है कि जितना भी खाया जाए, वह पच जाए। ऐसी स्थिति में उसका रोग कैसे मिटे?

वैद्य के पास एक रोगी आया। वैद्य ने नब्ज देखकर दवा बता दी। साथ ही परहेज बताते हुए कहा—‘तेल, गुड़, खटाई और मिठाई मत खाना।’ रोगी बोला—‘वैद्यजी! मुझे हलुआ खाने का बहुत शौक है।

आपकी अनुमति हो तो खा लूं।' वैद्य ने कहा—'न खाना ही अच्छा है, पर तुम्हारी इतनी इच्छा है तो कभी-कभार थोड़ा-सा खा लेना।' हलवे की छूट मिलते ही रोगी ने दूसरी इच्छा और व्यक्त कर दी। बोला—'वैद्यजी! हलुवे की तरह ही मुझे बड़े खाने का भी अत्यधिक शौक है। आप कह दें तो थोड़े बड़े खा लूं।' वैद्य ने पूर्व भाषा में इसकी भी स्वीकृति दे दी, पर रोगी यहीं न रुका। वह रबड़ी, आइस्क्रीम आदि अनेक पदार्थों के लिए आगे से आगे पूछने लगा। वैद्य को झुंझलाहट आ गई। वह बोला—'जाओ, मेरा सिर मत खाओ, शेष सब-कुछ खा लेना।'

धर्म के क्षेत्र में आज ऐसी-सी ही स्थिति देखने में आ रही है। धर्म के वास्तविक फलित—आत्मविशुद्धि की बात भुलाई जा रही है। लोग धार्मिक उपासना इसलिए करते हैं कि उनका भ्रष्टाचार, शोषण, चोर-बाजारी, असत्याचरण आदि पापकारी प्रवृत्तियां धड़ल्ले से चलती रहें। सचमुच यह बहुत बड़ी विडंबना है। इससे धर्म बदनाम होता है। मैं परंपरावादी लोगों से कहना चाहूंगा कि वे अब एक नया मोड़ लें। वे धर्म की आत्मा तक पहुंचने का प्रयत्न करें। धर्म का मर्म हृदयंगम करने की मानसिकता बनाएं। उसे जीवन-व्यवहार में उतारने की दिशा में प्रस्थान करें। उपासना को केवल रूढ़ि के रूप में नहीं, अपितु आत्म-विशुद्धि की प्रेरणा के रूप में अपनाएं। उसे पाप-प्रक्षालन के आश्वासन के रूप में नहीं, अपितु पापकारी प्रवृत्तियों से मुक्त होने के मार्ग के रूप में स्वीकार करें। इससे उन्हें अपनी उपासना का सही-सही लाभ मिल सकेगा। वे अपने जीवन में शांति और पवित्रता की अनुभूति कर सकेंगे।

बुद्धिवादी लोगों को पुनः इस बात के लिए प्रेरित करता हूं कि वे श्रद्धा की शक्ति और मूल्य समझते हुए श्रद्धाशील बनें। यदि ऐसा होता है तो बुद्धिवादी और परंपरावादी लोगों के बीच पड़ी खाई अपने-आप पट जाएगी। धर्म का निखरा रूप जन-जन के सामने आएगा।

११४ : अणुव्रती बनने का अधिकारी

आज के बुद्धिवादी वर्ग को धर्म के नाम से एक चिढ़-सी है। धर्म में उसे कोई रस नहीं है। कहा जाता है कि इसका कारण आधुनिक शिक्षा, विज्ञान व भौतिक प्रगति है। पर मैं इन्हें प्रमुख कारण नहीं मानता। मेरी दृष्टि में इसका कारण वे तथाकथित धार्मिक हैं, जिन्होंने धर्म को रूढ़ि, बाह्याचार, दंभ और स्वार्थ-साधना के रूप में प्रयुक्त किया। इस कारण धर्म का सत्य स्वरूप नीचे दब गया और उसके नाम पर अधर्म उभरने लगा। तब भला उसमें निष्ठा कैसे टिकती? आज पहली आवश्यकता है कि धर्म का सही रूप लोगों के समक्ष रखा जाए। किसी को गलतफहमी न हो, इसलिए एक बात स्पष्ट कर दूं। धर्म से मेरा आशय किसी संप्रदायविशेष से नहीं है, बल्कि धर्म के सच्चारित्र्यमूलक मौलिक आदर्शों से है। देश में लाखों साधु-संन्यासी हैं, धर्म-संस्थान हैं, पर धर्म का सही रूप लोगों के सामने नहीं आ रहा है। उन पर यह उत्तरदायित्व है कि वे व्यापक दृष्टिकोण लिए धर्म का सही स्वरूप लोगों के सामने रखें। राष्ट्र का नैतिक धरातल उन्नत बनाने के लिए यत्नशील हों।

अणुव्रत-आंदोलन जन-जन के चारित्रिक जागरण का उद्देश्य सामने रखकर चलनेवाला एक अभियान है। धर्म के अहिंसा, सत्य आदि उन मौलिक आदर्शों का इसमें समावेश किया गया है, जो क्या जैन, क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या मुसलमान, सबको समान रूप से मान्य हैं, सबके लिए समान रूप से उपयोगी हैं। वह ग्रंथों में रहे धर्म-तत्त्व जीवन में व्याप्त देखना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी संप्रदाय, जाति व वर्ग का क्यों न हो, अणुव्रती बनने का अधिकारी है। शर्त एक ही है कि उसकी जीवन-शुद्धि में निष्ठा हो।

११५ : मानव सुखी कब

इंसान से गलती होती है, लेकिन वह अपने को हीन, दीन और क्षीण न समझे। तत्त्वतः कोई भी मनुष्य हीन नहीं होता। हीनता है—उसकी बुराइयां, दुष्प्रवृत्तियां। मैं पूछना चाहता हूं, जब उसके मुंह एक और हाथ दो हैं, तब वह हीन क्यों है। जब उसकी बुराइयां समाप्त हो जाएंगी, वह परमात्मा के समकक्ष बन जाएगा। वास्तव में मनुष्य तो परमात्मा की ही शकल है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह गर्वोन्मत्त हो जाए। अपने-आपको बड़ा मानना भी उतना ही खतरनाक है, जितना अपने-आपको हीन-दीन-क्षीण मानना। यह कितनी दुःखद बात है कि मनुष्य दूसरों की गलतियां देखने के लिए सहस्राक्ष बन जाता है और अपनी कमियों के लिए प्रकृति से प्राप्त दो आंखों का भी पूरा उपयोग नहीं करता, बल्कि उन्हें मूंद लेता है। आप निश्चित मानें, केवल गंगा में स्नान करने, भगवान के पैरों पर जा फूल चढ़ाने और मस्जिद में जा नमाज पढ़ने से पापों का नाश नहीं होगा। उसके लिए तो आपको अपने द्वारा किए गए अपराधा सच्चे हृदय से मंजूर करना आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि भविष्य में उन दुष्प्रवृत्तियों की आवृत्ति न हो।

मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। वह सुख चाहता है। अपने लिए, परिवार के लिए और बाल-बच्चों के लिए। इसके लिए वह डाका डालता है, लूट-खसोट करता है, और हत्याएं आदि करता है, लेकिन यह एक शाश्वत तथ्य है कि दूसरों को दुःख देकर कोई भी व्यक्ति स्वयं सुखी नहीं बन सकता। यह तो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से दुःख को ही आमंत्रण है। सुखी बनने के लिए दूसरों को दुःख देना छोड़ना होगा, दूसरों का सुख लूटना छोड़ना होगा।

११६ : धर्म और समाज

धर्म व्यक्तिसापेक्ष है या समाजसापेक्ष—यह आज का विचारणीय विषय है। धर्म और समाज दो शब्द हैं, दोनों की व्याख्याएं भी स्वतंत्र हैं। धर्म शब्द धृ धातु में ङ प्रत्यय लगने से बना है। धारणात् धर्मः वा ध्रियते इति धर्मः इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से धर्म आधार और आधेय दोनों है। सत्प्रवृत्तियां धारण करने से आधार और शुद्ध आत्मा में रहने से आधेय है।

धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। जहां धर्म शब्द का अर्थ स्वभाव किया जाए, वहां सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति दोनों ही धर्म है। असत्प्रवृत्ति बुरे आदमी का धर्म बन जाती है और सत्प्रवृत्ति अच्छे आदमी का धर्म। क्रोधी का स्वभाव है—गाली देना तथा शांत व्यक्ति का स्वभाव है—शांति रखना। इस माने में गाली देना और शांति रखना दोनों ही बातें धर्म है।

आचरण के इस क्षेत्र में हम धर्म शब्द का जो प्रयोग करते हैं, उसका अर्थ स्वभाव नहीं है। इस क्षेत्र में हम आत्मशुद्धि के साधन को धर्म कहते हैं। जिस आचार और प्रवृत्ति से जीवन शुद्ध बनता है, वह धर्म है।

इस परिभाषा से दोनों में अंतर हो गया। पहली परिभाषा के अनुसार जहां सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति दोनों ही धर्म है, वहीं दूसरी परिभाषा के अनुसार मात्र सत्प्रवृत्ति धर्म है। कोई कह सकता है कि तब तो धर्म व्यापक से अव्यापक बन गया। बात सर्वथा गलत तो नहीं है। व्यापक संसार में से अगर हम एक हिंदुस्तान को लेते हैं तो वह अव्यापक-सा लगता है, पर दूसरी दृष्टि से वह भी व्यापक है। उसमें कितने राज्य हैं, एक राज्य में कितने शहर हैं, एक शहर में कितनी सड़कें हैं, एक सड़क पर कितने मोहल्ले हैं, एक मोहल्ले में कितने

● २७८ ● ज्योति जले : मुक्ति मिले

मनुष्य हैं, कितनी जातियां हैं। इस दृष्टि से उसे अव्यापक नहीं कहा जा सकता। यही बात धर्म की है। मात्र सत्प्रवृत्ति को धर्म मानने से धर्म अव्यापक नहीं बनता।

धर्म की आवश्यकता

धर्म जीवन में क्यों आवश्यक है, इस प्रश्न का समाधान महर्षियों और साधकों की वाणी में मिलता है। संसार में दुःख था, है और रहेगा, पर मनुष्यों को दुःख इष्ट नहीं है। अतः वे इसे मिटाने का प्रयत्न करते हैं। आधि भौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार के दुःखों का नाश सत्प्रवृत्तिरूप धर्म से होता है। इसलिए धर्म की आवश्यकता होती है। यदि संसार में दुःख नहीं होता तो दुराचारी व्यक्ति अपनी बुराइयां कभी नहीं छोड़ते। दुःख होता है, इसलिए वे बुराइयां छोड़ते हैं।

धर्म मनुष्य को दुःख-समुद्र से पार उतारता है। संसार एक अर्णव है। उसका पार पाने के लिए मनुष्य-शरीर नौका है और जीवन नाविक है। नाविक यदि नशेड़ी होता है तो वह नाव को पार नहीं लगा सकता।

एक नाविक भंग पीकर नाव में बैठा। नशे में उसने सारी रात नाव चलाई, पर वह वहीं रहा। सुबह होते ही उसकी स्त्री पानी लेने नदी पर आई। उसे देख नाविक ने पूछा—‘तू यहां कैसे आ गई?’ उसे तो यह विश्वास था कि मैं गांव से बहुत दूर आ गया हूं।’ स्त्री ने कहा—‘मैं तो यहां सदा ही आती हूं।’ यह सुनते ही वह संभला। देखा तो उसने पाया कि नाव का रस्सा खुला ही नहीं है। वह बहुत शरमाया।

सचमुच नशे में मनुष्य बेभान और पागल बन जाता है। जब जीव रूपी नाविक मोह के नशे में बेभान और पागल बन जाता है, तब वह भटकता है। इसलिए स्वस्थ नाविक की तरह आत्मा भी शुद्ध चाहिए। यदि जीव रूपी नाविक स्वस्थ होगा तो सत्प्रवृत्ति की धारा उसे भव-समुद्र से पार लगा देगी। चूंकि सत्प्रवृत्ति धर्म है, इसलिए दुःख-समुद्र से पार उतरने के लिए धर्म की आवश्यकता होती है।

धर्म का स्थान

धर्म न तो खान से निकलता है और न वह बाड़ी में ही पैदा होता है। वह न गोदाम में रखा जाता है, और न मंजूषा में ही। न वह बाजार में मिलता है और न घर में ही। उसका एकमात्र स्थान शुद्ध-पवित्र आत्मा है। भगवान महावीर ने कहा—**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ**। यहां यह

जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म से आत्मा पवित्र बनती है या पवित्र आत्मा के द्वारा धर्म होता है। नींव मकान का हिस्सा ही है। मकान बन जाने पर नीचे के भाग को नींव और ऊपरी भाग को मकान कहते हैं। वैसे ही अंशतः पवित्र आत्मा को नींव और धर्म को मकान समझना चाहिए। धार्मिकों की वृत्ति पवित्र होनी चाहिए। *मनुस्मृति* में भी कहा गया है—**न धर्मो धार्मिकैर्विना।** धार्मिक के बिना धर्म नहीं हो सकता।

धर्म का संबंध समाज से भी है

धर्म व्यक्तिगत तत्त्व है। जो व्यक्ति धर्म का आचरण करता है, उसका फल उसे ही मिलेगा। पेट रोटी खानेवाले का भरेगा, दूसरे का नहीं। बहुत-से व्यक्तियों का समूह समाज है। धर्म व्यक्ति-व्यक्ति से संबद्ध होने से समाज से भी संबद्ध हो जाता है। हालांकि व्यक्ति की क्रिया अलग होती है और समाज की क्रिया अलग, तथापि धर्म का संबंध दोनों से है।

समाज के लिए मर्यादा आवश्यक होती है। बिना मर्यादा का समाज बिना नाविक की नाव के समान है। मर्यादाविहीन समाज समाज न रहकर समज बन जाता है। पशु आदि के समूह को समज कहते हैं। समाज और समज में केवल एक मात्रा का अंतर है, पर अर्थ में दिन और रात का-सा अंतर है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक स्थान पर कहा है—‘एक मात्रा के प्रमाद से सखे! मेरा क्षीरसिंधु क्षार-सिंधु हो गया।’ आज समाज की क्या दशा है, यह आपसे अज्ञात नहीं है। यद्यपि सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से अनेक प्रकार के नियम बनते हैं, पर आश्चर्य होता है कि उन्हें पालनेवाले कम होते हैं। नियम थोपे जाना भी उचित नहीं है। थोपने से उनका पालन नहीं होता। उसके लिए हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

धर्म का स्वरूप

प्रश्न है कि धर्म का स्वरूप क्या है। इस संदर्भ में मैंने एक गीत में लिखा है—

जातिवाद से अर्थवाद से व्यर्थवाद से दूर।
चाटुकारिता बलात्कारिता नहीं उसे मंजूर।
धर्म हृदय-परिवर्तन है, फिर क्या निर्धन-धनवान्।
लो लाखों अभिनंदन आत्म-विजय का दो वरदान॥

धर्म जातिवाद के बंधन से बंधा हुआ नहीं है। वह सार्वभौम और सार्वजनीन है। वह अर्थ के प्रपंच से भी दूर है, क्योंकि अर्थ तो सुविधा का साधन है और धर्म आत्मशुद्धि का। बलप्रयोग में भी धर्म नहीं है। यदि जबरदस्ती में धर्म होता तो सबसे बड़ी धार्मिक पुलिस बनती। समाज के सभी कार्य धर्म नहीं होते, पर उन पर धर्म का प्रभाव रहता है। समाज में लूट-खसोट, चोरी आदि सभी बातें चलती हैं, पर वे कार्य धर्म नहीं हैं। धर्म तो वह है, जिसके आचरण से जीवन पवित्र बने।

युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा—‘कृतयुग में धर्म का क्या प्रभाव था?’

भीष्म पितामह ने उत्तर दिया—

न वै राज्यं न राजासीत्, न च दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

— उस समय न राज्य था और न राजा, न कोई दंड था और न कोई दंड देनेवाला। सारी प्रजा धर्म से ही अनुशासित थी। उसी से परस्पर रक्षा होती थी।

लेकिन काल-क्रम से धीरे-धीरे यह सहज धर्माचार या धर्माचरण की स्थिति समाप्त हो गई और जन-जीवन अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त होता चला गया। महाभारत में लिखा है कि श्रीकृष्ण के समय में गणराज्य था, पर सदस्य परस्पर लड़ते थे। कई सदस्य तो श्रीकृष्ण की बात तक भी नहीं मानते थे। एक बार नारद आए। श्रीकृष्ण ने अपनी समस्या उनके सामने रखी। नारद ने कहा—

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां, नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।

नान्यत्र धनसंत्यागाद्, गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥

— गण बुद्धि और क्षान्ति के बिना नहीं चल सकता, इंद्रियों के निग्रह के बिना नहीं चल सकता, धन-त्याग के बिना नहीं चल सकता। ये सब बातें प्राज्ञ ही कर सकता है। अतः गण प्राज्ञावस्थित होता है।

इससे स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में धर्म के आचरण के बिना सफल नहीं हो सकता। अपेक्षा यही है कि मनुष्य धर्म का तत्त्व समझे और जीवन में उसका आचरण करे।

११७ : शांति का स्रोत

आज जनता असहाय है। राजनीतिक नेताओं से उसे त्राण नहीं है, उनसे उलटी उसे निराशा ही महसूस हो रहा है। वह एक असहाय की भांति त्राहि-त्राहि कर रही है। मनुष्य शांति का श्वास नहीं ले पा रहा है, आनंद का उसे आस्वाद नहीं मिल पा रहा है। यह एक बड़ा खेद का विषय है, परंतु शांति मिले भी तो कहां से? मानव ने पथ ही अशांति का चुन लिया है। यदि बाह्य उपकरणों में ही शांति होती तो अमेरिका-जैसा साधन-संपन्न और धनी राष्ट्र कभी अशांत नहीं होता। शांति का अजस्र स्रोत व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा के अंतर में निहित है। उसका उद्गम स्थल बाह्य उपकरण नहीं, हमारी आत्मा है। इस उद्गम-स्थल पर एक आवरण छाया हुआ है, जो कि आत्मान्वेषण करने से हटेगा। आत्मान्वेषण का अर्थ है—अपने-आपका अपने-आप निरीक्षण। जब आत्मान्वेषण होगा तो मनुष्य स्वभावतः स्वयं को दुष्प्रवृत्तियों से विमुख बना सद्प्रवृत्तियों से जोड़ देगा। मैं बहुधा कहा करता हूं कि मनुष्य दूरवीक्षण यंत्र न बनकर दर्पण बने। क्यों? यह इसलिए कि दूरवीक्षण में तो दूर का दृश्य दिखाई देता है, लेकिन अपना दृश्य, अपना प्रतिबिंब और अपनी आकृति तो दर्पण में ही देखी जा सकती है। जब मनुष्य अपना जीवन इतना अनैतिक देखेगा तो सहसा उसके हृदय में एक कंपन पैदा होगा और इस कंपन से ही उसके जीवन में एक नया परिवर्तन प्रारंभ हो जाएगा।

व्रत समुद्र की तरह अपार है। समुद्र को उठाकर उसके पानी का उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके लिए मानव को पानी की सीमा कर घड़े का उपयोग करना होगा; और तभी वह पानी उसके लिए उपयोगी बन पाएगा। यही स्थिति व्रत की है। व्रत अपने-आपमें बहुत ही व्यापक और कल्याणकारी तत्त्व है। उपयोग की दृष्टि से अणुव्रत और महाव्रत—ये दो विभाग कर लिए जाते हैं। जब व्यक्ति अणु पर आ

जाएगा तो शनैः-शनैः उसकी गति पूर्ण की ओर विकास करने की होगी और इसी क्रम में चलते-चलते वह एक दिन अवश्य महाव्रती बन जाएगा।

११८ : भारतीय संस्कृति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति अध्यात्म और संयम की संस्कृति है। यहां की अंतश्चेतना वैभव तथा संपदा की पर्वतमालाओं के आगे नहीं झुकी। वह झुकी संयम के आगे, त्याग के आगे, तपस्या के आगे। उसे हिंसा नहीं झुका सकी। अहिंसा के सामने उसने स्वयं आत्मसमर्पण किया। भारतीय संस्कृति त्रिवेणी है। वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीनों धाराओं से वह निष्पन्न होती है, जिसमें कि भौतिकवाद के प्रति स्वाभाविक पराङ्मुखता है, पर उसी संस्कृति में पले लोगों का जीवन आज जरा परखें तो सही। आप पाएंगे कि भौतिकवाद के प्रति उनकी कितनी आसक्ति है। यह भारतीयता का अक्षम्य हास है। भारतीय यदि आज भी अपने को विनाश से बचाना चाहते हैं, तो चेतें। आज संसार में एक ओर विध्वंस अपनी विषैली जिह्वा बाहर निकाले संसार को डस लेने के लिए तत्पर है, अणुबम, उद्वजनबम उसी की तो पूर्व सूचना है तो दूसरी ओर निर्माण उससे जूझना चाहता है। इस ध्वंस और निर्माण की टक्कर में भारतीय किस ओर जाएं, यह उन्हें सोचना है। हिंसा, हत्या, क्रूरता—ये विध्वंस के साधन हैं। क्या भारतीय मानस में इनके लिए स्थान होगा? मैं सोचता हूं, बहुत-कुछ खो चुकने पर भी इतने नीचे स्तर तक भारतीय चेतना नहीं पहुंची है। उसका रहा-सहा सत्त्व भी उसे ऐसा करने से उबारेगा, क्योंकि भारतीयता की रग-रग में यह नाद रमा है कि वैर से वैर बढ़ता है, हिंसा हिंसा को बढ़ाती है। फिर इनके माध्यम से शांति पाने का यत्न किया जाए, क्या यह विवेक का दिवालियापन नहीं है? भारत निर्माण की ओर आगे बढ़ेगा, जीवन-निर्माण की ओर।

मैंने सोचा—जीवन-निर्माण का सुगम मार्ग लोगों को मिले। लोगों का जीवन कैसा है, इस पर मैंने बारीकी से ध्यान दिया। वह बुराइयों और दुर्व्यसनों से जर्जर दीखा। उनके प्रतिकार के लिए भारतीय संस्कृति और दर्शन के मूल बीज—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि के आधार पर

मैंने कुछ ऐसे छोटे-छोटे नियमों की संकलना की, जो व्यावहारिक जीवन में शुद्धता, सात्त्विकता और प्रामाणिकता ला सकें। व्रतों या नियमों का बहुत बड़ा महत्त्व है। ये जीवन-वृत्तियों में नियमन लाते हैं तथा इच्छाएं सीमित बनाते हैं। इससे जीवन सत्त्व-संपन्न बनता है। यह संकलना अणुव्रत-आंदोलन के नाम से जानी जाती है।

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि आज परिस्थितियां प्रतिकूल हैं। जब वे अनुकूल बन जाएंगी, तब हम व्रत ग्रहण करेंगे। यह सोच उनकी आत्म-दुर्बलता का परिचायक है। अनुकूल स्थिति में तो हर-कोई वैसा कर सकता है। विशेषता तो उसकी है जो विपरीत परिस्थितियों और कठिनाइयों के बावजूद मार्ग पर चलता जाए।

११९ : अहिंसा-दिवस का अभिप्रेत*

यह विश्व-इतिहास का एक अनूठा उदाहरण है कि शक्तिशाली राष्ट्रों के कर्णधार निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव करें। शस्त्र-बल के बिना भला राजसत्ता का अस्तित्व ही क्या? पर स्थिति कुछ भिन्न है। शस्त्र इतने बढ़ गए हैं कि आज वे राजसत्ता के प्रहरी हैं और कल उसी के लिए उनके शमशान बन जाने की संभावना प्रस्तुत है।

हिंसा के साधन चरम सीमा तक पहुंचे हैं, तब उनको समूल उखाड़ फेंकने की बात उठी है। निकिता ख्रुश्चेव का प्रस्ताव अभी-अभी लोगों ने सुना ही है। यह अहिंसा की प्रतिध्वनि नहीं है। इसमें आपसी भय बोल रहा है। अहिंसा का आनंद तब मिलता है, जब उसका स्वतंत्र मूल्य समझ में आ जाए। परिस्थिति की बाध्यता के बिना हिंसा त्यागने में जो प्रकाश है, वह बाध्यता की स्थिति में नहीं है; और यह भी तथ्य है कि हिंसा के साधनों और उत्तेजना देनेवाली परिस्थितियां समाप्त किए बिना अहिंसा का विस्तार नहीं होता।

सामाजिक जीवन अहिंसा के अनुकूल हो—उसमें संग्रह, विलास और भोगवृत्ति कम हो, सामाजिक परंपराएं आर्थिक दबाव से झुकी हुई न हों तो हिंसा को उग्र होने का अवसर नहीं मिलता।

कहीं आर्थिक वैषम्य कम हुआ है तो शस्त्रीकरण बढ़ा है, कहीं आर्थिक प्रचुरता हुई है तो भोग-विलास बढ़ा है। ये दोनों ही अहिंसा के लिए अनुकूल परिस्थितियां नहीं हैं।

अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य है कि ऐसी परिस्थिति का निर्माण हो, जिससे न भोग-वृत्ति विस्तार पाए और न शस्त्रों की बाढ़ आए, पर जनता का कदम अहिंसा की ओर आगे बढ़े।

*अणुव्रत-अहिंसा-दिवस के उपलक्ष्य में प्रदत्त संदेश।

अहिंसा-दिवस को एक प्रथा के रूप में न मनाया जाए, किंतु प्रतिवर्ष ऐसा प्रयत्न किया जाए, जिससे कि जन-साधारण को नया मार्ग सूझे, नया मोड़ मिले।

जो अणुब्रती हैं, अणुब्रत-आंदोलन के प्रति जिनकी सहानुभूति है, वे सब इस अग्रिम वर्ष में परंपराओं के कारण पड़नेवाला आर्थिक दबाव कम करने की बात जन-मानस में उतारें। मैं समझता हूँ कि यह छोटा-सा प्रयत्न भी अहिंसा के विकास में बहुत सहायक हो सकेगा।

१२० : प्रकाश की आवश्यकता

सास ने घर से बाहर जाते हुए बहू से कहा—‘मैं बाहर जा रही हूँ। पीछे से अंधेरा घर में प्रवेश न कर जाए—इसका ध्यान रखना।’

बहू ने नम्रतापूर्वक सास का निर्देश स्वीकार किया और अपने काम में लग गई।

संध्या हुई। सूर्य अस्ताचल पर पहुंच चुका था। धीरे-धीरे अंधेरे ने अपने पैर फैलाने प्रारंभ किए और बहू के देखते-देखते वह घर में प्रवेश करने लगा। बहू ने अपने हाथ में लाठी उठाई और उसे पीटने लगी, पर वह तो जाने का नाम ही न लेता था। उलटा ज्यादा बढ़ने लगा। बहू ने बहुत जोर लगाया, पर ज्यों-ज्यों रात बीतती गई, त्यों-त्यों अंधेरा भी बढ़ता ही गया। आखिर वह पीटते-पीटते हार गई और थककर घर में जाकर एक ओर बैठ गई।

सास वापस आई और उसने देखा कि घर में अंधेरा-ही-अंधेरा छा रहा है। उसने यह भी देखा कि बहू रुआंसी-सी होकर एक ओर बैठी है। उसने बहू से पूछा—‘बहू! एक ओर क्यों बैठी हो? और देखो, यह अंधेरा तो घर में आ गया, इसे तुमने घर में कैसे आने दिया? मैंने इसे घर में आने देने के लिए तुमसे मना किया था।’

बहू थकी-हारी तो थी ही, फिर उसने सास के ये वचन सुने तो वह रोने लगी और रोती-रोती ही बोली—‘आपने मुझे यह क्या काम संभला दिया! मैं तो इस अंधेरे को पीटते-पीटते हार गई, पर यह तो आखिर घर में आकर जम ही गया।’

सास बहू को पुचकारती हुई बोली—‘बेटी! रोओ मत। जाओ, दियासलाई लाओ और दीपक जलाओ। अंधेरा अपने-आप भाग जाएगा। उसे भगाने के लिए, उसका नाश करने के लिए उसे पीटने की आवश्यकता नहीं है। बस, प्रकाश की आवश्यकता है।’

● २८८ ● ————— ज्योति जले : मुक्ति मिले

यह एक छोटा-सा उदाहरण है, पर यह अणुव्रत-भावना को बहुत ही स्पष्ट करता है। आज लोग बुराइयां मिटाने के लिए अनेकविध कार्यक्रम बनाते हैं, पर जब तक मानव की आत्मा को प्रकाशित नहीं किया जाएगा, तब तक वे कभी मिटनेवाली नहीं हैं।

अतः बुराइयां मिटाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि पहले मानव की आत्मा को प्रकाशित किया जाए और उसे सही अर्थ में मानव बनाया जाए। फिर बुराइयां तो अपने-आप मिट जाएंगी। यही काम अणुव्रत-आंदोलन करना चाहता है और कर रहा है।

१२१ : व्यापक मैत्री का वातावरण निर्मित हो*

विश्व के दो बड़े राजनीतिक व्यक्तियों का यह मिलन इस युग की एक ऐतिहासिक घटना होगी। आणविक अस्त्रों की विभीषिकाओं से संत्रस्त संसार इस मिलन-प्रसंग को सुदीर्घ विश्व-शांति की अपेक्षा लिए देख रहा है। जाति, धर्म व राष्ट्र की अपेक्षा में मानव-जाति के सार्वभौम हित सर्वोपरि हैं। चिरस्थायिनी विश्व-शांति का प्रादुर्भाव हो सकता है, बशर्ते कि अवगणना न हो। आज हिंदुस्तान व पाकिस्तान के बीच कश्मीर की समस्या है, साम्यवादी चीन व राष्ट्रवादी चीन के बीच फारमोसा की समस्या है, अमेरिका व रूस के बीच वर्ल्डन की समस्या है। ऐसी और भी अनेक समस्याएं अंतरराष्ट्रीय रंगमंच पर हैं और आए दिन नई भी खड़ी होती रहती हैं। ये समस्याएं न सुलझें व इनके सुलझने में विलंब हो तो प्रत्येक देश के निजी हितों में विरोधाभास होगा, पर युद्ध के द्वारा इन समस्याओं को सुलझाने में सभ्यता, संस्कृति व मानवता के साथ समग्र विश्व विनाश के खतरे तक पहुंच सकता है। अमेरिका और रूस—इन दो देशों की मैत्री ये संभावित स्थितियां बहुत दूर तक टाल सकती है और निरंतर चलनेवाले शीतयुद्ध से उत्पन्न भय और तनाव वातावरण सुधार सकती है। आशा है, इस मिलन-प्रसंग से दोनों देश मैत्री की दिशा में आगे बढ़ेंगे।

अणुव्रत-आंदोलन अंतरराष्ट्रीय तनाव कम करने और मानव-मानव के मन में मैत्री का चिंतन जाग्रत करने के लिए एक योजना प्रस्तुत करता है। उसका हार्द है, हर वर्ष जनवरी के प्रथम सप्ताह में रविवार के दिन नए वर्ष के उपलक्ष्य में सभी राष्ट्रों में विराट पैमाने पर एक मैत्री-दिवस मनाया जाए। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ, एक देश का प्रधानमंत्री दूसरे देश के प्रधानमंत्री से साथ, एक देश का

*श्री आइजनहावर और श्री निकिता ख्रुश्चेव के मिलन-प्रसंग पर प्रदत्त संदेश।

राष्ट्रपति दूसरे देश के राष्ट्रपति के साथ, एक देश का विदेश मंत्री दूसरे देशों के विदेश मंत्रियों के साथ तथा एक देश का राजदूत दूसरे देशों के राजदूतों के साथ वर्ष-भर में ज्ञात-अज्ञात भूलों के लिए क्षमा-याचना करे और उनकी भूलें भूले। उस दिन जन-जन के मुख पर यह घोष हो—*व्यक्ति-व्यक्ति में मैत्री हो, राष्ट्र-राष्ट्र में मैत्री हो, शीत युद्ध शांत हो।* विश्व-शांति और विश्व-मैत्री की दिशा में यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, पर यह प्रयोग विरोध की भाषा में ही सोचने व बोलनेवाले जन-मानस को अवश्य एक बार झंकृत करता है कि विरोधी को भी मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए। भारतवर्ष में विगत तीन वर्षों से यह प्रयोग चलाया जा रहा है।

अणुव्रत-आंदोलन जाति, देश व धर्म की बिना किसी परिधि के भारतवर्ष में तथा दूसरे देशों में भी नैतिक जाग्रति का कार्य कर रहा है। वह चाहता है कि मानव-जीवन के हर पहलू में ऐसी मर्यादाएं आएँ, जिन्हें हृदय से स्वीकार कर मनुष्य विवेक-जाग्रति व आत्म-शुद्धि का पथिक बन सके। गांवों व नगरों में बड़ी सभाएं हों, विचार-प्रसार के द्वारा सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय मैत्री का वातावरण बनाया जाए।

अणुव्रत-आंदोलन विद्यार्थी, मजदूर, किसान, व्यापारी, कर्मचारी आदि सभी वर्गों के लिए जिस प्रकार पृथक-पृथक मर्यादाएं प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के संदर्भ में भी वह निम्नांकित पांच मर्यादाएं प्रस्तुत करता है—

१. कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर न तो आक्रमण करे और न आक्रमणकारी को सहायता दे।
२. कोई भी राष्ट्र अणु-अस्त्रों का निर्माण, परीक्षण एवं प्रयोग न करे।
३. कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अंतरंग नीति में हस्तक्षेप न करे।
४. कोई भी राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय विधि-विधानों का उल्लंघन न करे।
५. कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन न रखे।

मैं चाहता हूँ, अंतरराष्ट्रीय एकता के इन पांच अणुव्रतों को अमेरिका, रूस प्रभृति सभी देश एक राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार करें। विश्वशांति की दिशा में यह एक सुदृढ़ चरण-विन्यास होगा।

१२२ : मनोनुशासन का पथ अपनाएं

मन चंचल है। वह गतिशील है। वह बलात नहीं रुकेगा। प्रयत्न यह हो कि वह अच्छे कामों में लगा रहे। बुरे कार्यों में न जाए। यही इसकी सफलता है।

मन के लिए कवि ने कहा है—

मनः कुत्रोद्योगः सपदि वद ते गम्यपदवीं,
नरे वा नार्यां वा गमनमुभयात्राप्यनुचितम्।
यतस्ते क्लीबत्वं प्रतिपदमहो हास्यपदवीः,
जनस्तोमे मा गा त्वमनुसर सब्रह्मसरणिम्॥

— हे मन! तू पुरुष और स्त्री नहीं है, तू तो नपुंसक है। चंचल मत बन। नर और नारी की ओर मत दौड़। यदि तू गति ही चाहता है तो ब्रह्म की ओर चल। चलता चल। जी-भर चल। बाधाएं चीरता चल। वह तेरा स्थान है, सजातीय है। वह स्त्रीत्व और पुरुषत्व से परे है।

मन की प्रवृत्ति विचित्र है। इसकी आज्ञा का पालन पतन का मार्ग है। इस पर अनुशासन करना विजय-पथ है।

मन जीवन का आजीवन साथी है। यह अप्रतिबद्धविहारी है। बहुत समझने की बात यह है कि यह किसी का भी विश्वासपात्र नहीं है। यह जब सत्प्रवृत्त रहता है तो कामदुधा धेनु है और यही वैतरणी नदी भी बन जाता है, जब दुष्प्रवृत्त बनता है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसे अधिक-से-अधिक सत्प्रवृत्त बनाने का सघन अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास के सधने के बाद क्रमशः निवृत्ति की दिशा में गति करना चाहिए।

जिसने मन को सही ढंग से जान लिया, पहचान लिया, उसने एक अपेक्षा से सब-कुछ जान लिया, सब-कुछ पहचान लिया। और कुछ भी जानना-पहचानना उसके लिए अवशिष्ट नहीं रहा, पर जानने-पहचानने

की सही सार्थकता तभी है, जब व्यक्ति इसे अपने नियंत्रण में रखे, अनुशासित रखे। मन के वशीभूत होकर इसकी आज्ञा का पालन करना पतन का मार्ग है। समझदारी और विवेक का तकाजा यही है कि व्यक्ति पतन के मार्ग से बचता हुआ मनोनुशासन का पथ अपनाए।

१२३ : श्रद्धा और तर्क

तर्क दुहरा होता है। इसी लिए कहा गया है—**ढाले जिसी ढाल और कहे बिसी कहानी।** सत्य की दृष्टि यह है कि जहां तर्क काम करे, वहां तर्क से काम लो और जहां तर्क काम न करे, वहां श्रद्धा से काम लो। सारी बातें हेतुगम्य ही हों, यह कभी संभव नहीं है। बहुत-सी बातें अहेतुगम्य भी होती हैं। उनके लिए कोई तर्क काम नहीं करता। अतः उन्हें श्रद्धा से ही जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से हम *आगमों* पर श्रद्धा करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि *आगमों* में यदि कोई गलत बात हो तो उस पर श्रद्धा कैसे हो सकती है। हमारे पास ऐसा कोई साधन तो नहीं है, जिसके द्वारा हम यह जान सकें कि अमुक बात सर्वज्ञ के द्वारा ही प्रतिपादित है। यह भी तो संभव है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा *आगमों* में प्रविष्ट करा दी गई हो। इस संदर्भ में पहली बात तो यह है कि *आगमों* की अधिकतर बातें हमारी समझ में आ सकती हैं और आती भी हैं। शेष रही कुछ अस्पष्ट बातें, जिन्हें हम सुलझा नहीं सके हैं, परंतु हमारे नहीं सुलझा सकने के कारण ही तो वे गलत नहीं हो जातीं। हो सकता है, हम स्वयं ही कहीं गलती पर हों, क्योंकि गलत-सही का अंतिम निर्णय तो सर्वज्ञता की भूमिका में ही किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जब तक हम स्वयं सर्वज्ञता का शिखर न छू लें, तक तक उन्हें गलत कहने का हमें क्या अधिकार हो सकता है? अभी तो हमारा यही कर्तव्य है कि हम उनकी खोज करें। खोज करने के बाद संभव है कि हम उनकी सत्यता स्वयं पहचान लें।

ऐसा बहुत बार हुआ भी है। पहले शास्त्रों की कुछ बातें अस्पष्ट-सी लगती थीं। अतः कुछ लोगों ने कह दिया कि ये सब तो शास्त्रों को कपोल कल्पनाएं हैं, पर आगे की खोज ने स्वयं प्रमाणित कर दिया

कि वास्तव में शास्त्रों की वे बातें सही थीं। हम ही उन्हें नहीं समझ पाए थे। शब्द के बारे में शास्त्रों में कहा गया है कि ज्योंही हम शब्द बोलते हैं, वे सारे लोक में फैल जाते हैं। इस संदर्भ में पहले कुछ लोगों का ख्याल था कि यह तो असंभव बात है, पर आज विज्ञान की खोज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शब्द की गति अति तीव्र होती है। हमारे बोलने के साथ ही उसकी तरंगें चारों ओर फैल जाती हैं। यद्यपि इसमें भी अभी तक काफी खोज की अपेक्षा है, पर इतना तो सुस्पष्ट ही है कि विज्ञान शास्त्रों के काफी नजदीक आ गया है। वनस्पति के बारे में भी तो ऐसी ही बात है। बहुत-से लोग कहा करते थे कि क्या वनस्पति में भी जीव हो सकते हैं, पर जगदीशचंद्र वसु ने यह सिद्ध कर दिया के वनस्पति में भी जीव है। इसी प्रकार शास्त्रों में और भी अनेक बातें हो सकती हैं, जो आज असंगत-सी लगती हों, पर धैर्य के साथ अगर खोज जारी रखी जाए तो मेरा विश्वास है कि सब समझ में आने लगेंगी।

कुछ लोग विज्ञान पर ही विश्वास करते हैं, शास्त्रों पर विश्वास नहीं करते। इस बारे में मेरा चिंतन यह है कि शास्त्रों पर उन्हें विश्वास हो या न भी हो, विज्ञान पर तो विश्वास हो ही नहीं सकता, क्योंकि विज्ञान तो स्वयं एक प्रयोग है। प्रयोग हमारे सामने होता है। वह पूर्ण ही हो, ऐसा एकांततः नहीं कहा जा सकता। अतः जो एक प्रयोग ही है और पूर्ण भी नहीं है, उस पर विश्वास हो ही कैसे सकता है? विश्वास तो उस पर किया जाता है, जो हमारे सामने नहीं होता। मैं मानता हूं कि विज्ञान ने बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त की हैं, पर उसे अभी तक बहुत-कुछ प्राप्त करना है। मैं समझता हूं, जब वह उसे प्राप्त कर लेगा, तब उसमें और शास्त्रों में बहुत ज्यादा अंतर नहीं रहेगा।

१२४ : शांति : स्रोत और आधार

मनुष्य अशांत है, परंतु दोष किसे दे? अशांति का स्रष्टा वह स्वयं ही है। अशांति से संतुष्ट वह शांति खोज रहा है। बाह्य पदार्थों में शांति कैसे मिले? शांति का स्रोत तो आत्मा है।

आज मनुष्य अकेला नहीं है। एक देश की घटना का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ता है। एक वह भी समय था, जब बड़े-बड़े युद्ध हो जाते थे, फिर भी पड़ोसी देशों को सूचना तक नहीं मिल पाती थी। कारण स्पष्ट है—संचार के साधन सुलभ नहीं थे, पर आज एक स्थान की सैनिक क्रांति की सूचना सभी देशों में कुछ ही घंटों में फैल जाती है। सारे विश्व पर उसका प्रभाव पड़ता है। राजनीति में एक देश की शांति का महत्त्व नहीं है। विश्व के साथ उसका संबंध है। विश्व की शांति एक की शांति और एक की अशांति विश्व की अशांति।

शांति के साधन अणुबम, रॉकेट आदि घातक शस्त्र नहीं हैं। उसका साधन अहिंसा है। यह दूसरी बात है कि कौन कहां तक इसे जीवन में स्थान देता है। किसी के न चलने से पथ अपथ नहीं बनता, किसी के न पालने से दया अदया नहीं बनती। वैसे ही किसी के न अपनाने से अहिंसा हिंसा नहीं बन सकती।

अहिंसा विश्व-शांति का एक साधन है। प्रश्न किया जाता है कि अहिंसा सैनिकों में क्या करेगी। प्रतिप्रश्न यह भी तो हो सकता है कि हिंसा आखिर क्या करेगी। हिंसा से हिंसा नहीं मिट सकती, वैर से वैर बढ़ता है। आखिर अहिंसा का आश्रय लेना ही होगा।

अहिंसा का प्रयोग व्यक्ति तक ही सीमित न रहे। समाज और राष्ट्र में उसका प्रयोग होना चाहिए। जेल के अधिकारी अनुभव करते हैं कि अपराधी का फांसी या अन्य दंडों से सुधार नहीं होगा। उसके लिए अपेक्षा है कि उसका हृदय-परिवर्तन किया जाए। अन्य क्षेत्रों में भी इसका

प्रयोग चल रहा है। सह-अस्तित्व और क्या है? सह-अस्तित्व के बिना मनुष्य जी नहीं सकता। घर में दो सदस्य हैं। दोनों के विचार एक सरीखे नहीं हैं। विचार-भेद के कारण क्या वे घर में एक साथ नहीं रह सकते? क्या घर में एक ही व्यक्ति रहेगा? पर हम देखते हैं कि एक ही घर में कई विचारधारावाले लोग साथ-साथ रहते हैं। इसका कारण सह-अस्तित्व ही है। गहराई से देखा जाए तो सह-अस्तित्व वस्तुतः जीवन के हर पहलू में होता है, पर कठिनाई यह है कि लोग उसे समझ नहीं रहे हैं।

जड़ और चेतन दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। वे शरीर और आत्मा के रूप में साथ-साथ रहते हैं। कभी परस्पर विरोध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु में सादृश्य और असादृश्य दोनों धर्म रहते हैं। दो विरोधी तत्त्वों का साथ रहना ही सह-अस्तित्व है।

सह-अस्तित्व को कई राष्ट्रों ने अपनाया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि हम विचार न मिलने पर भी दूसरों पर आक्रमण नहीं करेंगे। यह अहिंसा का ही रूप है।

अहिंसा का प्रयोग व्यक्ति, समाज और प्रांत में सफल बनता है, तब फिर राष्ट्र में सफल क्यों नहीं होगा? आवश्यकता है, अहिंसा का व्यापक प्रसार हो। विश्व शांति का प्यासा है। प्रत्येक राष्ट्र अहिंसा का प्रयोग करे तो विश्व-शांति दूर नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है।

१२५ : मैत्री के साधन पुष्ट हों*

मैत्री जीवन के परिष्कार का पहला और जीवन की ऊंचाई का चरम सोपान है।

जो व्यक्ति, समाज या संस्थान मैत्री का प्रसार करते हैं, शत्रु-भाव की परिसमाप्ति कर अपनी मित्रता से दूसरे का हृदय आप्लावित करते हैं, वे सचमुच ही महान साध्य की साधना में संलग्न हैं। ऐसे व्यक्तियों को मैं अपना सक्रिय सहयोगी मानता हूँ।

शत्रुता-भाव का शल्य जो पल-पल चुभता रहता है, वह दूसरों की अपेक्षा अपना अधिक अनिष्ट करता है।

शत्रुता का हेतु स्वार्थों का संघर्ष और अविश्वास है। अपने वैयक्तिक या सामाजिक स्वार्थ का विस्तार दूसरों के स्वार्थ से टकरा जाता है और मैत्री नष्ट हो जाती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति संदेहशील रहता है और इसी लिए रहता है कि कहीं कोई मेरा स्वत्व हड़प न ले। यह शत्रुता की उत्पत्ति का क्रम है।

सामुदायिक जीवन की उपयोगिता के लिए कुछ काल्पनिक सीमाएं होती हैं। उन्हें मनुष्य ही बनाता है और उसी के लिए वे संहार का हेतु बन जाती है। प्रांत, राष्ट्र, भाषा और जाति की सीमाएं आज वैसी ही हो रही हैं।

जो व्यक्ति शत्रुता का शिर-दर्द मोल लेना न चाहे, वह अपने स्वार्थ सीमित करे। सीमा की परिभाषा है—दूसरे के स्वार्थों को आघात पहुंचे, वहां तक न जाए। मैत्री जीवन की शांति का सर्वोच्च वरदान है। उसकी उत्पत्ति अभय में और विकास विश्वास में होता है। जो लोग अपने अधिकृत जनता को भयभीत करने की प्रेरणा देते हैं, वे परोक्ष रूप

*मैत्री-दिवस के अवसर पर प्रदत्त संदेश।

में अपने लिए भय का वातावरण तैयार कर रहे हैं। जो आज दूसरों को भयभीत कर सकता है, वह कल उसे भी भयभीत कर सकता है, जिसे अपना मानता है। बुराई की सीख देनेवाला स्वयं उसके परिणामों से बच नहीं सकता। आज मनुष्य-जाति के पास प्रलय की प्रचुर सामग्री है। इसके निरोध का एकमात्र विकल्प अब मैत्री ही है।

अणुव्रत-आंदोलन अहिंसा का आंदोलन है। अहिंसा, अभय और विश्वास—तीनों मैत्री के बिना टिक नहीं सकते। अहिंसा के बिना मानव की सभ्यता और संस्कृति का विनाश निश्चित है। राजनीति का क्षेत्र आज सर्वाधिक प्रभावशाली है, पर वह स्वयं आतंकित है और दूसरे-दूसरे क्षेत्रों को आतंकित किए हुए है। आवेग की प्रवृत्ति अधिक है। संयम न शासक-वर्ग में है और न जनता में। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर सहसा आक्रमण करने की स्थिति में भी नहीं है और अनाक्रमण की वृत्ति भी नहीं है। प्रत्यक्ष युद्ध नहीं हो रहा है और शीत युद्ध घट भी नहीं रहा है। यह सब एक-दूसरे को निकटता से न समझने का परिणाम है। जैसे-जैसे क्षेत्रीय दूरी घटी है, वैसे-वैसे हृदय की दूरी बढ़ी है। अपेक्षा है, दुनिया के राजनयिक एक-दूसरे को समझने का प्रयास करें। स्वार्थ की सीमा विस्तृत न करें। अपने-अपने विचार प्रसारित करने का व्यामोह न रखें। आज सभी चिंतनशील व्यक्तियों का यह परम धर्म है कि वे मैत्री के साधन पुष्ट करें।

हम सबका यही संकल्प हो कि—

- व्यक्ति-व्यक्ति में मैत्री हो।
- राष्ट्र-राष्ट्र में मैत्री हो।
- सबमें मैत्री हो।
- हम सबको मित्र की दृष्टि से देखें।
- सब लोग हमें मित्र की दृष्टि से देखें।

१२६ : विकार का परित्याग मोक्ष का हेतु है

यौवन एक रत्न है, जो कि भोग-विलास करने के लिए नहीं है। कुछ व्यक्ति कहते हैं, भोग तो प्रकृति है। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि क्या भगवान अरिष्टनेमि और कुमारी मल्लिक विकृति में थे, जिन्होंने कि अपनी जवानी का उपयोग आध्यात्मिक उत्कर्ष में लगाया। मेरी दृष्टि में ऐसा सोचना और कहना व्यक्ति के मस्तिष्क की अपरिपक्वता है, भयंकर भूल है।

हम प्राचीन उदाहरण ही क्यों लें, आज भी तो बहुत उदाहरण हैं। ये साधु-साध्वियां, जो इस भौतिकता के युग में अपना मन और इंद्रियां स्वस्थ रखते हैं, क्या विकृति में हैं? नहीं, विकृति में बिलकुल नहीं हैं, वे अपनी प्रकृति में हैं। यह तो अनादि माया-मोह का आवरण है, जिसने कि लोगों को दिग्मूढ़ बना रखा है।

जिस-किसी ने अपना दृष्टि-संयम, मानसिक संतुलन और खाद्य-संयम खो दिया, आंशिक रूप में वह ब्रह्मचर्य की साधना से स्खलित हो चुका। जिस प्रकार मकान में दरार पड़ जाने पर यदि उसकी मरम्मत का ख्याल नहीं किया जाता है तो वह गिर जाता है, उसी प्रकार यदि कोई अपने मन, वचन और काया पर अंकुश न रख सके तो वह ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकता।

चक्षु द्वारा रूप का साक्षात् करना बुरा नहीं, बुरा तो उसके देखने में जो विकार है, वह है। बिल्ली उन्हीं दांतों से अपने बच्चे को पकड़ती है और उन्हीं दांतों से चूहे को भी, पर बच्चे को पकड़ते समय उसकी यह दृष्टि रहती है कि कहीं इसके खरोंच भी न आए और चूहे को पकड़ने पर यह दृष्टि रहती है कि कहीं यह छूट न जाए। यह आंख का अंतर नहीं, अपितु मानसिक विकार का अंतर है।

व्यक्ति जिस दृष्टि से अपनी माता को देखता है, उसी दृष्टि से

यदि वह अपनी पत्नी को भी देखे, तब वह निर्विकार बन जाता है, क्योंकि उसमें उसे मातृत्व का भान होता है। अतः हम विकार का परित्याग करें। विकार का परित्याग मोक्ष का हेतु है।

१२७ : संयम और अनुशासन की समृद्धि का संकल्प करें

१५ अगस्त नए युग का नया राष्ट्रीय त्योहार है। इसके साथ स्वाधीनता को स्मृति जुड़ी हुई है। मनुष्य सदा आनंद और उल्लास चाहता है। स्वाधीनता सबसे बड़ा आनंद और सबसे बड़ा उल्लास है, किंतु अधिकतर लोग स्वाधीनता की समृद्धि के लिए चाहते हैं कि उनकी समृद्धि के विकास में दूसरे लोग बाधक न बनें। इसलिए वे स्वाधीन होना चाहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि स्वाधीनता मिली है, पर समृद्धि नहीं बढ़ी। बढ़ी नहीं है, यह कहना शायद अत्युक्ति है। हां, जितनी कल्पना थी, उतनी शायद नहीं बढ़ी।

स्वाधीनता का फल केवल समृद्धि का विकास नहीं है, चरित्र-विकास भी उसका ही फलित है। भारत किसी समय अर्थ-संपदा से जितना समृद्ध था, उससे कहीं अधिक चरित्र-संपदा से संपन्न था। दूसरे देशों के लोग चरित्र की शिक्षा लेने यहां आते थे, पर भारत का यह गौरव आज सुरक्षित नहीं रहा है। विदेशों की यात्रा करनेवाले बहुत-से व्यक्तियों का ऐसा अनुभव है कि अनेक क्षेत्रों में भारतीय समाज का चरित्र अन्यान्य राष्ट्रों की तुलना में नीचे गिर रहा है। भारतीय समाज को उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। मैं नहीं समझता कि जब भारतीय जनता ने राजनीति एवं अर्थनीति के क्षेत्र में विदेशों का अनुसरण किया है, तब चरित्र एवं आचरण के क्षेत्र में क्यों नहीं। मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि इस क्षेत्र में सबसे बड़ी कठिनाई या बाधा संस्कारों और विचारों के असामंजस्य की है। भारतीय लोगों के संस्कार पुराने हैं और विचार नए। यह असामंजस्य मिटाए बिना समस्या समाहित नहीं हो सकती।

पूरे वर्ष का सिंहावलोकन कर देखें कि कहां क्या हुआ है। केरल में जो हुआ, उत्तरप्रदेश में जो हो रहा है, वह सुखद नहीं है। ऐसा लगता

है कि राजनीतिज्ञों और तथाकथित समाज-सुधारकों ने ऐसा मान लिया है कि उनके लिए संयम की कोई आवश्यकता नहीं है। जब संयम और अनुशासन घटता है, असंयम और अनुशासनहीनता को खुलकर खेलने का मौका मिलता है, वहां व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अर्थसंपन्न होकर भी सुख और शांति से संपन्न नहीं हो सकता। भारत आज अर्थ-समृद्धि का जी तोड़ यत्न कर रहा है, वह इस नए वर्ष के आदि दिन में संयम और अनुशासन की समृद्धि को भी विकसित करने का संकल्प करे। अणुव्रत-आंदोलन का घोष—**संयम ही जीवन है**—जन-जन के लिए जीवन-विकास का महान मंत्र बन सकता है।

१२८ : सबसे बड़ा धर्म क्या है

जैन-धर्म का मंतव्य

जैन-धर्म का मंतव्य अनेकांत है। अनेकांत का अर्थ है—सापेक्ष दृष्टि। प्रत्येक व्यक्ति के अपने स्वतंत्र विचार हैं। अपने विचारों के प्रतिकूल सब गलत और स्वयं के विचार ही सत्य—यह हो नहीं सकता। किसी एक दृष्टि से अपने विचार सही हैं तो किसी दूसरी दृष्टि से दूसरों के विचार भी तो सही हो सकते हैं। आग्रहहीनता ही सबसे बड़ा धर्म है। आग्रही एक बात पकड़ बैठेगा, अपनी कही बात सिद्ध करने के लिए अपने विचारों के अनुकूल तर्क भी घसीटेगा। अनाग्रही तर्क और युक्ति वहां ले जाएगा, जहां से सत्य खोजा जा सके।

जैसी करनी वैसी भरनी

भारत की दार्शनिक संपत्ति बड़ी विशाल रही है। यहां लोगों का दिमाग खुला और हृदय अहिंसा से आप्लुत रहा है। कोई भी अपना या पराया विचार सांचे में बिठाना भारतीय चिंतन का सुपरिणाम है। जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। जो जैसा पुरुषार्थ करेगा, वह वैसा ही फल पाएगा—यह जैन-दर्शन की पुष्ट मान्यता है। औरों की कृपा पर जीवित रहना ठीक नहीं है। पुरुषार्थहीन पर कृपा कुछ कर भी तो नहीं सकती।

पारगामी कौन

भाषावाद और जातिवाद में जैन-धर्म विश्वास नहीं करता। उसके सिद्धांतानुसार एक गुणयुक्त चांडाल भी पूज्य है और एक गुणशून्य ब्राह्मण भी अवंध। केवल विद्या मोक्षदायिनी नहीं है। एक बड़े-से-बड़ा ज्ञानी आचारभ्रष्ट हो सकता है, पर एक शुद्धाचारी ज्ञानभ्रष्ट नहीं हो सकता। इसलिए—**विज्जाचरणपारगाः**—आचारसंपन्न ज्ञानी ही पारगामी है।

धर्म और दर्शन दोनों आज पुस्तकारूढ़ तो हैं; पर वह जीवन-दर्शन नहीं है। धर्म को पुस्तकों से निकालकर जीवन में लाना होगा।

मूल्यांकन की दृष्टि बदले

आज के युग की मूल्यांकन-पद्धति बदलनी होगी। आज धर्म से धन विशिष्ट है। नृत्य, संगीत, रूप और सौंदर्य की प्रतिष्ठा है, आचार की नहीं। चरित्रवान होने पर भी अर्थाभाव के कारण व्यक्ति का समाज में स्थान नहीं है। त्याग पीछे है और पूंजी आगे। सदाचारी से घृणा है और अनाचारी का आदर। सादगी का तिरस्कार है और आडंबर के प्रति आकर्षण। ये सब भ्रांतियां मिटानी होंगी। मानवता की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी। अणुव्रत-आंदोलन इस दिशा में एक सक्रिय कदम है। वह सब धर्मों का नवनीत है, सर्वमान्य है। वह सर्वधर्मसद्भाव की बात लेकर आगे बढ़ता है। अणुव्रत पर किसी जाति या धर्म की मुहर नहीं है, किसी समाजविशेष का एकाधिकार नहीं है और व्यक्तिविशेष का प्रभुत्व नहीं है। वह तो मानवमात्र का है।

१२९ : जैन-दर्शन का मौलिक स्वरूप

जैन 'जिन' शब्द से बनता है। जिन का अर्थ है—जीतनेवाला—**वीतरागभयक्रोधः**। जिन/वीतराग के द्वारा प्रतिपादित मार्ग को स्वीकार करनेवाला या उस पर श्रद्धा रखनेवाला ही जैन है। जैन-दर्शन पुनर्जन्म, आत्मा, ईश्वर, कर्म-फल, मुक्ति और स्वर्ग-नरक में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि जब तक आत्मा कर्म और शरीर के बंधन से बंधी है, तब तक वह बद्धात्मा है और इनसे मुक्त होकर परमात्मा है।

आत्मा स्वतंत्र है। उसका पृथक अस्तित्व है। वह एक नहीं, अनेक है। आत्मा स्वयं की पुरुषार्थ-साधना से परमात्मा बन सकती है। व्रत-प्रतिपालन, तपस्या और त्याग ही परमात्म-पद की साधना है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की आराधना ही मोक्ष की आराधना है। सबके प्रति आत्म-भाव ही जैन-दर्शन की अहिंसा है। विश्व-मैत्री—प्राणिमात्र के प्रति आत्मोपम्य दृष्टि अहिंसा का ही एक अंग है। सत्य जैसे अनंत और अगम्य है, वैसे ही वह जीवन-व्यवहार्य भी है। अस्तेय व्यक्ति का विकास है। ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मानवीय भूमिका के दो द्वार-स्तंभ हैं। स्वयं को त्याग की कसौटी पर कसना ही आत्मोन्नति का मार्ग है।

स्याद्वाद, अपेक्षावाद, नयवाद या अनेकांतवाद जैन-दर्शन की निरूपण-पद्धति है। अनेकांत-दृष्टि का अर्थ है—वस्तु के अनेक धर्मों, स्वभावों, आकारों-प्रत्याकारों का सापेक्ष दृष्टि से विवेचन। वस्तु के अनेक धर्मों को हम एक साथ कैसे कहेंगे? मकान किसी दृष्टि से ठंडा भी है, किसी दृष्टि से गरम भी है। वह ऊंचा भी है, सादा भी है, रंगीन भी है। उसके विभिन्न रूप हैं। हम सब रूप एक साथ नहीं बता सकते। अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का किसी एक सापेक्ष दृष्टि से वर्णन ही अनेकांतवाद है।

संसार नित्य है या अनित्य, यह प्रश्न गौतम बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टाल दिया, पर भगवान महावीर ने कहा—‘संसार नित्यानित्य है। वह सदा था, है और सदा रहेगा भी। जो रूप आगे था, वह आज नहीं है। आज जो है, वह आगे नहीं रहेगा।’ यही जैन-दर्शन का पर्यायवाद है। पर्याय-अवस्था प्रतिक्षण बदलती है। इसी परिवर्तन में एक तत्त्व ऐसा भी है, जो ध्रुव है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य में अनेक रूप-परिवर्तन ही होते रहते हैं, पर मनुष्य वही है। वस्तु का अनंतधर्मात्मक ज्ञान और उसका अनेक रूपों से प्रतिपादन ही स्याद्वाद है।

आजकल का पारस्परिक दुराग्रह एक-दूसरे का दृष्टिकोण न समझने का परिणाम है। कहनेवाला कुछ कहना चाहता है और लेनेवाला उसे किसी दूसरे अर्थ में ही लेता है—यही तो झगड़े की जड़ है। जिस दृष्टिकोण से व्याख्या है, उसे उसी रूप से ग्रहण करना ही जैन-दर्शन का नयवाद या आपेक्षावाद है।

किसी ने कहा कि घड़ा है, पर जैन-दर्शन कहता है कि ‘घड़ा है’ यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य ‘घड़ा नहीं है’ यह कथन भी है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से घड़ा है और पर द्रव्य की अपेक्षा से वह नहीं भी है। जिस समय वस्तु की ‘अस्ति’ है, उसी समय ‘नास्ति’ भी है। दोनों एक साथ हम कह नहीं सकते, अतः ‘अवक्तव्य’ है।

संसार के प्राणी किसी एक ईश्वर के संचालित यंत्र नहीं हैं। एक ईश्वर के नियंत्रण में कर्म का क्या महत्त्व रहेगा? भगवान महावीर ने कहा—**सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति**—अच्छे कार्यों के फल भी अच्छे होते हैं।

जैन-दर्शन कर्मवादी और आत्मवादी दर्शन है। वह पुरुषार्थ में अधिक विश्वास रखता है। पुरुषार्थ का अंतिम निष्कर्ष ही भाग्य है।

१३० : शांति : उत्स और साधन

संसार संसार है। इसमें अच्छाई और बुराई दोनों रहती हैं। जब तक संसार में क्रोध, मान, मद आदि के रूप में बुराइयां रहेंगी, तब तक पूर्ण शांति का वातावरण निर्मित नहीं हो सकता।

शांति के लिए विज्ञान ने नए-नए आविष्कार किए, सुख-सुविधा के अनेकानेक साधन दिए, फिर भी शांति की प्यास नहीं बुझी, बल्कि आज तो वह अधिक तीव्र हो उठी है। कारण स्पष्ट है। मूल में भूल है। शांति का स्रोत आत्मा है। उसका प्रवाह भौतिक साधनों में कैसे मिलेगा? मकान में पड़ी वस्तु बाहर खोजने पर कैसे मिलेगी? सबसे पहले दृष्टि की यह भ्रांति मिटानी चाहिए।

जीवन का लक्ष्य है—ज्ञान, श्रद्धा, शक्ति और सुख की प्राप्ति। मनुष्य अपना मूल लक्ष्य भूल गया है। ज्ञान प्राणी के सिवाय कहीं नहीं है। इंजन चलता है, पर उसमें न ज्ञान है और न अनुभूति। दर्शन—विश्वास का विकास अधिकतया मनुष्य में हो सकता है। शक्ति प्राणी में भी होती है और अप्राणी—पुद्गल आदि में भी। मनुष्य में आत्मा से परमात्मा बनने की शक्ति है। सुख हमारा अविभाज्य गुण है। आज मनुष्य ज्ञान, श्रद्धा और शक्ति को भूल रहा है। सुख को भी भूल रहा है।

वैज्ञानिकों ने जड़वाद पर नाना अन्वेषण किए, लेकिन आत्म-तत्त्व अछूता ही रहा। महर्षियों ने तपःपूत साधना से आत्मतत्त्व का अन्वेषण किया। उन्होंने कहा—‘आत्मा भीतर है और वह शाश्वत है। जो बाहर है, वही भीतर नहीं है। भीतर दूसरा तत्त्व है। हम खाना, पीना, बोलना आदि जो बाह्य क्रियाएं करते हैं, उसकी प्रेरणा हमें अंदर से मिलती है। वही प्रेरक शक्ति आत्मा है।’

अहिंसा : सर्वोच्च तत्त्व

प्रश्न पैदा होता है कि आत्म-शक्ति का विकास कैसे हो। इसका

अत्यंत संक्षिप्त-सा उत्तर है—अहिंसा की साधना से। अहिंसा आध्यात्मिक जगत का सर्वोच्च तत्त्व है।

अहिंसा की साधना से सारे वैमनस्य मिट सकते हैं, पर कायरता अहिंसा नहीं है। वह तो कमजोरी है। अहिंसा वीरों का धर्म है, किंतु किसी को न मारना ही अहिंसा नहीं है; अपितु मरने से न घबराना भी अहिंसा है। भय हिंसा है। अहिंसक को निर्भय होना चाहिए।

मैत्री अहिंसा का ही पर्यायावाची नाम है। दूसरे शब्दों में मैत्री अहिंसा है। मैत्री दो व्यक्ति से संबद्ध होती है। अहिंसा दो के बिना भी हो सकती है। लोक-जीवन में दोस्तों के साथ मित्रता रखना ही मैत्री का रूप रह गया है। अपेक्षा है उसका प्रयोग विरोधियों के साथ हो। विशुद्ध मैत्री के क्षेत्र में विरोधी-अविरोधी का प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। इससे अपना अहित होनेवाला नहीं है। शास्त्रों में कहा है—‘दो साधकों में कदाच परस्पर कटुता हो जाए तो उसे शांत किए बिना वे भोजन-पानी न लें। अब एक साधक अपनी गलती स्वीकार करता है, पर दूसरा आग्रहवश या अन्य कारणों से स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में भी गलती स्वीकार करनेवाले को दूसरे से *खमत-खामणा* कर लेनी चाहिए। दूसरा *खमत-खामणा* करे या न करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, पर अपनी ओर से *खमत-खामणा* करना अपनी साधना है।’

सामान्यतः लोग क्षमा मांगनेवाले को नीचा व पराजित मानते हैं। क्षमा देनेवाला अहंकार करता है। इसलिए हमारे यहां *खमत-खामणा* शब्द है। इसका अर्थ है—मैं स्वयं क्षमा मांगता हूं और तुम्हें क्षमा देता हूं। इसमें ऊंच-नीच का प्रश्न नहीं रहता। वस्तुतः अपना दोष स्वीकार करना अहिंसा की साधना है।

अहिंसा की शक्ति अणुबम की शक्ति से भी बढ़कर है। अहिंसकों के सामने हिंसकों की हिंसक शक्ति स्वतः नष्ट हो जाती है। निरपराध को न सताना अहिंसा है, परंतु उसका सजीव रूप वहां है, जहां अपराधी/विरोधी को भी न सताया जाए। अपेक्षा है, अहिंसा की अनुपम शक्ति से जन-जन परिचित हो और वह उसे शांति के अमोघ साधन के रूप में अधिकाधिक जीवन का अंग बनाए।

१३१ : श्रमण संस्कृति का संदेश

जैन-संस्कृति आत्म-उत्सर्ग की संस्कृति है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृंखला चलती है। वहां पराजय का अंत नहीं होता। उसका पर्यवसान आत्मविजय में होता है। वह निर्द्वंद्व स्थिति है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन है—संयम।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो। 'सुख दो और दुःख मिटाओ' की भावना में आत्म-विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण दोनों साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नहीं है।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय का प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण नहीं होता, अधिकारों का हरण और द्वंद्व नहीं होता।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त भावना में आत्म-विजय का जो स्वर है, वह तो है ही, उसके अतिरिक्त जगत की नैसर्गिक स्वतंत्रता का भी महान निर्देश है।

प्राणिमात्र अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतंत्र है, यही उसकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किंतु उस उपेक्षा को शाश्वत सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

दस प्रकार का संयम, दस प्रकार का संवर और दस प्रकार का विरमण—यह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है या निवृत्ति हैं या है निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति।

● ३१० ● ————— ज्योति जले : मुक्ति मिले

दो प्रकार की वृत्तियां

दस आशंसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है। जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है—दृष्टिसम्पन्नता—सम्यक दर्शन। जब तक संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, तब तक कोई दुविधा नहीं होती। अव्यवस्था तब होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाए। संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आंकते। दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किंतु क्षुद्र-भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देनेवाली है। आरंभ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किए रहे हैं। बड़ा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नहीं सकुचाता।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किंतु छोटे के प्रति कठोर बनते वह नहीं सोचता। यहां गतिरोध होता है।

जैन-विचारधारा यहां बताती है कि दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो। उसे ध्रुव सत्य मानकर मत चलो। 'सुख मत लूटो, दुःख मत दो'—यह भावना विकसित करो। इसका विकास होगा तो 'दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ' की भावना अपने-आप पूरी होगी। दुखी न बनाने की भावना बढ़ेगी तो दुःख अपने-आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो सुखी बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी?

जीवन-विकास और संयम

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का हास और विकास मत समझो, वस्तुतः संयम जीवन का विकास है और असंयम हास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किंतु वह छलना, कूरता और शोषण नहीं छोड़ सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित भले न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषणमुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियां चाहिए। जैसे—

१. आर्जव या ऋजुभाव, ताकि विश्वास बढ़े।
२. मार्दव या दयालुता, ताकि मैत्री बढ़े।
३. लाघव या नम्रता, ताकि सहृदयता बढ़े।
४. क्षमा या सहिष्णुता, ताकि धैर्य बढ़े।
५. शौच या पवित्रता, ताकि एकता बढ़े।
६. सत्य या प्रामाणिकता, ताकि निर्भयता बढ़े।
७. माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, ताकि सत्य-स्वीकरण की शक्ति बढ़े।

किंतु इन सबको संयम की अपेक्षा है। एक हि साथे सब सधे— एक संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। अहिंसा इसी का उपाय है, जो कि जैन-संस्कृति की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

प्रवर्तक धर्म पुण्य या स्वर्ग को ही अंतिम साध्य मानकर रुक जाता था। उसमें मोक्ष-पुरुषार्थ की भावना का जो उदय हुआ है, वह निवर्तक धर्म या श्रमण-संस्कृति का ही प्रमाण है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी अलोक-रेखाएं हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्य देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्टसहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातंत्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएं और जुड़ जाएं तो साम्य आएगा—भोगपरक नहीं, किंतु त्यागपरक; वृत्ति बढ़ेगी—दानमय नहीं किंतु अग्रहणमय; नियंत्रण बढ़ेगा—दूसरों का नहीं, किंतु अपना।

भारतीय संस्कृति की विशाल स्रोतस्विनी—श्रमण-संस्कृति का जो महान स्रोत अनिरुद्ध प्रवहमान है, वह जीवन की शांति में सहायक होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

१३२ : संकल्प-चेतना जगाएं

आत्महितगवेषी साधक संकल्प करता है—**अबंभं परियाणामि बंभं उवसंपज्जामि**—मैं अब्रह्मचर्य का परित्याग करता हूँ और ब्रह्मचर्य को अंगीकार करता हूँ, पर आजीवन पूर्ण रूप से अब्रह्मचर्य का परित्याग कोई-कोई विशेष सामर्थ्यवान व्यक्ति ही कर सकता है। सर्व-सामान्य के लिए यह संभाव्य और व्यावहारिक बात नहीं है। उनके लिए तो **थूलाओ अबंभाओ वेरमणं** की बात है। अर्थात् वह स्थूल अब्रह्मचर्य छोड़े। अब्रह्मचर्य-सेवन की सीमा करे। महीने के तीस ही दिन विकार में न गंवाए। स्वदार-संतोषी बने, स्वपति-संतोषी बने। यथाशक्ति ब्रह्मचर्य-पालन करने का संकल्प करे।

गहराई से देखा जाए तो विचारों की दृढ़ता एवं निर्णय की स्थिरता के लिए संकल्प अत्यंत आवश्यक है। संकल्प की शक्ति अचिंत्य होती है। कभी-कभी तो एक छोटा-सा संकल्प ही व्यक्ति में अद्भुत आत्म-शक्ति जगानेवाला सिद्ध हो जाता है। विजय-विजया का ऐतिहासिक उदाहरण यही तथ्य उजागर करता है।

आचार्य ने प्रवचन किया। प्रवचन का मुख्य प्रतिपाद्य था—ब्रह्मचर्य। प्रतिपादन/विश्लेषण इतना मार्मिक और तलस्पर्शी था कि श्रोताओं के हृदय को छू गया। अब्रह्मचर्य के कटुक विपाक का चित्रण इतना जीवंत था कि लोगों के भावुक दिल दहल उठे। परिणामतः यथाशक्ति अब्रह्मचर्य के परित्याग की झड़ी-सी लग गई। किसी ने जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प लिया तो किसी ने एक-दो वर्ष का। किसी ने स्वदार-संतोष व्रत स्वीकार किया तो किसी ने अब्रह्मचर्य-सेवन की सीमा की।

परिषद में गुरुकुल का छात्र विजय भी तो उपस्थित था। आचार्यवर के उपदेश से प्रेरित होकर उसने जीवनपर्यंत कृष्णपक्ष में अब्रह्म-सेवन का परित्याग कर दिया। इसी प्रकार विजया नामक छात्रा ने जीवन-भर संकल्प-चेतना जगाएं

शुक्लपक्ष में अब्रह्म-सेवन न करने का संकल्प ग्रहण कर लिया। दोनों एक-दूसरे से सर्वथा अपरिचित। पर कैसा संयोग मिला कि कुछ ही दिनों पश्चात दोनों की परस्पर शादी हो गई। उस समय शुक्लपक्ष चल रहा था। विवाह की प्रथम रात्रि में जब दोनों के मिलने का प्रसंग उपस्थित हुआ, विजया ने सोचा कि आखिर कब तक छिपाऊंगी, किससे छिपाऊंगी। अच्छा है, स्पष्ट ही कह दूं, ताकि दाम्पत्य जीवन में किसी प्रकार का तनाव न आए, कटुता न पैदा हो। साहस कर वह बोली—‘प्राणेश! मैंने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार कर रखा है; और शुक्लपक्ष के अब मात्र तीन दिन ही अवशेष हैं।’ सुनते ही विजय के चेहरे का रंग फीका पड़ गया। उस पर चिंता की स्पष्ट रेखाएं उभर आईं। देखकर विजया के मन में विचार आया कि मेरे पति चेहरे-मेहरे और हाव-भाव से इतने विलासी तो नहीं दिख रहे हैं, फिर भी न जाने क्यों इनके लिए तीन दिन इतने असह्य हो गए। उसने उसी भावधारा में विजय से कहा—‘हृदयेश! तीन ही दिनों की तो बात है, आप इतने उदास और चिंतित क्यों हो रहे हैं?’ विजय ने लंबा निःश्वास छोड़ते हुए कहा—‘प्रश्न तीन दिन का नहीं है, पूरे जीवन का है।’ विजया चौंकी—‘यह कैसे?’ विजय बोली—‘तुम्हारी तरह मैंने भी कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार कर रखा है। इसलिए इस जीवन में हम पति-पत्नी के रूप में नहीं रह सकते।’ इस बार विजया को गहरा झटका लगा। वह हतप्रभ हो गई, पर शीघ्र ही संभाली। उसने आत्म-निवेदन के स्वर में विजय से कहा—‘पतिदेव! आप सहर्ष दूसरी शादी कर लें। मैं आर्य नारी की आदर्श परंपरा का निर्वहन करती हुई आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगी। अपना लिया हुआ व्रत किंचित भी खंडित नहीं होने दूंगी। अपनी बहिन के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई आपके चरणों की सेवा करती रहूंगी।’ विजया को सुन विजय ने मन-ही-मन कहा—कौन कहता है कि यह अबला है! यह तो सौत की असह्य पीड़ा भी झेलने के लिए सहर्ष तैयार है और अपनी प्रतिज्ञा/संकल्प में चट्टान की तरह दृढ़ है।.....इसके साथ ही विजय का शौर्य जाग उठा। उसने विजया से कहा—‘प्रिये! तुम आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करो और मैं दूसरा विवाह रचाऊं, यह कदापि नहीं हो सकता। मैं इतना कमजोर नहीं हूँ। मैं भी तुम्हारी तरह आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। अपना स्वीकृत व्रत अखंड रूप में निभाऊंगा।’

अब विजय और विजया ने अपने भावी जीवन पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करते हुए निर्णय किया कि जब तक हमारी यह प्रतिज्ञा गुप्त रहेगी, तब तक हम दोनों भाई-बहिन की तरह गृहस्थावस्था में ही रहेंगे, किंतु किसी निमित्त से जैसे ही यह प्रतिज्ञा प्रकाशित हो जाएगी, हम दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।

वर्षों तक उनकी यह प्रतिज्ञा गुप्त रही। अपने निश्चय के अनुसार वे भाई-बहिन की तरह रहे। एक शय्या पर सोकर भी उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया। कूप-मंडूक कैसे जाने कि समुद्र कूप से बड़ा है, बहुत अधिक बड़ा है! जन-सामान्य इस बात पर कैसे विश्वास करे कि एक शय्या पर रहकर भी अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है! भले कोई विश्वास करे या न करे पर यथार्थ यथार्थ है। हां, यह कार्य है असाधारण। कदाचित् भंवर में नौका न डूबना, अग्नि पर मक्खन न पिघलना, ढाल में पानी न बहना आदि बातें सहज हो सकती हैं, पर एक शय्या पर रहकर अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना महादुष्कर है। विजय-विजया ने यह महादुष्कर कार्य किया। कहना चाहिए कि उन्होंने कज्जल की कोठड़ी में रहकर भी कालिमा न लगानेवाली उक्ति चरितार्थ कर दी।

साधु-साध्वियां पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, पर गृहस्थ अवस्था में और वह भी एक शय्या पर रहकर विजय-विजया ने अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने का जो उदाहरण पेश किया, उससे एक अपेक्षा से वे साधु-साध्वियों से भी अधिक साधुवाद के पात्र बन गए। उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा है—

अदधुः केचन शीलमुदारं, गृहिणोऽपि परिहृतपरदारम्।

यश इह संप्रत्यपि शुचि तेषां, विलसति फलिताऽफलसहकारम्॥

विजय-विजया की गृहस्थ अवस्था की यात्रा सानंद चल रही थी। चलते-चलते उसमें एकदम मोड़ आ गया। किसी प्रसंग में केवली भगवान ने उनकी सारी स्थिति प्रकट कर दी। प्रकट होते ही अपने पूर्व निर्णय के अनुसार उन्होंने अदम्य आत्म-साहस के साथ संयम-जीवन अंगीकार कर लिया। दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अपनी आत्मा को विविध प्रकार की तपस्या में झोंक दिया। अंत में सर्व कर्मों का क्षय कर वे मुक्त बन गए।

विजय-विजया की यह घटना संकल्प-शक्ति के प्रति आस्था जगानेवाली एक प्रेरक घटना है। इससे प्रेरणा लेते हुए प्रत्येक भाई-बहिन को अपनी संकल्प-चेतना जगानी चाहिए। संकल्प मानसिक और वाचिक दोनों स्तरों पर हो सकता है। इसी प्रकार संकल्प स्वयं भी किया जा सकता है और गुरु-साक्षी से भी। हालांकि स्वयं के स्तर पर किया गया संकल्प भी महत्त्वपूर्ण है, पर गुरु-साक्षी से किए गए संकल्प में गुणात्मक दृष्टि से शक्ति अधिक होती है। इसलिए हमारे यहां गुरु-साक्षी से संकल्प करने को विशेष महत्त्व दिया गया है।

१३३ : स्वधर्म उज्ज्वल बनाएं

आज दुनिया स्वधर्म विस्मृत कर परधर्म की चिंता में अधिक उलझ रही है। स्वयं का आचरण तो सम्यक नहीं और दूसरों के उत्थान की चिंता! यह कितनी अनुचित और लज्जास्पद स्थिति है! यही तो आज के युग के पतनोन्मुखी बनने का मूलभूत कारण है। धर्म का मूल अपना चरित्र उज्ज्वल बनाना ही है, स्वजीवन और स्वधर्म सुसंस्कारित और उन्नत बनाना ही है। इससे आत्मलाभ ही नहीं, अपितु जाति, समाज और पूरे राष्ट्र का कल्याण भी है। व्यक्ति-व्यक्ति के योग से समाज की सृष्टि होती है तथा समाज में राष्ट्र की मूल सत्ता केंद्रित है। इस स्थिति में यदि व्यक्ति-व्यक्ति अपना स्वधर्म/चरित्र उज्ज्वल और उन्नत बनाने की दिशा में सजग बन जाए तो लोककल्याण का बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकता है, समाज का अभ्युदय घटित हो सकता है, राष्ट्र में जाग्रति की लहर पैदा हो सकती है; और ऐसी स्थिति में वह राष्ट्र अन्यान्य राष्ट्रों के लिए जागरण और विकास की प्रेरणा बन सकता है।

मैं देख रहा हूँ कि आज अछूत कहलानेवाली जातियाँ अपना विकास करने के लिए जागरूक बन रही हैं। वे मद्यपान, मांस-भक्षण आदि दुर्व्यसन एवं असदाचार तजकर सात्त्विक जीवन जीने की दिशा में प्रयाण कर रही हैं, अपनी जीवन-शैली परिष्कृत एवं संस्कारित कर रही हैं। पर कैसी बात है कि इसी के ठीक विपरीत उच्च और सभ्य कहलानेवाली जातियों के लोग सभ्यता और शिष्टाचार के नाम पर मांस और मद्य का अपने जीवन में अवांछित प्रवेश करवा रहे हैं, विभिन्न प्रकार की असत्प्रवृत्तियों से अपना जीवन पतन के गर्त में ढकेल रहे हैं! कुछ लोग तो ऐसे हैं, जिनका जीवन नाना प्रकार के दुर्व्यसनों का अड्डा बना हुआ है, तथापि वे अपने-आपको आर्य कहलाने का गौरव रखते हैं। मुझे उनकी बुद्धि पर तरस आता है। मेरी दृष्टि में

आर्य कोई जातिविशेष नहीं है। वह तो एक गुणात्मकता का नाम है। इस अपेक्षा से जिसका स्वधर्म यानी आचरण उन्नत है, वह आर्य है। जो लोग यह गुणात्मकता खो चुके हैं, वे आर्य कैसे कहला सकते हैं? आवश्यकता है, ऊंची और सभ्य कहलानेवाली जातियां अपना आत्म-निरीक्षण करें और गिर रहे चारित्रिक स्तर को ऊंचा उठाकर अपना खोया गौरव प्राप्त करें।

१३४ : सबसे बड़ी क्रांति

युवकों को मैं शक्ति का प्रतीक मानता हूँ। उनमें जोश बहुत होता है। सुधार और क्रांति करना भी वे चाहते हैं। इसके लिए वे जब-तब आंदोलन भी करते रहते हैं, लेकिन कैसा आश्चर्य है कि अपना सुधार भूल जाते हैं, अपने निर्माण से मुंह मोड़ लेते हैं। मैं उन्हीं से पूछना चाहता हूँ कि ऐसी स्थिति में वे जो सुधार करना चाहते हैं, वह वस्तुतः सुधार है या बिगाड़; वे जिस क्रांति की बात करते हैं, वह सचमुच में क्रांति है या भ्रांति। युवक अपनी अंतरात्मा से उत्तर दें।

युवक यह बात गंभीरता से समझें कि प्राचीनता नष्ट कर देना ही सुधार का आदर्श नहीं है और न नव्य को संगठित रूप देना ही क्रांति है। प्राचीन बात मात्र इसलिए विकृत और त्याज्य नहीं है कि वह प्राचीन है। प्राचीन होते हुए भी यदि वह मानवता के निर्माण और सुसंस्कृति की संरचना में उपयोगी है तो उसे नष्ट करना या ऐसी आवाज उठाना न केवल अपनी अज्ञानता का परिचायक है, अपितु सुधार पर कुठाराघात करना भी है। इसी प्रकार नव्य बात सिर्फ इसलिए अच्छी नहीं है कि वह आज के समय की है। नव्य होने के बावजूद यदि उसका लक्ष्य गलत है, आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतिकूल है तो वह वास्तविक क्रांति नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि क्रांति के नाम पर असंयम और असदाचार को पोषण देना है; और जब वास्तविक क्रांति नहीं है, इसलिए सुधार भी नहीं है। युवकों को यह ख्याल रहना चाहिए कि प्राचीन तत्त्वों में भी हमें बहुत-सी उच्च आदर्शों की बातें प्राप्त होती हैं। मात्र प्राचीन होने के बहाने वे बातें उपेक्षित नहीं की जा सकतीं।

वर्तमान में सुधार की जो चर्चा है, उसके दो रूप हमारे सामने हैं। प्रथम का दृष्टिकोण विध्वंसात्मक है। वह सर्वत्र विनाश के बीज बोना चाहता है। इसके ठीक विपरीत दूसरे का दृष्टिकोण सृजनात्मक सबसे बड़ी क्रांति

है। वह व्यापक स्तर पर रचनात्मक कार्य करना चाहता है। मैं युवकों से कहना चाहता हूँ कि वे विध्वंसात्मक प्रथम प्रकार का सुधार छोड़कर सृजनात्मक दूसरे प्रकार के सुधार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाएं। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए स्व-सुधार करें, आदर्श नागरिक बनें। मेरी दृष्टि में यही सबसे बड़ा निर्माण है। यही सबसे बड़ी क्रांति है और यही वास्तविक सुधार है।

स्व-सुधार से मेरा तात्पर्य युवक समझते ही होंगे। स्वयं का चरित्र-निर्माण करना इसका अभिधेय है। स्वयं के चरित्र-निर्माण की ओर से बेखबर रहनेवाले युवक दूसरों का निर्माण एवं सुधार कैसे कर सकेंगे? यह शुभ शुरुआत उन्हें स्वयं से ही करनी होगी। युवक इस बिंदु पर गंभीरतापूर्वक सोचें।

१३५ : उपासना के सर्व-सामान्य सूत्र

अणुव्रत और उपासना

जितने धर्म-संप्रदाय हैं, उतनी ही उपासना की विधियां हैं। अणुव्रत-आंदोलन कोई धर्म-संप्रदाय नहीं है। यह तो धर्म की सर्व-सामान्य भूमिका है। इसलिए इसकी उपासना-विधि भी सर्व-सामान्य है। इसका उपास्य कोई व्यक्ति नहीं है। इसके उपास्य हैं व्रत। वे व्रत, जो जीवन की विशृंखलता के लिए अंकुश का काम करते हैं। अणुव्रती का उपासना मंत्र है—**अहमेव मयोपास्यः**—मेरे लिए मैं ही उपास्य हूं।

इसके उपासना-सूत्र हैं—आत्म-चिंतन, आत्म-निरीक्षण, क्षमायाचना, खाद्य-संयम या उपवास, आलोचना या प्रायश्चित्त।

उपासना का अभिप्रेत

बुद्धिवादी युग है। चिंतन की कोई कमी नहीं, पर वह चिंतन बहुत करके होता है पदार्थ को समझने के लिए, उसे बदलने के लिए, जबकि होना चाहिए, अपने-आपको समझने के लिए, अपने-आपको बदलने के लिए। जो केवल दूसरों के बारे में सोचता है, वह दूसरों की उपासना करता है, अपनी नहीं।

उपासना का क्षेत्र

उपासना का अर्थ सिमट गया है। आज लगभग पूजा और अर्चना ही उपासना बन गई है। उपासना का क्षेत्र धर्मस्थान ही रह गया है। वासना नष्ट करने की उपासना नगण्य-सी है। इसी में से प्रश्न होता है—

धर्म केवल उपासना का तत्त्व क्यों बना?

जबकि जीवन में वासना का सत्त्व है छना॥

सच्ची उपासना

किसी विशिष्ट आत्मा या इष्ट की अर्चना का महत्त्व तभी हो

सकता है, जब हम उसकी आज्ञा का पालन करें। उसकी कोरी अर्चना का क्या मूल्य है? आचार्य हेमचंद्र ने कहा—‘वीतराग! तुम्हारी अर्चना की अपेक्षा तुम्हारी आज्ञा का पालन अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी आराधना कल्याण के लिए होती है और उसकी विराधना अकल्याण के लिए। तुम्हारी आज्ञा यही है कि हेय का त्याग करो और उपादेय का संग्रहण करो।’

जरूरी है आत्म-निरीक्षण

पर हेय का ज्ञान कैसे हो, जब आत्म-निरीक्षण ही नहीं होता? मनुष्य जितना कुछ करता है, वह सब उपादेय नहीं है और जो नहीं करता है, वह सब हेय नहीं है। इसका विवेक आत्म-निरीक्षण से ही मिल सकता है। ‘मैंने क्या किया, मुझे क्या करना है और वह कौन-सा कार्य है, जिसे मैं कर सकता हूँ, पर नहीं कर रहा हूँ’—इस व्यापक दृष्टि से जो अपने को देखता है, वही चक्षुष्मान उपासक है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिससे कभी भूल न हो? मनुष्य जब मोह में फंसा हुआ होता है, तब वह किसी को प्रिय मानता है, किसी को अप्रिय। किसी को प्रिय या अप्रिय मानने का अर्थ है—मानसिक विकास की अपूर्णता। परिपूर्णता की स्थिति में यह भूल नहीं होती, पर अपूर्णता में भूल होना बहुत संभव है।

जो आत्म-निरीक्षण नहीं करता, वह दूसरों की भूल देखने में बहुत ही सूक्ष्म-दृष्टि होता है। साथ ही सिद्धहस्त होता है अपनी भूलों के साथ आंख-मिचौनी खेलने में। अपनी भूलों की अनुभूति उसे ही होती है, जिसमें अपने-आपको देखने की क्षमता हो। जिसे अपनी भूलों की अनुभूति ही न हो, वह उनकी आलोचना क्या करेगा? जो अपनी आलोचना करता है, उसे दूसरों की आलोचना करने में रस नहीं रहता या बहुत कम रस रहता है। जो स्वयं से हुए असद्व्यवहार को समझ लेता है, वह उसके लिए क्षमा मांग सकता है। क्षमा मांगना सचमुच ही अमृत की धार बहाना है। इससे विष ही नहीं धुलता, मैत्री का महान प्रवाह भी चल पड़ता है। इसी व्रत की उपासना के लिए अणुव्रत-आंदोलन के साथ *मैत्री-दिवस* जुड़ा हुआ है। मैत्री और अहिंसा कोई दो तत्त्व नहीं हैं। मैत्री के बिना अहिंसा नहीं होती और अहिंसा के बिना मैत्री का कोई अर्थ नहीं होता। *अहिंसा-दिवस* भी अणुव्रत-आंदोलन का एक अंग है।

संयम की उपासना करें

इन सारे उपासना-सूत्रों का आशय है, आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। आत्मा सबमें है, फिर भी आत्मवान बहुत थोड़े होते हैं। जिसमें संयम नहीं होता, वह आत्मवान नहीं होता। मनुष्य के जीवन का प्रधान अंग आत्मा है, फिर भी उसके समीप रहने का अवसर बहुत ही कम मिलता है। बहुत करके वह बाहरी प्रदेशों में रहता है। ये इंद्रियां सदा खुली रहनेवाली खिड़कियां हैं। इनमें से मन बाहर की ओर झांकता रहता है। आत्मा में क्या है, कितना है, कैसा है, इसका उसे पता ही नहीं। हो भी तो कैसे? जो जिसके समीप ही नहीं आता, वह उसे कैसे पहचाने? अपनी पहचान संभवतः सबसे कठिन है। उसका साधन है—संयम। व्रत और क्या है? संयम की उपासना ही तो व्रत है। जिसमें संयम नहीं, उसकी अर्चना छलना हो जाती है। छलना इसलिए कि वह पूजा करता है भगवान की और कार्य करता है उससे दूर रहने का। वह पूजा के समय तो भगवान में लीन हो जाता है और उससे उठते ही ऐसा कार्य करता है, जिसका आचरण कर कोई आदमी भगवान नहीं बन सकता। व्यक्ति भगवान के आदेशों का तो खुला उल्लंघन करे और भगवान की गुण-गाथा गाकर उन्हें प्रसन्न करना चाहे—यह कैसी समझ है! पुत्र पिता की गुणगाथा गाता है या नहीं गाता है, यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह पिता की बात मानता है या नहीं। पिता का कहा नहीं करता तो गुणगाथा गाने मात्र से क्या होगा? और उसका कहा करता है तो गुणगाथा न गाकर भी वह सफल है। सफलता की कसौटी भक्ति ही नहीं है। जब तक जीवन में संयम विकसित नहीं होता, तब तक कोई व्यक्ति भक्त बनता ही नहीं। अपेक्षा यह है कि आदमी संयमी बने। भक्ति, ज्ञान आदि उसके प्रेरक हैं। प्रेरणास्रोत के बारे में कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। मूल बात है प्रेर्य तत्त्व की। वह संयम है। लोगों ने भक्ति या प्रेरक तत्त्व इस रूप में पकड़े हैं कि उनमें प्रेर्य तत्त्व दृष्टि से ओझल-सा हो गया है। मैं चाहता हूँ कि लोग आत्म-निरीक्षण करें, चिंतन करें और प्रेर्य तत्त्व को प्रेरक तत्त्वों में स्थान दें।

१३६ : उपासना : क्या : क्यों

मैं एक जैन मुनि हूँ। जैन उपासना-पद्धति में मेरा विश्वास है। आप लोगों में से बहुत-से लोग अन्यान्य उपासना-पद्धतियों में विश्वास करनेवाले हैं, पर यह कोई विवाद का विषय नहीं है। जिसको जो उपासना-पद्धति उपयुक्त लगे, वह उसे अपना सकता है। मूल बात है लक्ष्य-संसिद्धि की। वह जिस-किसी उपासना-पद्धति से होती हो, वह हमारे लिए उपादेय है, उपयोगी है।

उपासना किसकी

प्रश्न हो सकता है कि उपासना किसकी करनी चाहिए। इसका उत्तर तो सीधा-सा है—व्यक्ति को परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। प्रभु का स्मरण करना चाहिए, पर मैं देखता हूँ कि बहुत-से लोग परमात्मा की उपासना करने के बजाय उससे सौदा करते हैं। आप सौदे की बात सुन चौंके नहीं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि वास्तविकता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि उपासना के प्रतिदान के रूप में धन, वैभव, पुत्र आदि की याचना करना क्या सौदा नहीं है। मेरी दृष्टि में यह खुला सौदा है। उपासना-जैसे पवित्र तत्त्व को दूषित करनेवाली मनोवृत्ति है। इससे उसका बहुत अवमूल्यन होता है। फिर बात यहीं समाप्त नहीं होती। अनेक व्यक्ति तो ऐसे भी देखने में आते हैं, जो याचना सफल न होने की स्थिति में अश्रद्धाशील बनकर परमात्मा को गालियाँ बोलने लगते हैं, प्रभु-विद्रोही बन जाते हैं। यद्यपि प्रत्युत्तर में परमात्मा गाली तो बहुत दूर, एक शब्द भी नहीं बोलता, पर यह निश्चित है कि इस प्रकार का व्यवहार अनुचित है। मेरी यह पुष्ट मान्यता है कि भौतिक सिद्धि और लालसा-पूर्ति के लिए परमात्मा की उपासना करना ही अज्ञान है। आप देखें, एक अनपढ़ किसान भी कभी भूसे के लिए खेती नहीं करता। खेती वह धान के लिए ही करता है।

भूसा तो धान के साथ-सहज रूप से निष्पन्न हो जाता है। भौतिक सिद्धियां भूसे के समान हैं। परमात्मा की उपासना से होनेवाले आत्मोदय के साथ आनुषंगिक फल के रूप में वे सहज ही मिल जाती हैं। उनके लिए उपासना करना कहां की समझदारी है? जो लोग ऐसी नासमझी करते हैं, वे दोहरा नुकसान उठाते हैं। उन्हें न तो भौतिक सिद्धियां मिलती हैं और न आत्मोदय की दिशा ही। गीता में कहा गया है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।** अर्थात् व्यक्ति कर्म करने का अधिकारी है, फल की आकांक्षा उसे नहीं करनी चाहिए। भाषांतर से कहा जाए तो यह निष्काम कर्म करने की प्रेरणा है। कामना करनेवाला बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जाता है।

उपासना क्यों

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि ईश्वर ने हमें पैदा किया है, वह हमारी सार-संभाल करता है, इसलिए हमें उसकी उपासना करनी चाहिए। मेरी दृष्टि में यह चिंतन सही नहीं है। माता-पिता भी पैदा करते हैं, वे भी सार-संभाल करते हैं। ऐसी स्थिति में यह ईश्वर की उपासना का कोई आधार नहीं बनता। इस दृष्टि से परमात्मा की उपासना करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। ईश्वर घट-घटव्यापी है, इसलिए उसकी उपासना करनी चाहिए, यह भी कोई संगत बात नहीं है। आकाश से बढ़कर कोई व्यापक तत्त्व सृष्टि में है ही नहीं। तब प्रश्न पैदा होता है कि उपासना का उद्देश्य क्या होना चाहिए। इसका सीधा-सा समाधान है—हमारा मन व्यग्र है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। हम ईश्वर को केंद्र-बिंदु (आधार) मानकर अपने भटकते मन को एकाग्र बना सकें। जो परमात्म-पद हमें पाना है, उस पर हमारी बुद्धि और चिंतन केंद्रित बने। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि साधना में तल्लीन हुए बिना सफलता प्राप्त नहीं होती। अर्जुन यदि एकाग्र और तल्लीन नहीं होता तो लक्ष्य को कैसे वेध पाता? द्रोणाचार्य की परीक्षा में उत्तीर्ण कैसे हो पाता? हम भी एकाग्रचित्त होकर ही अपना लक्ष्य वेध सकते हैं।

उपासना के दो रूप

उपासना के दो रूप हमारे सामने आते हैं—भक्ति और आचार। कुछ लोग श्रद्धा-भक्ति को ही सब-कुछ मानते हैं, तो कुछ लोग आचार को। मैं मानता हूँ कि श्रद्धा-भक्ति और आचार दोनों ही आवश्यक तत्त्व

हैं। दोनों का अपना-अपना उपयोग है। श्रद्धा-भक्ति के स्थान पर श्रद्धा-भक्ति का महत्व है तथा आचार के स्थान पर आचार का। श्रद्धा-भक्ति का कार्य आचार नहीं कर सकता और आचार का कार्य श्रद्धा-भक्ति नहीं कर सकती। अतः इन दोनों का सामंजस्य अपेक्षित है। दोनों का समन्वित रूप ही उपासना का वास्तविक रूप है और इसी से लक्ष्य की संसिद्धि संभव है।

१३७ : व्रत-चेतना जागे

व्रतों का माहात्म्य

भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है। उसमें आध्यात्मिक अभियान में अग्रसर होनेवालों के लिए व्रतों की महती आवश्यकता है। जो अव्रती हैं, उन्हें व्रत ग्रहण करने चाहिए। जो व्रती हैं, उन्हें अपने संकल्प दोहराने चाहिए। दोहराने से संकल्पों में दृढ़ता और ताजगी आती है। उपलब्ध सामग्री छोड़ना त्याग है और अप्राप्त को प्राप्त न करना भी त्याग है। प्रश्न किया जा सकता है कि जिसके पास नहीं है, वह क्या त्याग करे और उसके त्याग का क्या महत्त्व है। वर्तमान में नहीं है, पर क्या भविष्य में भी उसके पास नहीं हो सकता? त्याग का महत्त्व इसलिए है कि भविष्य में उसे प्राप्त करने आकर्षण मिटता है। इस माने में व्रती बनने के सभी अधिकारी हैं।

व्रतों की भूमिका

व्रत ग्रहण करने से पहले मनुष्य को तदनुकूल भूमिका बनानी चाहिए। व्रत एक बीज है। उर्वरा भूमि में बीज फलित होता है। उसके अभाव में वह नष्ट हो जाता है। व्रत के बीज के लिए हृदय को उर्वरा भूमि बनाना अपेक्षित है, अन्यथा व्रत फलीभूत नहीं होगा।

अजीर्ण की अशंका से क्या कभी भोजन नहीं किया जाता? किसी कारण से अजीर्ण होने पर उसे मिटाने का प्रयास किया जाता है। भविष्य में पुनः न होने का ध्यान रखा जाता है। वैसे ही व्रत-भंग की आशंका से उसे स्वीकार न करना उचित नहीं। हां, यह ध्यान और जागरूकता रहे कि व्रत का भंग न हो। बावजूद इसके, किसी कारण भंग हो जाए तो उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की विधि भी है। जिस प्रकार कलड़ आदि से मकान का नवीनीकरण होता है, मरम्मत करने से उसकी टूट-फूट ठीक होती है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त से व्रतों की विशुद्धि और व्रत-चेतना जागे

संकल्प दोहराने से उनका नवीनीकरण होता है।

व्रतों की मर्यादा

नदी के दोनों तट प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करते, अपितु उसे वेगवान बनाते हैं। अणुव्रतियों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो प्रवेशक अणुव्रती थे, वे अणुव्रती और जो अणुव्रती थे वे विशिष्ट अणुव्रती बने हैं। प्रवेशक अणुव्रती बनने से जो घबराते थे, वे प्रवेशक और अणुव्रती भी बने हैं। उनके अणुव्रती बनने से पूर्व का जीवन और उसके बाद का जीवन देखने से लगता है कि आंदोलन ने उन्हें एक सही दिशा और गति दी है। आज वे कार्यकर्ता के रूप में तैयार हैं।

अणुव्रतियों का कर्तव्य

अणुव्रतियों को चाहिए कि वे केवल व्रतों की शब्दावली ही न पकड़ें, बल्कि उनकी भावना समझकर उनका पालन करें। वृक्ष के बाह्य आकार की अपेक्षा उसकी जड़ दृढ़ होती है। जिस प्रकार जड़ की दृढ़ता के बिना वायु के वेग से उसके गिरने का खतरा रहता है, उसी प्रकार अणुव्रती भी अपना व्रत-मूल सुदृढ़ करें। व्रतों की अंतरात्मा-भावना समझें और उनका निष्ठा से पालन करें। यह बात भी न भूलें कि अपने जीवन के निर्माण के साथ-साथ उन्हें दूसरों का भी पथ-दर्शन करना है। कम-से-कम पांच अणुव्रती बनाना प्रत्येक अणुव्रती का कर्तव्य है।

१३८ : धर्म की आत्मा को पहचानें*

धर्म की जड़ को मजबूत करने का प्रयास

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।

जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।

भगवान महावीर ने धर्म को सबसे अधिक आवश्यक जानकर ही इस प्रकार उपदेश किया था कि जब तक बुढ़ापा न आए, शरीर में रोग न बढ़े, इंद्रियों की शक्ति क्षीण न पड़े, उससे पहले ही धर्म करने के लिए सावधान हो जाना चाहिए। इस उपदेश-गाथा का माल्यकुसुम की भांति जनता ने स्वागत किया। अपने जीवन को धार्मिक बनाकर संसार-सिंधु से तरने में समर्थ हुई, कष्ट-परंपरा से छुटकारा पाया। आज भी अनेक पुरुष उस दुःख-परंपरा के पार पहुंचने की तैयारी कर रहे हैं, परंतु समय की विचित्रता से ऐसे व्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में होते जा रहे हैं, जो धर्म की मौलिकता एवं महत्ता मूल से ही नहीं पहिचान रहे हैं और उसे विश्व-उन्नति में बाधा डालनेवाला मान रहे हैं। उनकी वाणी, लेखनी, प्रचार तथा कार्यों का एक ही लक्ष्य रहता है कि ज्यों-त्यों धर्म का अंत हो जाए। वे कहते हैं कि धर्म का अस्तित्व मिटाकर ही हम सुख की सांस ले सकते हैं। यद्यपि इस प्रकार के निःसार विचार आर्य भूमि एवं आर्य संस्कृति में टिक नहीं सकते, जल-बुदबुद की तरह बिलबिला जाते हैं, तथापि वे वैसा किए बिना नहीं रहते, मन के मोदक खाए बिना नहीं रहते। इस स्थिति में भी यह अत्यंत हर्ष का विषय है कि धर्म की जड़ को मजबूत करने के लिए जगह-जगह पर धार्मिक सम्मेलन आयोजित किए जा रहे हैं। धर्म की असलियत पर लोगों का उत्साह बढ़ रहा है।

*हिंदी तत्व-ज्ञान-प्रचारक समिति द्वारा अहमदाबाद में संयोजित धर्म-सम्मेलन में प्रदत्त विचार।

धार्मिक-सम्मेलनों की सफलता कब

मैं धर्म के प्रचारार्थ किए जानेवाले निरवद्य प्रयत्नों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ और इसके साथ-सथ सलाह देता हूँ कि सिर्फ धार्मिक पुरुषों का सम्मेलन एवं उनकी सम्मतियों का एकीकरण ही धर्म-वृद्धि, धर्म-रक्षा एवं उसके प्रचार के लिए पर्याप्त नहीं हैं, प्रत्युत इसके साथ-साथ धर्म की मौलिकता, असलियत एवं उपयोगिता का परीक्षण होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में धर्म-तत्त्व जंचा देना चाहिए और ऐसी खूबी के साथ श्रद्धा पैदा कर देनी चाहिए कि समूची दुनिया धर्म की आवश्यकता एवं उपयोगिता महसूस कर सके। इस प्रकार के कार्य ऐसे सम्मेलनों के अवसर पर किए जाएंगे, तभी हम गौरव के साथ कह सकेंगे कि धार्मिक सम्मेलनों के उद्देश्य आज सफल होने जा रहे हैं और ये प्रयास सर्वांगीण सफल हो रहे हैं।

धर्म सबका एक है

धर्म के महान आदर्श देखकर एक ओर लोग उसके प्रति आकृष्ट होते हैं तो दूसरी ओर भिन्न-भिन्न संप्रदाय देखकर उससे भय खाने लग जाते हैं और यहां तक कि समूचे धर्म से ही विमुख बन जाते हैं, परंतु सच तो यह है कि धर्म में अनेकता यानी विरोध है ही नहीं। जो विरोध झलकता है, वह स्वार्थ का युद्ध है। धर्म का उद्देश्य जीवन का विकास करना है, अतः वह सबके लिए एक है। यह अहिंसा हमारी और यह अहिंसा तुम्हारी—इस प्रकार का भेद धर्म में कदापि नहीं हो सकता। यह नियम धर्म के प्रत्येक अवयव पर लागू होता है। धर्म रूढ़ि नहीं, किंतु एक वास्तविक सत्य है। धर्म प्रत्येक व्यक्ति के लिए अभिन्न है। धर्म का अस्तित्व मैत्री में है और उसके लिए ही लोग आपस में कलह करें, क्या यह धर्म का उपहास नहीं है? क्या यह अचंभे की बात नहीं है कि जो धर्म एक दिन स्वार्थ के द्वारा होनेवाले झगड़े का निपटारा करता था, उसी धर्म के लिए आज लोग आपस में लड़ रहे हैं? सचमुच यह अचंभे से भी अधिक गहरे दुःख की बात है। आज का धर्मप्रीमी नागरिक यदि धर्म के द्वारा स्वार्थजन्य संघर्ष न रोक सके तो कम-से-कम उसके नाम पर विरोध का प्रचार तो न करे।

आचार्य भिक्षु और तेरापंथ

सहिष्णुता एवं क्षमा की भावना धर्म के मूल गुणों में से एक है,

परंतु खेद है कि आज की दुनिया इस ओर सर्वथा उदासीन है। जब तक सहनशीलता एवं क्षमा की भावना न आ जाए, तब तक शांति कैसे संभव है? क्षमाशील व्यक्ति ही अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में समर्थ व सफल होते हैं। इस प्रसंग में एक जैनाचार्य का उदाहरण सर्व-साधारण के लिए अधिक उपादेय है, जिसमें हम सहनशीलता की वास्तविकता पा सकते हैं। उन्होंने भांति-भांति के कष्ट एवं मतविरोध सहकर भी एक आदर्श साधु-संस्था की स्थापना की। उन महान क्रांतिकारी एवं नवजाग्रति के प्रसारक महापुरुष का नाम था—आचार्य श्रीमद भिक्षु स्वामी और उस आदर्श संस्था का नाम है—श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथ। यह संस्था अब तक उसी लक्ष्य पर डटी हुई आज भी धर्म-प्रचार का कार्य कर रही है।

दुनिया के सामने जैन-धर्म के पुनीत एवं मंगलमय आदर्श रख जनता का जीवन-स्तर उन्नत बनाना एवं विश्व में शांति का प्रसार करना इस संस्था का मूलभूत उद्देश्य है। इस संस्था ने आज पर्यंत किसी व्यक्ति, जाति एवं धर्म पर आक्षेप नहीं किया। इसकी कार्यशैली लोगों के सामने अपने अभिमत/सिद्धांत रखने की रही है। उन्हें यदि कोई माने तो उसकी इच्छा है और न माने तो उसके लिए कोई बल-प्रयोग नहीं, क्योंकि धर्म का आचरण हृदय की भावना से हो सकता है, हठ से नहीं। उस महर्षि ने भगवान महावीर की वाणी दुहराकर यह घोषणा की थी कि धर्म और जबरदस्ती का परस्पर कोई संबंध नहीं है। जहां-कहीं अन्याय मिटाने के लिए बल-प्रयोग किया जाता है, वह राजनीति है, धर्म नहीं है। धर्म सत्य-उपदेश की अपेक्षा रखता है, विवशता की नहीं। जहां कोई मनुष्य अधार्मिक को भी विवश करके धार्मिक बनाने की चेष्टा करता है, वह भी धर्म नहीं है। चूंकि जहां विवशता है, अतः वहां स्पष्ट हिंसा है; और जहां हिंसा है, वहां धर्म कैसे? धर्म तो व्यक्ति की सत्प्रवृत्ति पर ही निर्भर रहता है। अतएव धर्म और राजनीति—दो अलग-अलग तत्त्व हैं। बहुलांश में इनका सम्मिश्रण ही आज के दुःखद वातावरण का हेतु बन रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज भारतवर्ष में सर्वत्र दिखाई दे रहा है। बंगाल, बिहार एवं पंजाब के हत्याकांड इसी के परिणाम हैं। अतः अब भी समझने की आवश्यकता है। राजनीति एवं धर्म के कार्यक्षेत्र की पृथक्ता का बोध होना जरूरी है, अन्यथा धर्म के प्रति घृणा हुए बिना नहीं रहेगी। राजनीति में स्वार्थ के संघर्ष होते रहते हैं और धर्म केवल निःस्वार्थ साधना का तत्त्व है। स्वार्थी पुरुष राजनीति में उसका ऐसा

दुरुपयोग कर बैठते हैं कि वैसी हालत में धर्म के प्रति अरुचि हो जाए तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यदि भारतवासी क्षमा, सहिष्णुता और शांति का प्रतीक अहिंसा को न भूलें तो भारतवर्ष पूर्ण शांति एवं वास्तविक स्वराज्य का अनुभव कर सकता है।

मेरा विश्वास है कि विचारकगण यदि इस सिद्धांत की समीक्षा करेंगे तो उन्हें अवश्य ही इसमें समता का बीज मिलेगा। धर्म के नाम पर जो आज अशांति-कलह फैला हुआ है, उसे रोकने के लिए यह सिद्धांत अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

धर्म की मीमांसा

दुनिया में बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं, जो धर्म की कतई आवश्यकता नहीं समझते, प्रत्युत उसे तीव्र तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं, जबकि वास्तव में धर्म सदा और सब कामों में अत्यंत आदरपूर्वक अपेक्षा करने योग्य तत्त्व है। फिर कई व्यक्ति तो ऐसे हैं, जो धर्म शब्द के वैज्ञानिक अर्थ और उसकी परिभाषा का ठीक-ठीक निर्णय करने में असमर्थ हैं। वे धर्म: सर्गो निसर्गवत्—इस कोश-वाक्य की दुहाई देकर वस्तु-स्वभाव को ही धर्म मान रहे हैं। उष्णता अग्नि का धर्म है। ठंडक पानी का धर्म है। रोटी खाना भूखे का धर्म है। पानी पीना प्यासे का धर्म है। चोरी करना चोर का धर्म है। मांस खाना मांसाहारी का धर्म है। इस प्रकार स्वभाववाची धर्म शब्द को आत्म-साधना की श्रेणी में रखकर धर्म की विडंबना कर रहे हैं।

‘जो जिसका कर्तव्य है, वही उसका धर्म है, कर्तव्य से पृथक कोई धर्म नहीं है’—इस मान्यता के आधार पर कुछ व्यक्ति यों कहते हैं कि जिस व्यक्ति, जिस जाति और जिस संस्था का जो कर्तव्य है, उसे वही करते रहना चाहिए। अपने कर्तव्य से च्युत होनेवाले मनुष्य धर्म-भ्रष्ट हो जाते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ कि ऐसा कहनेवाले क्या शोषण, कलह एवं युद्ध आदि को प्रोत्साहन देते हुए धर्म की अवहेलना नहीं कर रहे हैं। कई लोग जैसे-तैसे तृप्ति पहुंचाने के साधनों को ही धर्म मान रहे हैं। सिर्फ ऐहिक सुख-शांति की अभिसिद्धि के लिए ही जी-जान से यत्न कर रहे हैं, आवश्यकता के उपरांत धन-धान्य का संग्रह करने में जुट रहे हैं। यह बिलकुल ठीक है कि जो शांति का साधन है, वह धर्म है, पर इसके साथ ही इतना और समझ लेना आवश्यक है कि पारमार्थिक शांति का

साधन ही धर्म है। शांति-मात्र का साधन धर्म नहीं हो सकता।

भगवान महावीर की वाणी में धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—

धम्मो मंगलमुक्किद्धं, अहिंसा संजमो तवो।

देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो॥

अहिंसा-संयम-तपस्या रूप जो आध्यात्मिक विकास का साधन है, वही धर्म है। इन तीनों (अहिंसा, संयम, तपस्या) से अलग कोई भी प्रवृत्ति धर्म की परिधि में नहीं आ सकती।

अहिंसा क्या है

हिंसा की विरति का नाम अहिंसा है। मन, वाणी और शरीर से, कृत-कारित-अनुमति से, त्रस व स्थावर—इन दोनों प्रकार के प्राणियों का निज की असत्प्रवृत्ति के द्वारा प्राणवियोग करने का नाम हिंसा है। वह चार प्रकार की है—

१. निरपराध जीवों की किसी प्रयोजन के बिना संकल्पपूर्वक जो हिंसा की जाती है, वह संकल्पजा हिंसा है।
२. अपना या पराया मतलब साधने के लिए जो प्राण-वध किया जाता है, वह स्थार्थहिंसा है।
३. कृषि, वाणिज्य आदि गृह संबंधी कार्यों में जो आवश्यक हिंसा होती है, वह अनिवार्य हिंसा है।
४. अपनी असावधानी से जो हिंसा होती है, वह प्रमाद हिंसा है।

मन, वाणी एवं शरीर से, कृत-कारित-अनुमति से चारों प्रकार की हिंसा का त्याग करने से ही पूर्ण अहिंसा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि गृहस्थों के लिए पूर्ण हिंसा त्यागना असंभव है, तथापि उन्हें कम-से-कम संकल्पजा हिंसा का परित्याग तो अवश्य करना चाहिए, क्योंकि जितने भी पारस्परिक संघर्ष और सांप्रदायिक कलह होते हैं, वे प्रायः संकल्पी हिंसा से ही पैदा होते हैं। संकल्पी हिंसा ही प्रतिशोध की भावना को जन्म देती है। उसे सफल बनाने के लिए पग-पग पर विरोधियों का छिद्रान्वेषण करना जरूरी बन जाता है। उससे आत्मवृत्तियां मलिन बनती हैं और ऐसी दशा में सारी गतिविधियां पतन की ओर झुक जाती हैं। अतएव धार्मिक गृहवासियों के लिए संकल्पी हिंसा का परित्याग तो नितांत आवश्यक है।

हिंसा और अहिंसा के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण यह है कि जिस संकल्पी हिंसा का त्याग है, वह धर्म है और जो शेष हिंसा का आचरण है, वह धर्म नहीं है। यदि अनिवार्य हिंसा को अधर्म माना जाए तो फिर निर्बाध रूप से दुनिया का व्यवहार कैसे चल सकेगा, ऐसी शंका करना बिलकुल व्यर्थ है। पूर्ण अहिंसा से दुनिया का काम नहीं चल सकता—ऐसा कहनेवाले यह समझें कि काम नहीं चल सकता, इसी लिए तो जगह-जगह स्वार्थ हिंसा और अनिवार्य हिंसा होती है, पर इसका मतलब यह नहीं कि सांसारिक कार्यों को संपादित करने के लिए की जानेवाली हिंसा को अहिंसा मान लिया जाए। यह तीन काल में भी नहीं हो सकता। हां, यह हो सकता है कि हिंसा के इन प्रकारों के लिए गृहस्थ अपने को विवश माने और अनिवार्य हिंसा के प्रति अपने दिल में खेद करता रहे। अर्थात् उसमें लिप्त न हो, अनासक्त की भांति रहे। यदि अहिंसा का यह सिद्धांत आंशिक रूप में भी अपना लिया जाए तो विश्व-मैत्री के प्रसार में बहुत सहायता मिल सकती है।

संयम का अर्थ है—आत्मवृत्ति रोकना। संयम आत्म-साधना अथवा आध्यात्मिक मार्ग के लिए जितना आवश्यक और कल्याणकारी है, उतना ही समाज-नीति एवं राजनीति में भी महत्वपूर्ण है। इसके बावजूद इतना बहुत स्पष्ट है कि परमार्थ-दृष्टि से जैसा संयम साधा जा सकता है, वैसा अन्य किसी दृष्टि से नहीं।

अपेक्षित है संयम का अभ्यास

जीवन की आवश्यकताएं संयम में उतनी बाधक नहीं, जितनी बाधक भोग और ऐश्वर्य की आकांक्षाएं हैं। जब तक लोग धनकुबेरों को महान मानेंगे, तब तक जगत की स्थिति निरापद नहीं हो सकेगी। आज से हजारों वर्ष पहले लोग धनियों की अपेक्षा संयमी पुरुषों को अधिक मानते थे। यही तो कारण है कि उस समय के धनिक अभिमान और स्वार्थ की पराकाष्ठा तक नहीं पहुंच पाते थे और न जन-साधारण को अपने से तुच्छ या पददलित ही मानते थे। सबके मन में परस्पर भ्रातृत्वपूर्ण सम्मान था, परंतु आज की समूची परिपाटी ठीक उससे विपरीत है। अतएव आज साधारण लोग धनिकवर्ग का अंत करने को तुले हुए हैं। जगह-जगह पर धनिकों और निर्धनों में संघर्ष हो रहा है। इस स्थिति में भी धनी एवं निर्धन—इन दोनों में से कोई एक धन की

लालसा छोड़ने को तैयार नहीं है। धनी ही महान है अर्थात् धन ही बड़प्पन का मानदंड है—यह दोषपूर्ण चिंतन सब जगह देखा जा रहा है। इसके स्थान पर संयमी ही महान है—वह बात जब तक लोग नहीं समझ लेंगे, तब तक लालसा कम करने का सिद्धांत लोक-दृष्टि में उपादेय नहीं हो सकेगा; और जब तक लालसा कम नहीं होगी, तब तक आवश्यकताएं बढ़ती रहेंगी। यह तो बहुत स्पष्ट ही है कि आवश्यकताओं की वृद्धि में सुख की कमी रहेगी, क्योंकि अधिक आवश्यकतावाले व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं हो सकते और आत्मनिर्भर हुए बिना दूसरे की अपेक्षा रखना नहीं छूट सकता। जब तक दूसरों की अपेक्षा रहती है, तब तक शोषण और दमन हुए बिना नहीं रह सकता और इन दोनों में सब-के-सब वाद अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इसलिए अपने और पराए कल्याण की कामना करनेवाले व्यक्तियों को सबसे पहले संयम का अभ्यास करना चाहिए। उसमें भी धार्मिक पुरुष को एक विशेष खयाल रखना चाहिए कि वह संयम-धर्म ऐहिक फल-प्राप्ति की भावना से न पाले अर्थात् उसके द्वारा पुण्य, स्वर्ग एवं भौतिक सुख पाने की अभिलाषा न रखे। धर्म तो वास्तविक शांति का एक साधन है। इसी लिए सब लोगों को धर्म के द्वारा केवल लौकिक प्रयोजन साधने की भावना कतई त्याग देनी चाहिए।

१३९ : अपने-आपको सुधारें!

एक ओर आज की स्थिति है, दूसरी ओर संतप्त मानव, जो युग के थपेड़ों व परिस्थितियों से विकल, अत्राण, उदास और खोया-खोया-सा प्रतीत होता है। सदियों की गुलामी के बाद भारतीय जन-मानस सोचता था—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार॥

न जाने किस कवि ने इस श्लोक की रचना की होगी, पर यह श्लोक आज के भारतीय जन-मानस का सही चित्रण है। भंवरा कमल-कोष में बैठा है, रस-लोलुप होकर बैठा है। उसे क्या पता था कि सूर्य अस्त होता है। कमल की पंखुडियां बंद हो गईं। स्वच्छंद भंवरा बंद गया। सीखचों में नहीं, कमल की कोमल पंखुडियों में। बंदी बनकर भी उसने सोचा—खैर! विश्राम करूंगा। रात बितेगी, प्रभात होगा, कमल विकसित होगा और मैं उड़ जाऊंगा। जो स्वतंत्रता जीवन-सिद्ध अधिकार है, उसका उपयोग करूंगा। वह इसी आशा में रात बिताने लगा। बंदी बनकर कमल में बैठा रहा कि जहां कि हवा नहीं, प्रकाश नहीं। बस, एकमात्र आशा ही उसका आधार थी। क्रमशः रात बीतने लगी। उसकी आशा में सफलता दीखने लगी। प्रहर व्यतीत हुआ। अर्द्ध-रात्रि का लंघन हुआ। उसे स्वतंत्रता के क्षण नजदीक आते प्रतीत हुए। प्राची में पौ फटी। कुछ-कुछ उजाला हुआ। भंवरा उल्लसित हुआ। प्रकाश के साथ-साथ उसकी आशा जो साकार होने को थी। उसने कलरव सुना। आशावादी श्रद्धालु भंवरे का हृदय फड़क उठा—अब तो दो-चार क्षण में ही मुक्ति है! दो-चार क्षण में ही मुक्ति है! पर इतने में एक मदोन्मत्त हथनी आई

और क्रीड़ा-क्रीड़ा में भंवरे-सहित कमल-कोष निगल गई। भंवरे की अनंत आशाओं पर पानी फिर गया।

क्या यह आज की परिस्थिति नहीं है? लोगों ने सोचा था कि आजादी आएगी। दूध की नदियां बहेंगी। घर-घर दीपमालिका जलेगी। कोई किसी का शोषण नहीं करेगा। सब समान होंगे। भाई-भाई होकर रहेंगे। प्रेम से बोलेंगे। आत्मानंद का उपभोग करेंगे। पुत्र पिता का पराभव नहीं करेगा। भाई भाई के प्रेम का प्यासा होगा। न जाने कितनी आकांक्षाएं थीं। किस उत्कंठा और आशा से आजादी की प्रतीक्षा थी।

आजादी आई तो सही, पर रिमझिम करती आई। परतंत्रता की जंजीरें टूटीं। जनता उन्मुक्त बनी, पर न जाने किस हथनी ने मानस-भंवरे को निगल लिया। जनता की आशाओं पर पानी फिर गया। आशा निराशा में परिणत हो गई। आजादी बरबादी के रूप में बदल गई। सुख-स्वप्न दुःखांत बन गए। धनकुबेर-गरीब, शासक-शासित, छोटे-बड़े, मजदूर-किसान, व्यापारी-कर्मचारी सब दुखी हैं। गरीब हो तो आश्चर्य नहीं। उसके पास है भी तो क्या? खाने के लिए रोटी और तन ढकने के लिए चिथड़ा भी तो नहीं। मैंने सुन रखा था—शासन के अभाव में कुछ लोग जूठी पत्तलें चाटकर दुद्वैव के दिन काटते हैं, पर कलकत्ते के भरे बाजार में मैंने आंखों से देखा—एक कल्पनातीत दृश्य! देखकर रोमांच हो गया। एक मानव जूठी पत्तलें बटोर-बटोरकर खा रहा था। हाय! हाय!! मानव इतना गरीब! इतना दुखी! भारत के लिए क्या यह लज्जा का विषय नहीं है? लोकनेता क्या भारत की ऐसी दुरवस्था का नंगा नृत्य नहीं देखते? एक आदमी की जूठी पत्तल दूसरा आदमी खाए! कुत्तों और कौवों से भी निकृष्ट आज का मानव! क्या यहां आकर मानवता की हत्या नहीं हो जाती? वे नेता क्या केवल कुर्सी के नेता हैं? भारत के अतिरिक्त शायद ही और कहीं ऐसा होता हो। क्या इसी को हम आजादी कहें? पर गरीब दुखी हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि बड़े-बड़े धनकुबेर समस्त आधुनिक सुख-सुविधाएं उपलब्ध होते हुए भी दुखी हैं! उनकी भूख हराम है। खाने बैठते हैं तो हाथ का ग्रास हाथ में और मुंह का मुंह में। टन-टन घंटी बजती है। सेठजी को फोन उठाना पड़ता है। हाय! यह क्या सुख की जिंदगी है! सोने के लिए मखमली गद्दे हैं, पंखे की हवा है, कमरे में सुगंध है, फिर भी नींद नहीं। रेडियो के मधुर-मधुर गायन सुनकर मनोरंजन करने पर भी नींद

अपने-आपको सुधारें!

● ३३७ ●

नहीं। तभी मालूम होता है—इंकमटैक्स ऑफीसर आए हैं। सेठजी के होश गुम हो जाते हैं। हजार-हजार भगवानों को उठाए लेते हैं—‘प्रभो! मुसीबत से निकालो, मैं तुम्हारा आभार मानूंगा।’ यह क्या है? ऐसे कितने ही उपासक हैं, जो अपनी बुराई छिपाने के लिए भगवान के पास जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि धनवान तो गरीब से भी ज्यादा दुखी हैं। उन्हें धनार्जन का दुःख है। उसके रक्षण का दुःख है। यदि रक्षण कर पाए तो भक्षण की चिंता है।

एक ओर राजनीतिक नेताओं की धांधली है। वे मनमानी करते हैं। उनके प्रति आज श्रद्धा कहां है? सामाजिक नेताओं की तो बात ही छोड़ें। वे कहने भर के नेता हैं। आज उनकी धज्जियां उड़ रही हैं। कारण कि वे समाज के नेता नहीं, घर-भर नीति के पोषक हैं। सार-संक्षेप यह कि भारतीय लोक-जीवन की परिस्थितियां विकट हैं। तब सहज ही प्रश्न उठता है कि इनमें बदलाव कैसे आए। कानून से जीवन बदल नहीं सकता। जनार्दन के बदलने का मार्ग है हृदय-परिवर्तन। बिना हृदय-परिवर्तन के सही सुधार नहीं हो सकता। सबसे पहले वे लोग, जो स्थितियां जानते-पहचानते हैं, अपना जीवन जाग्रत करें, उसे अणुव्रत के सांचे में ढालें।

वैसे यह परिवर्तन और सुधार की बात जन-जन से संबद्ध है। इसलिए अपेक्षा है कि जन-जन मेरी यह भावना समझे और अपने-आपको सुधारे।

१४० : अज्ञ और मूढ़

अज्ञ वह है, जिसमें ज्ञान न हो और मूढ़ वह है, जो जानबूझकर भी विभ्रम में हो। विवेक-विकल प्राणी ज्ञान-विकास के अभाव में यह निर्णय तक नहीं कर पाता कि हित क्या है और अहित क्या है, ग्राह्य क्या है और त्याज्य क्या है। उसके लिए गुड़ और अफीम दोनों एक सरीखे हैं। गुड़ की पौष्टिकता और अफीम की मादकता वह नहीं पहचान पाता।

बाजार में सब ग्राहक भी समान नहीं होते। कोई अच्छे घी के बदले खराब घी भी ले लेता है। एक बार माताजी ने मुझे घी लाने के लिए बाजार भेजा—‘बेटा! जा घी ले आ।’ बाजार गया, पर मैं क्या जानूँ घी की परीक्षा। फिर उस समय तो अच्छे-बुरे की बात मेरी जानकारी में ही नहीं थी। ऐसी स्थिति में मैं सोचता भी कैसे कि कोई घी खराब भी होता है? मुझे जहां जाने का कहा गया था, मैं वहां न जाकर किसी दूसरी ही दुकान से घी ले आया। भद्र-प्रकृति माता वदना जी ने बड़े प्रेम से कहा—‘बेटा! घी तो खराब ले आया।’ मैं बचपन की भाषा में बोला—‘क्या कोई घी भी खराब होता है?’ मां ने गंध लेने को कहा। मैंने गंध ली, पर मुझे पता नहीं चला। जब वह घी बरता गया, तब मुझे मालूम हुआ अपनी अज्ञता का परिणाम। अक्सर उपयोगी तत्वों के विषय में भी यही होता है। व्यक्ति जानकारी के अभाव में खराब और अच्छे का भेद नहीं कर पाता, परंतु इस स्थिति में कोई आकड़े (अर्क) का दूध, गाय का दूध मानकर पीले तो? वह तो अपना विषाक्त परिणाम दिखायेगा-ही-दिखायेगा। यह अज्ञता बुरी है, तथापि अधिकतर प्राणियों में होती है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनमें ज्ञान तो है, किंतु **मंदा मोहेण पाहुडा**—वे मोहावेश में हैं। वे जानते हैं, पर जानबूझकर भी अनजान हैं। आप देखें, शराबी शराब के घातक परिणाम जानता हुआ भी उसे अच्छी मानकर पीता है और पागल हो जाता है। यहां समझने की बात यह है

अज्ञ और मूढ़

कि उसका ज्ञान कहीं चला नहीं जाता, आवृत नहीं हो जाता, किंतु विकृत हो जाता है। मूढ़ बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा मानता है। अज्ञ जानता नहीं, किंतु मूढ़ तो विपरीत जानता है।

आज अज्ञानियों से भी मूढ़ों की संख्या ज्यादा है। वे बुराइयां तो करते ही हैं, साथ-ही-साथ ऐसा भी मानते हैं कि जो कुछ संसार में चलता है, वह कोई बुरा थोड़े ही है। आज हिंसादि कुछ प्रवृत्तियां बुराई से ऊपर उठ गई हैं और कुछ झूठ तो सत्य में परिवर्तित हो गया-सा लगता है। आए दिन व्यक्ति पचासों बार ऐसा झूठ बोलता है, जिसे वह झूठ ही नहीं समझता।

व्यापारी जानता है कि दो खाते रखना सरासर गुनाह है। इसके बावजूद न जाने वह क्यों जानबूझकर अनजान बन जाता है। वह पहचानता है, चीज खराब है, कम कीमत की है, तथापि वह ग्राहकों को अच्छी बताता है, उसकी पूरी कीमत मांगता है। लगता है, बाजार का प्रचलन ही ऐसा हो गया है। वहां झूठ भी सत्य के रूप में बोला जाता है।

रिश्वत लेना और देना दोनों ही अपराध हैं। देनेवाला तो देता है काम निकालने के लिए, पर लेनेवाले क्यों ले? किंतु बहुधा देखा जाता है कि जो नहीं लेता है, उसे देनेवाले फिसला देते हैं। वे कहते हैं—'क्या पड़ा है कोरे आदर्शवाद में! हमने बहुतों को देखा है। क्या आपके बाल-बच्चे नहीं हैं? मैं भी तो कुछ समझ-सोचकर देता हूं।'..... बस फिर क्या? मानो ऊंधते को शय्या मिल गई। भले ही रिश्वत लेकर लेनेवाला राजी हो ले। 'इतने में ही अपना काम बन गया'—ऐसा कहकर देनेवाला राजी हो ले, किंतु अंततः पाप-अपराध करनेवालों की आत्मा रोएगी अवश्य। अपराधी चाहे कितने ही आत्म-गौरव की डींगें हांके, पर उसका अंतर प्रतिक्षण भयभीत रहेगा। बात करते समय उसकी जबान दबी-सी चलेगी। भले दूसरे को विश्वास के जाल में फंसाने के लिए वह जी-भर प्रयत्न करे, पर उसका हृदय धड़कता रहेगा।

सफाई (कोरे बयान) उसे अभय नहीं बना सकती। सच्चाई की भाषा में आत्मा होगी। जयपुर में एक मुस्लिम जज मेरे पास आए। उनकी शहर-भर में प्रतिष्ठा थी कि ये घूस नहीं लेते। एक भाई ने उनके सामने ही मुझसे कहा—'आचार्यजी! ये भाई साहब रिश्वत नहीं लेते। बड़े

सच्चे हैं। बड़े अच्छे हैं।' एक बार कहा, दो बार कहा। मैंने देखा—जज ने आंख उठाकर बड़े आत्म-गौरव के साथ कहा—'क्या विशेषता बखानते हो? मैं गंदगी नहीं खाता, यह क्या बड़ी बात है? मैंने कोई मेवा-मिष्ठान नहीं छोड़ा है। विशेषता तो तब थी, जब मैं तनख्वाह भी नहीं लेता। मैं रिश्वत नहीं खाता, यह तो इन्सानियत के नाते मेरे लिए लाजिमी है।' इस तरह सत्यवाद की वाणी में ओज होगा। उसके मुंह आत्मा बोलेगी।

दार्शनिक-सैद्धांतिक दृष्टि से भी अज्ञानी और मूढ़—मिथ्यादृष्टि में अंतर है। अज्ञानी बारहवें गुणस्थान तक रहता है और मिथ्यादृष्टि प्रथम में। अज्ञानी बुरा नहीं माना जाता। उस पर दया होती है, रोष नहीं; दया होती है, डाह नहीं।

अज्ञानी का पाप, पाप नहीं, ऐसी बात नहीं है। पाप तो पाप ही है। दादे की दाढ़ी खींच लेने पर बच्चा पीटा नहीं जाता। दादा नाराज नहीं होता, प्रत्युत विनोद करता है। अज्ञानी-कृत अपराध पर व्यक्ति को सहसा करुणा आती है। उसके अज्ञान पर सहसा थोड़ा-सा अफसोस होता है। मूढ़ में जड़ता होती है। वह सीधी बात को भी उलटी लेता है। उस पर दया, करुणा और अनुकंपा की जगह घृणा और ग्लानि होती है।

अज्ञानी को प्रतिबोध दिया जा सकता है, पर मूढ़ को कौन समझाए! सोए हुए को जगाना सहज है, पर जो जागता हुआ नींद का बहाना लिए पड़ा है, उसे कैसे जगाया जाए! अज्ञानी ऋजु होता है और मूढ़ वक्र और जड़। अतः अज्ञ से मूढ़ कहीं अधिक बुरा है।

१४१ : पुरानी और नई पीढ़ी के बीच

मैंने देखा है, माताएं बच्चों को जी-भर पीटती हैं। माना, बच्चा अज्ञानी है। कोई-कोई जिद्दी भी होता है। मनुष्य तंग आकर कभी उत्तेजित भी होता है, पर इस तरह निर्दयता से पीटना और मां के हाथों से पीटना, कहां तक उचित है? माता आखिर माता है। वह जाननी है। उसे बच्चे के साथ अज्ञानी नहीं बन जाना चाहिए। आखिर बच्चे को मां के सिवाय और आधार ही क्या है? उसकी जिद चलेगी भी तो कहां? वह कहां जाकर पुकारेगा? आजकल की नवमाताएं थोड़े में उकता जाती हैं। कभी-कभी तो झगड़ा होता है सास-बहू, देवरानी-जेठानी और भाभी-ननद का। वहां तो वे बोल नहीं सकतीं। वहां का गुस्सा निकलता है बच्चों पर। मैं नहीं समझ पाता, उस समय उनका मातृत्व कहां सो जाता है। माता तो स्नेह की पुतली होती है। उसे इतनी कठोरता, जिसमें कि नृशंसता आ जाती हो, नहीं बरतनी चाहिए। यह अलग बात है कि कभी-कभी बच्चे को डांटना भी पड़ता है, गलत रास्ते से रोकने का ध्यान भी रखना होता है, पर सुधार का तरीका पिटाई और तर्जना नहीं है। बच्चों को ज्यादा पीटना उन्हें अपने हाथ से गमा देना है। पीटने से बच्चा निःशंक बन जाता है। उसके मन में भय भी नहीं रहता। दिन-भर चक-चक करते रहना भी सुधार के बदले बिगाड़ ही है। एक बार कहने की बात बार-बार कहते ही रहना बच्चे के स्वभाव को चिड़चिड़ा कर देता है। फिर भला आज के अध्ययनशील विद्यार्थी तो दूसरे की बात सुनना तक पसंद नहीं करते।

मैं यह भी जानता हूँ कि बच्चे आगे चलकर क्या करेंगे। चार पैर हो जाने के बाद मनुष्य भी पशु बन जाते हैं। वे अपनी माता का ऋण भूल जाते हैं। मैं जब यह बात सुनता हूँ कि अमुक ने मां को मुंहतोड़ जवाब दिया, गाली दी, लड़ाई की.....तो अत्यंत खेद होता है। इस कोटि के लोग यह क्यों नहीं सोचते कि हम बेटे हैं या पेट के कीड़े? वेदों

में माता के सम्मान में कहा गया है—मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, गुरुदेवो भव। यहां ध्यान देने की बात यह है कि गुरु और पिता से भी पहले माता का आराधक बनने को कहा गया है। जैनागमों में तो माता को देव और गुरु की जन्मदात्री कहा गया है। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि माता के सामने छोटी बात कही कैसे जाती है।

नई सभ्यता में पलनेवाली आज के बच्चे मित्रों से प्रेमपूर्वक बोलेंगे, सारी दुनिया के साथ सभ्यता का व्यवहार करेंगे, पड़ोसी और अन्यान्य चापलूसों से शिष्टता बरतेंगे, पर माता से तो शायद औपचारिकता के रूप में भी कड़ियों का चौबीस घंटों में दो मिनट भी बोलने का काम नहीं पड़ता होगा। कैसी बात है कि जिसने पाला-पोसा वह दूर और दूर के लोग नजदीक! मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि वे कैसे मनुष्य हैं। क्या उनकी तरक्की बोझ नहीं मरती, जो अपने माता-पिता से बोलने शरमाते हैं? मां रही पुराने युग की, सुपुत्र रहे नई लाईट के। ऐसी स्थिति में भला उससे कैसे बोलें! उनके लिए शायद मां तो बिना टके-पैसे की नौकरानी है। एक-एक पैसे के लिए मां के प्रति असभ्य और गंदे शब्दों का व्यवहार पुत्र के लिए कहां तक शोभास्पद है, यह वे स्वयं समझ सकते हैं।

पुत्र मां के लिए सुख-सुविधा के पर्याप्त साधन जुटा सके, यह उसके हाथ की बात नहीं भी हो सकती, पर दुर्व्यवहार क्यों? यह तो उसी के हाथ है। वह शायद मां को धन की थैली लाकर न दे सके, पर दुर्वचन क्यों? 'क्यों बक-बक करती है'—ऐसे शब्द जब माता पुत्र के मुख से सुनती है, तब क्या उसे अपने हृदय पर पत्थर नहीं धरना होता? शर्म आनी चाहिए उस पुत्र को! उसकी विद्या को! उसका विवेक कौन-सी भट्टी में जल जलकर खाक हो जाता होगा! माता के पवित्र उपकार का बदला कभी चूक नहीं सकता। यदि पुत्र माता-पिता को काबड़ में बिठाकर जीवन भर घुमाता फिरे, फिर भी वह ऋणी ही रहेगा। उस व्यक्ति की मानवता लज्जित होती है, जो पुत्र होकर माता का उपकार भूल जाता है। वह कृतघ्नी है, जो माता से अव्यावहारिक बनता है।

एक बात माताओं से भी कहना चाहता हूं। उनका भी कुछ कर्तव्य होता है। प्रायः घरेलू झगड़े सबके साथ समान व्यवहार के अभाव में पुरानी और नई पीढ़ी के बीच

होते हैं। बहुत-सी माताएं छोटे बेटे के प्रति अधिक स्नेह रखती हैं, एक का पक्ष लेती हैं। बेटी को छुप-छुपकर, लड़के और बहू की आंख चुराकर जब-तब कुछ-न-कुछ देती रहती हैं। माताओ! यही मूल में भूल है। माता, पिता का बेटी पर अधिक जी होता है। वह देना भी चाहती है, पर लुक-छिप कर क्यों? बहनो! माताओ! इससे घर में द्वैध पैदा होता है, मन-मुटाव होता है। भीतर-ही-भीतर आग सुलगती है। वह न जाने कब भभक उठे।

माताएं हों या पुत्र, उन्हें चाहिए कि वे अपने व्यवहार, आचरण और दैनिक कार्यकलापों से घर में कलह न होने दें। आपसी मन-भेद छोटी-छोटी बातों के कारण ही हुआ करता है। आखिर दोनों हाथ मिलाने से ही धुलेंगे। न केवल माताओं को, न केवल पुत्रों को, अपितु दोनों को ही समझना है। वे अपना चिंतन, व्यवहार और आचरण सम्यक बनाएं।

१४२ : जीवन और अर्थ

श्रवण का उद्देश्य जीवन-परिष्कार हो

केवल आना और सुनना आज एक रिवाज बन गया है। लोगों ने मान लिया है कि हमें प्रवचन में जाना है और सुनना है। उस आने और सुनने का क्या अर्थ, जब आकर और सुनकर जीवन में बदलाव लाने की दृष्टि से कुछ किया नहीं जाता? मंत्री लोग भले ही अपने जीवन के बारे में न बनाते हों, पर उनकी घर-भर नीतियां छिपी नहीं हैं। बावजूद इसके, उनका यह कथन तो गलत नहीं है कि व्यापारी कहते बहुत हैं, पर करते नहीं। मंत्री लोग व्यापारियों को बुरा बताते हैं तो व्यापारी मंत्रियों को, पर एक-दूसरे को बुरा बताकर अपना बोझा हलका नहीं किया जा सकता।

आज सबको कहना तो आता है, पर करना नहीं आता। यह बड़ा सर-दर्द है। कहनी-करनी का भेद दुःखता है, पीड़ा करता है। मैं प्रायः रोज ही बोलता हूँ। कभी-कभी तो दिन में कई बार बोलना होता है, पर लोगों की मनःस्थिति देखते हुए कई बार मन में चिंतन आता है कि मैं रोज-रोज क्यों बोलूँ। कुछ लोग मेरे बोलने में होनेवाले श्रम को लक्ष्य कर हमदर्दी के स्वर में कहते हैं कि आप दो-दो बार, तीन-तीन बार खून को पसीना कर क्यों बहाते हैं। बोलना मेरा पेशा नहीं, धंधा नहीं। आजीविका का साधन नहीं। अगर सुननेवाले के मन में मेरे प्रति सच्ची हमदर्दी है, भक्तजनों के मन में मेरे पसीने के प्रति चिंता है तो वे मेरा कथन यथासंभव स्वीकार करें। यदि मेरा कहना ठीक नहीं है तो उसका प्रतिकार करें, प्रतिवाद करें। या तो वे स्वयं समझ लें या मुझे समझा दें। पुराने लोग कहा करते थे कि घाव में दर्द होना चाहिए। बिना दर्द का घाव खराब या गंदा माना जाता है। श्रोताओं के मन में भी दर्द होना चाहिए। मैं स्वार्थ के लिए तो नहीं बोलता। मैं तो चाहता हूँ कि मेरी वाणी का तीर सीधा किसी की बुराई पर चोट करे, किसी का हृदय बाँधे। अनैतिकता की

नींद में बेसुध हुए मानव के अंतर में चेतना का संचार हो, वह मुझसे जाग्रति की कुछ प्रेरणा पा सके।

व्यापारी अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाएं

लोगों का अनुमान है कि ये व्यापारी ठगाई करते हैं। ये सौदागार हैं। औरों की तो बात ही क्या, भगवान से भी चूकनेवाले नहीं हैं। भगवान की प्रतिमा के सामने एक पैसे का प्रसाद चढ़ाकर लाख रुपए का मुनाफा मार्गेंगे। क्या यह धोखा नहीं है?

आज की सभा में अधिकतर व्यापारी हैं। कौन अनुयायी है और कौन अनुयायी, यह भेद मैं नहीं कर सकता। जो पीछे-पीछे चले वही अनुयायी है। आज के तथाकथित अनुयायियों में बताए हुए मार्ग पर चलनेवाले कितने हैं?

मैं नहीं कहता, सब संन्यासी बन जाएं। संन्यास का मार्ग बहुत कठिन मार्ग है। उसे विरले ही ग्रहण करेंगे। मैं बहुत कठिन मार्ग नहीं, मध्यम मार्ग बताना चाहता हूं। आचार से भी पहले विचार है। बिना विचार आचार निभेगा नहीं। अतः मेरा सबसे पहला कार्य होगा कि मैं वैचारिक क्रांति दूं। वे संभाव्य बातें कहूं, जो मानवता की आधारभूत हैं। संसार में सबसे कीमती वस्तु जीवन है। एक ओर लाखों का वैभव तथा दूसरी ओर जीवन! वैभव से कहीं अधिक जीवन प्रिय है। मैं पूछना चाहता हूं कि पैसे के लिए जीवन है या जीवन के लिए पैसा। चलते-चलते कब मोटर का टायर पंचर हो जाएगा, फूंक निकल जाएगी, क्या किसी को कुछ मालूम है? जोड़ी हुई धनराशि के मालिक अन्य लोग बनेंगे। जिसके लिए जीवन खपाया, उसके लिए पीछे से झगड़ा होगा। बंटवारा पंचों से ही नहीं, कोर्ट से भी नहीं होगा।

इस धन के लिए क्या कुछ नहीं होता? मैं मानता हूं, प्रत्येक के जीवन में किसी-न-किसी रूप में महत्वाकांक्षा होती है, पर दुर्नीति क्यों? फूल में कांटा, मेह में बिजली, दीपक के आसपास धुंआ और विद्या में उच्छृंखलता अखरती है।

बिना पसीने का धन काम का नहीं

चोरी के बिना व्यापार चलता ही नहीं, यह धारणा बदलनी है। बेईमानी के धन से अमीर बनने की अपेक्षा क्या दरिद्र रहना अच्छा नहीं है? क्या सहज कृपता शोथ-युक्त मोटेपन से कहीं अच्छी नहीं है?

आजकल सट्टे का व्यापार जोरों पर है। यह भी कोई पसीने का पैसा नहीं है। समाज में ऐसे अनेक लोग हैं, जो सट्टे के कारण बेकार हैं। श्रम उनसे होता नहीं। छप्पर फाड़कर सीधा धन आए कहां से? बिना पसीने का पैसा लाभदायक नहीं बनता। वह जैसा आता है, वैसे ही सीधा जाता है।

एक अधिकारी ने खूब रिश्वत खाई। आनंद की कामना में एक विघ्न आया। बराबर का नौजवान पुत्र चल बसा। स्त्री पागल हो गई। तीन लाख रुपए लोग खा गए। अब मांगे भी किससे? घूस के पैसे बैंक में जाते नहीं, खाते में जाते नहीं। गवाह बने कौन? मुकदमा चले कैसे? अधिकारी को जी की बनी। अगला जन्म तो किसने देखा, उसे तो यहीं-का-यहीं फल मिल गया। अस्तु, कोई भले विश्वास कर या न करे, पर अंतिम सचाई यही है कि बुरे का फल बुरा होता है। जो विष-बीज बोया जाता है, वह अपने विषाक्त फल देगा-ही-देगा।

व्यापारी दुर्नीति से बचें

मैं व्यापार नहीं रोकता, दुर्नीति रोकना चाहता हूं। मैं व्यापारियों से जोर देकर कहना चाहूंगा कि वे व्यापार में अप्रमाणिकता न बरतें, विश्वासघात न करें। मिलावट न चलाएं, कम तौल-माप और नैतिकता-विरुद्ध व्यवहार न करें। व्यापारी इस बात की प्रतिज्ञा करें कि हम व्यापार में अनीति नहीं बरतेंगे।

नेहरूजी ने कहा कि प्रतिज्ञा लेनेवाला पालता है या नहीं, इस बात पर पहरा रहना चाहिए, पर मैं नहीं समझता कि पहरे की क्या जरूरत है। पहरा बुराई का प्रतिकार नहीं है। पुलिस के पहरे में क्या-क्या नहीं होता? पहरा तो अपने मन का होना चाहिए, प्रतिज्ञा आत्मा से होनी चाहिए। कुछ लोग प्रतिज्ञा से कतराते हैं। मेरी दृष्टि में प्रतिज्ञा न करना आत्मा की कमजोरी है। हमें कमजोरी निकाल फेंकनी है। अणुव्रत आत्म-कमजोरी की दवा है। वह अभ्यास सिखाता है। अभ्यास से ही आगे चलकर लक्ष्य सिद्ध होगा। व्यापारी इस बात का अणुव्रत के माध्यम से अभ्यास सीखें और देश में व्यापार के क्षेत्र में होनेवाला नैतिक पतन रोकें। देश का व्यापारी-समाज बहुत बड़ा समाज है। उसके नैतिक बनने का अर्थ है—देश का बहुत बड़ा भाग नैतिक हो जाएगा, उन्नत बन जाएगा।

व्यापारी बौद्धिक हैं। उनकी बुद्धि का उपयोग किसी को जाल में फंसाने के लिए नहीं, अपितु अपने-आपको जाल से बचाने के लिए होना चाहिए। मैं फिर से व्यापारी-समाज को आह्वान करूंगा कि वह चिंतन करे और अणुव्रत को अपने व्यापार का अभिन्न हिस्सा बनाए।

परिशिष्ट

संकेताक्षर

प्र. प्रकरण

१. विषयानुक्रम	३५१
२. नामानुक्रम	३५६
३. पद्यानुक्रम	३६०
४. कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका	३६१
५. पारिभाषिक कोश	३६२
६. प्रेरक वचन	३७३

विषयानुक्रम

अ	२५३, २६०प्र., २७६, ३२१प्र., ३२८
अघाती कर्म १५४	—की उपासना ३२१ प्र.
अज्ञ और मूढ़ ३३९ प्र.	अध्यापक २ प्र.
अणुव्रत (श्रावक के बारह व्रत) २८२ प्र.	अध्यापन २ प्र.
अणुव्रत (अणुव्रत-आंदोलन) २ प्र., ६, ७ प्र., १३ प्र., १९, २१, ३०, ३३ प्र., ३५ प्र., ४४, ४७ प्र., ५३ प्र., ५६ प्र., ५९, ६२, ६३प्र., ७० प्र., ७६प्र., ८१प्र., ८५प्र., ९०प्र., १०० प्र., १११, ११७ प्र., १२१, १२३, १२६ प्र., १३१, १३३, १३५, १४१, १४३, १५० प्र., १५८ प्र., १६१, १६२ प्र., १६९, १८५ प्र., १८७ प्र., २११ प्र., २१४ प्र., २३२, २३४प्र., २३७, २३८प्र., २४२ प्र., २४५ प्र., २४९ प्र., २६० प्र., २६५ प्र., २६७ प्र., २७०, २८४ प्र., २८६ प्र., २८८ प्र., २९० प्र., २९९, ३०२ प्र., ३०५, ३२१ प्र., ३२८, ३३८, ३४७ प्र.	अनाचार ८१ प्र. अनासक्ति, विरक्ति ४१, १६० अनेकांतवाद देखें—स्याद्वाद अपरिग्रह १६८ प्र. अभय १३६, १८० प्र. अर्थ (धन) २९ प्र., ५६, ६३, ९१, ९६, १०३, ११६, १२० प्र., १६२ प्र., १६४ प्र., २२१, २३२ प्र., २६२, २६६, ३४६ अहिंसा ६६प्र., १२२प्र., १४६ प्र., १६८ प्र., १८० प्र., १८७, २४० प्र., २४७, २८६ प्र., २९६ प्र., ३०८ प्र., ३३३ प्र.
अणुव्रती २४७ प्र., २४९ प्र.,	आ
	आगमों में भारतीय जीवन १२६प्र. आचार ८१प्र., ११९प्र., १७०प्र., ३१७ प्र. आत्म-निरीक्षण १७ प्र., २८२, ३२२ आत्मा ९६ प्र., ९८ प्र., १०४, १६०, १७६ प्र., ३०६, ३०८ प्र.

—के तीन रूप ९६ प्र., ९८प्र.

—के आठ प्रकार १७६ प्र.

आर्य : अनार्य ८८ प्र., ३१७ प्र.

आशातना १२४ प्र.

आश्रव ६५, १७४ प्र.

—के पांच प्रकार १७४ प्र.

आसक्ति ११४ प्र., १६१

—और कर्मबंधन ११४ प्र.

इ

इच्छा-आकांक्षा ११७

उ

उपासक, उपासना, उपास्य ६३,

७०, ८९, १३२, १५८, १७८ प्र.,

३२१ प्र., ३२४ प्र.

क

कर्म ११३ प्र., १५३ प्र., १७४

—के आठ प्रकार १५३ प्र., १७४

—बंधन और आसक्ति ११४ प्र.

—बंधन और फल-भोग ११४

—बंधन का हेतु १७४

—बंधन की प्रक्रिया ११४, १५३

कर्म (सम्यक चरित्र) ९४ प्र., ९६

ख

खमतखामणा (क्षमा का आदान-

प्रदान) १३७, ३०९

ग

गुरु १०८

—की अर्हता १०८

घ

घाती कर्म, घनघाती कर्म १५४

चरित्र-बल/चरित्र विकास/चरित्र-

निर्माण २१० प्र., २१४ प्र.,

२६५ प्र.

च

चार दुर्लभताएं २३ प्र.

ग

जीवन ६, २५, १३५, १८४,

२८४ प्र., ३०८, ३११ प्र.

—की परिभाषा १८४

—की मूल पूंजी १२९ प्र.

—मूल्य ५६ प्र.

—साध्य २३३

जुगुप्सा (घृणा) १८० प्र.

जैन (जैन-धर्म के अनुयायी) ४ प्र.,

३८ प्र., १९२ प्र.

जैन-एकता (जैन-समन्वय) ३६ प्र.,

४२ प्र., २०४ प्र.

जैन-दर्शन ६५, १५४, १७४,

१७६, १९३, १९५, २०१,

३०४, ३०६ प्र.

जैन-धर्म ४, ३५ प्र., ३८ प्र.,

७७, ९२, १९६, ३०४

जैन वाङ्मय ३९, १२६, २३६

जैन संस्कृति ३८ प्र., ३१० प्र.

ज्ञान (विद्या) ८२ प्र., १३० प्र.

—का फलित ८२ प्र.

—का यथार्थ स्वरूप १३० प्र.

ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) ९४ प्र., ९६,

१७० प्र.

ज्ञानावरणीय कर्म १५४, १५६ प्र.

—के पांच प्रकार १५६ प्र.

त

तप देखें—निर्जरा

तिर्यंच आयुष्य बंधन के कारण

१९५ प्र.
तेजोलेश्या २१७ प्र., २१९ प्र.
तेरापंथ ४२, ७६, २०४, ३३० प्र.

—की दीक्षा २५४

द

दहेज १२० प्र., १५९
दीक्षा २५३ प्र.
देव आयुष्य बंधन के कारण

१९७ प्र.

ध

धर्म ८ प्र., १३ प्र., ३२, ६३ प्र.,
८९, ९१, ११९ प्र., १५८ प्र.,
१८४ प्र., २२७ प्र., २६२ प्र.,
२७१ प्र., २७६, ३२९ प्र.

—और समाज २७१ प्र.

—के दो रूप (अगार धर्म,
अनगार धर्म) ३५ प्र., ९२ प्र.

—गुरुओं का दायित्व ८६

—गुरुओं की जीवन-दिशा ८ प्र.,

—समन्वय की दिशा ३३ प्र.,
३६ प्र., ४२ प्र.

धार्मिक ३३ प्र., ३६ प्र., ४० प्र.,
७० प्र., ११७ प्र., १३४ प्र.,
१५८ प्र., २६३ प्र.

—ता ११७ प्र., १५८ प्र.

धार्मिक शिक्षा २७ प्र., ६० प्र.

ध्यान २२३ प्र.

—के चार प्रकार (आर्त, रौद्र,
धर्म्य और शुक्ल २२३ प्र.

न

नरक आयुष्य बंधन के कारण
१९२ प्र.

नव तत्त्व (जीव, अजीव आदि)
१७६ प्र.

नवीनता : प्राचीनता ३१९ प्र.

निकाचित कर्म ११४

निर्जरा ६५, १४८ प्र., १९६ प्र.

—के बारह प्रकार १४८ प्र.

नैतिक जागरण १९९ प्र.

प

पंडित ६७, ८२

पत्रकारों का दायित्व और कर्तव्य
१९१

पद्म लेश्या २२१ प्र.

परिग्रह १६८ प्र.

पुण्य १९८, २१९ प्र.

पुद्गल ११३, २०१

पुरुषार्थ १०४ प्र.

पुलिसकर्मियों की जीवन-दिशा
१५ प्र.

प्राकृतिक चिकित्सा ४९

प्रेय और श्रय १०६ प्र.

ब

बड़प्पन का मापदंड ७५, १३४,
१६२ प्र., ३०५, ३३४ प्र.

ब्रह्मचर्य १६८ प्र., ३०० प्र.,
३१३ प्र.

भ

भक्त, भक्ति ९४, ९६, १३२

भय १८० प्र.

भवोपग्राही कर्म १५५

भाग्य १०४ प्र.

—और पुरुषार्थ १०४ प्र.

भारतीय संस्कृति ११, ६३, ११० प्र.,

२०९ प्र., २२९ प्र., २५३,
२६२, २६६, २८४ प्र., ३२७

म

मद्यपान १८ प्र.

मन, मनोनुशासन २९२ प्र.

महारंभ-महापरिग्रह १९२ प्र.

महाव्रत, महाव्रतों की साधना

१४६ प्र. २५३, २८२

महिला २५६ प्र.

मांसाहार १९२, २०६ प्र.

माता और पुत्र ३४२ प्र.

मानव २० प्र., ६९, ७० प्र.,

२३१, २३२ प्र., २७७

—जीवन २३

—की तीन कोटियां (अज्ञ, मूढ़
और निवीर्य) १०४

मुक्ति ६५, ११३, १६०

—का मार्ग ९४ प्र., ९६,

१६०, १७० प्र.

मूर्तिपूजा १७२

मैत्री १३६ प्र., १४० प्र., १४६ प्र.,

१७२ प्र., २९० प्र., २९८ प्र.,

३०९

र

रक्षक १६ प्र.

ल

लेश्या २०१ प्र., देखें—तेजःलेश्या,

पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या

लोभ १६४ प्र., १६६ प्र., २२१

—के चार प्रकार १६६ प्र.

व

विद्यार्थी १ प्र., १२ प्र., २० प्र.,

५६, ५८ प्र., ७९ प्र., १३० प्र.,
१३४ प्र.

—जीवन १२, २१ प्र., ५८,

७९ प्र., १३० प्र.

विनय १२०, १४८ प्र.

—के सात प्रकार १२०

—के दो प्रकार १४८ प्र.

विवेक ११९ प्र., २७१ प्र.

विश्व-शांति २९० प्र., २९६ प्र.

व्यापारियों की चिंतन और जीवन

शैली २९ प्र., १०५, ११६ प्र.,

२१५, २६९ प्र., ३४५ प्र.

व्रत २८२ प्र., २८४ प्र., ३१३ प्र.,

३२७ प्र.

श

शांति ६७ प्र., ९० प्र., १०० प्र.,

१६० प्र., २२७ प्र., २६७ प्र.,

२८२ प्र., २९६ प्र., ३०८ प्र.

शिक्षा १ प्र., १२ प्र., २६ प्र.,

५६, ५८, ८४, १३०

—का अभिप्रेत १ प्र., १२ प्र.,

२७, ५६, ५८, ८४, १३०

—के दो पक्ष (ग्रहण और

आसेवन २६ प्र.

शुक्ल लेश्या २२३ प्र.

शोक १८० प्र.

श्रद्धा (विश्वास) २३, २७२,

२९४ प्र.

—और तर्क २९४ प्र.

श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) १७० प्र.

श्रमण संस्कृति १०५, ३१० प्र.

श्रमिकों की जीवन-दिशा ७२ प्र.

स

संकल्प चेतना देखें—व्रत
संगठन २०४
संयम १० प्र., ३१, ३३, ६० प्र.,
९० प्र., १०२ प्र., १२१,
१२६, २१५ प्र., ३०२ प्र.,
३११ प्र., ३२३, ३३४ प्र.
संवर ६५, १७४ प्र.
—के पांच प्रकार १७४ प्र.
संस्कृत २२९ प्र.
—और संस्कृति २२९ प्र.
संस्कृति ११० प्र., २२९ प्र.
—के दो विभाग १११
सत्यान्वेषण १७२ प्र.
सभ्यता और संस्कृति ११० प्र.
समाजवादी समाज व्यवस्था
२१५ प्र., २४६ प्र.
सह-अस्तित्व २९६ प्र.
साधना १५, १४५ प्र., १७२ प्र.
साधु ६३ प्र., १४५ प्र., १७८ प्र.

साहित्यकार १४४

सिने कलाकार और निर्माताओं की
कार्य दिशा १४३ प्र., २०९ प्र.
सुख ५१ प्र., ९० प्र., १४२ प्र.,
१६० प्र., २२५ प्र., २६७ प्र.,
२७७
—का मार्ग ४० प्र., ५१ प्र.,
९० प्र., १०० प्र.
—के दो प्रकार १४२ प्र.
—दुःख २२५ प्र.
सुधार की प्रक्रिया २४ प्र., २११ प्र.,
३३६ प्र.
सेवा १६
स्याद्वाद ४ प्र., ३०४, ३०६ प्र.
स्वस्थ समाज निर्माण ६२, २१५ प्र.
स्वस्थ, स्वास्थ्य ४८ प्र.
ह
हिंसा १२२ प्र., १८० प्र., १९२ प्र.,
२४० प्र., ३३३ प्र.

नामानुक्रम

● व्यक्ति

अ	
अमरमुनि, उपाध्याय २०५	गुप्त, मैथिलीशरण २८०
अरिष्टनेमि, तीर्थंकर ३००	गौतम, इंद्रभूति, गणधर १८१ प्र.
अर्जुन ३२५	द
अशोक, सम्राट ८६	देवर्धिगणी, क्षमाश्रमण, आचार्य
आ	२०५
आंगिरस, घोर १२३	द्रोणचार्य ८२ प्र., ३२५
आइजनहावर (राष्ट्रपति, अमेरिका)	न
२९०	नारद, देवर्षि २८१
आनंद, गाथापति, श्रावक ३६	नेहरू, पं. जवाहरलाल ६८, १४०,
आषाढ, मुनि १६४	३४७
इ	प
इवेन्स, डॉ. लूथर १९०	पार्श्वनाथ, तीर्थंकर १७०
ऋ	ब
ऋषभ, तीर्थंकर १६, १२३	बुद्ध, गौतम १०, १९, ४०, ५५,
क	६६ प्र., ११९, १५२, १८८,
कालूगणी २३४, २५१,	२३८, ३०७
कुंती १२८	ब्रह्मा ९२
कृष्ण १०६, १२३, १५२, २७२,	भ
२८१	भद्रबाहु, आचार्य २०५
ख	भर्तृहरि, राजर्षि १६
खुश्चेव, निकिता २८६, २९०	भिक्षु स्वामी, आचार्य ७, २०३,
ग	२३६ प्र., ३३१
गांधी, महात्मा ११९, १५२, १८९	भीष्म, पितामह २८१
	म
	मंत्री मुनि (मगनलाल, मंत्री मुनि)

देखें—मगनलाल, मंत्री मुनि
मगनलाल, मंत्री मुनि ४४ प्र.,
२५१
मल्लि, तीर्थंकर ३००
महावीर, भगवान ४प्र., ७, १० प्र.,
१२, १५, २३, ३५ प्र., ३८ प्र.,
४० प्र., ४६, ५०, ५५, ६६ प्र.,
७९, ९२, १०४ प्र., १०६,
११७, ११९, १३३, १३६,
१५२, १७०, १८१ प्र., १८४,
१८७ प्र., २३४, २८०, ३०७,
३२९ प्र.

मृगालोढा, राजकुमार १८१ प्र.
मृगावती, महारानी १८१ प्र.

य

युधिष्ठिर, धर्मपुत्र ८२ प्र., २८१
राजेंद्रप्रसाद, डॉ. भारतरत्न २३७

र

राम १७, १५२
रावण २६९

व

वदना, साध्वी, ऋजुमना ४४ प्र.,
३३९
वर्धमान देखें—महावीर, भगवान
वसु, जगदीशचंद्र २९५
विजय, श्रावक ३१३ प्र.
विजया, श्राविका ३१३ प्र.
विनयविजय, उपाध्याय ३१५
विष्णु ९२
व्यास, वेद ५५

श

शास्त्री, गौरीनाथ ७७

शिव ९२

स

सीता, महासती १३५
स्कंदिल, आचार्य २०५

ह

हर (शिव) देखें—शिव
हेमचंद्र, आचार्य ९२, ३२२

● स्थान

अ

अमेरिका ८५, १३८, २८२,
२९० प्र.
अहमदाबाद ३२९

आ

आगरा २०५
आरा १

उ

उज्जयिनी, उज्जैन २७३
उत्तरप्रदेश ७, ४४, १८९, २४३,
३०२

क

कलकत्ता देखें—कोलकाता
कश्मीर २९०
कुमारग्राम ५०
केरल ३०२
कोलकाता ७६, ८५, १९०, २४२ प्र.,
२५८, ३३७
क्षत्रियकुंड ४७, ५०

ग

गुजरात ७, १८९

च

चीन देखें—चीन (साम्यवादी)
चीन (राष्ट्रवादी) २९०

चीन (साम्यवादी) १३७, २९०

चूरू (जिला) २४४

ज

जयपुर ३४०

जसीडीह ४७

द

दिल्ली ८५, १८९, २४२

न

नवादा ४७

नालंदा ३९, ४४

प

पंजाब ७, १८९

पटना ७, ४४

पाकिस्तान ७२, २९०

पाटलिपुत्र देखें—पटना

फ

फारमोसा २९०

ब

बंगप्रदेश देखें—बंगाल

बंगाल (पश्चिम बंगाल) ७९,

१८९ प्र., २४३, २४८

बनारस ४४

बिहार ४, ७, १०, ३८, ४२,

४४, ५०, १८९, २४३

भ

भारत १, ९, ११, १८, ५३, ५५,

६५, ६८, ८६, १०५, ११० प्र.,

१२०, १३७, १८९ प्र., १९९,

२०९, २४२, २४७, २५३,

२६२, २६६, २६७, २६९,

२७८, २८४, २९० प्र., ३०२ प्र.,

३०४, ३३१ प्र., ३३७

भारतवर्ष देखें—भारत

म

मध्यप्रदेश ७, १८९

महाराष्ट्र ७, १८९

र

राजगृह ३८, ४४, ४७

राजस्थान ४, २०, ४५, ८५,

१८९, २४४

रूस १८, १३८, २९० प्र.

व

वर्धमान (नगर) ६६

वर्लिन २९०

वैशाली ५०

स

सरदारशहर २४४

सुजानगढ़ ४४, ८५

ह

हिंदुस्तान देखें—भारत

● ग्रंथ

आ

आगम १८, ३८, ४२, ४६, ४९,

१२६, १५३, १६८, १७०,

१८१, २०५, २१८, २५२,

२७१, २९४, ३४३

उ

उत्तराध्ययन ७९, १७९, २०१,

२२३

क

कुरान १८

ग

गीता १०६, १०८, १३६, १५६,

१७१, १९१, २७२, ३२५

गुरुग्रंथसाहिब १८

ज

जैन-रामायण (रामजशोरसायन)

८०

त

त्रिपिटक देखें—पिटक

प

पातंजलयोगदर्शन २२३

पिटक १८, ३८ प्र.

म

मनुस्मृति २८०

महाभारत ८२, १२८, २८१

र

रामायण १९१

व

वेद १८, ३४३

● विविध

अ

अणुव्रत प्रार्थना ६२

अणुव्रत समिति (अणुव्रत

महासमिति) २४८

अमृत बाजार पत्रिका ८५

ग

गंगा, नदी २५६, २७७

च

चंद्रलोक २१, ५५, १८७

ट

टाइम, पत्रिका ८५

न

नंदनवन २७१

भ

भद्रोत्तर प्रतिमा तप २५२

भारत सरकार ६१, २२१

य

यूनेस्को (U. N. E. S. C. O.)

१९०

श

श्री जैन श्वेतांबर तेरापंथ महिला

मंडल २५६

स

संयुक्तराष्ट्रसंघ (U. N. O.) १३७

सप्तपर्णी गुफा ४६

सुरक्षा परिषद (Security

Council) १३७

पद्यानुक्रम

पद्य	पृ. सं.
(संस्कृत)	
अदधुः केचन शीलमुदारं.....	३१५
न वै राज्यं न राजासीत्.....	२८१
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां.....	२८१
भवबीजांकुरजनना.....	९२
मनः कुत्रोद्योगः सपदि वद ते गम्यपदवीं.....	२९२
रात्रिर्गमिष्यति.....	३३६
हरीतकी मनुष्याणां.....	४९
(प्राकृत)	
चत्तारि परमंगाणि.....	२३
जरा जाव न पीलेइ.....	३२९
जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं.....	१३३
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं.....	३३३
न वि मुंडिएण समणो.....	१७९
समयाए समणो होइ.....	१७९

कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका

गुड़ रामचंद्रजी के पास	१७
मानवता क्यों बेचूं	७२
गिन्नियां कंकर बन गईं	७३
अनाचार का प्रायश्चित्त	८०
क्रोधं मा कुरु (युधिष्ठिर)	८२
मृगालोढ़ा	१८१
प्रतिनिधि कौन चुने?	२०५
माला पतिता : मालवा पतिता	२७३
सिर मत खाओ, शेष सब-कुछ खा लेना	२७४
लंगर से बंधी नौका	२७९
नासमझ बहू	२८८
विजया-विजया	३१३
खराब घी	३३९
न्यायाधीश की नीतिनिष्ठा	३४०
रिश्वत का पैसा	३४७

पारिभाषिक कोश

अगारधर्म—गृहस्थ-धर्म। अगार शब्द घर का वाचक है। घर को परिग्रह माना गया है। चूंकि साधु पूर्ण अपरिग्रही होता है, इसलिए वह गृह-त्यागी होता है। जो लोग घर का त्याग नहीं कर सकते, साधु नहीं बन सकते, उनके लिए अगार-धर्म की व्यवस्था है। अगार-धर्म का पालन करनेवाले के जीवन में त्याग और भोग, संयम और असंयम अथवा व्रत और अव्रत दोनों का सम्मिश्रण होता है। इस दृष्टि से यह मध्यम श्रेणी की साधना है। इस श्रेणी को स्वीकार करनेवाला श्रावक या श्रमणोपासक कहलाता है।

अघातीकर्म—जो कर्म आत्मा के मूल गुण—ज्ञान-दर्शन आदि का घात नहीं करते, वे अघाती कर्म हैं। वे चार हैं—१. वेदनीय २. आयुष्य ३. नाम ४. गोत्र।

अणगारधर्म—मुनि-धर्म। अगार शब्द घर का वाचक है। घर को परिग्रह माना गया है। चूंकि मुनि पूर्ण अपरिग्रह का साधक होता है, इसलिए वह गृहत्यागी होता है, अणगार कहलाता है। अणगार-धर्म पूर्ण संयम अथवा पूर्ण व्रत—महाव्रत की साधना की श्रेणी है। देखें—अगारधर्म।

अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों व्रतों का आंशिक रूप।

अनार्यक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्र का वह हिस्सा, जहां लोगों का जीवन असभ्य और अशिष्ट होता है तथा अर्हत द्वारा प्रदत्त उपदेश के श्रवण का लाभ प्राप्त करने की सुविधा नहीं होती। देखें—आर्यक्षेत्र।

अभव्य—मोक्ष जाने की अर्हता से संपन्न प्राणी भव्य कहलाते हैं। इससे विपरीत जिन प्राणियों में यह अर्हता नहीं है, वे अभव्य हैं। भव्यत्व-अभव्यत्व की यह स्थिति किसी कर्म का क्षय, क्षयोपशम, उपशम

और उदय नहीं, अपितु अनादि पारिणामिक भाव है। इसलिए कोई भी भव्य प्राणी त्रिकाल में कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

आगम—जैन-धर्म के मूल शास्त्र आगम कहलाते हैं। इनमें तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर गणधरों, ज्ञानी स्थविरों द्वारा गुंफित सूत्र-ग्रंथ समाविष्ट किए गए हैं। गणधरों द्वारा बनाए गए आगम 'अंग' तथा विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा बनाए गए आगम 'उपांग' आदि कहलाते हैं। देखें—अंग, उपांग, गणधर, तीर्थंकर।

श्वेतांबर परंपरा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ द्वारा बत्तीस आगम स्वीकृत हैं—ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद, एक आवश्यक।

अन्य श्वेतांबर परंपराएं अड़तालीस या चौरासी आगम भी मानती हैं।

आर्यक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्र का वह हिस्सा, जहां लोगों का जीवन सुसभ्य और शिष्ट होता है तथा अर्हत द्वारा प्रदत्त उपदेश के श्रवण का लाभ प्राप्त करने की सुविधा होती है।

आश्रव—कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणामों को आश्रव कहते हैं। उसके पांच प्रकार हैं—१. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

विस्तार में उसके बीस प्रकार भी बताए गए हैं।

कषाय—रागद्वेषात्मक उत्ताप को कषाय कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें कषाय-चतुष्टयी कहते हैं। शब्दांतर से क्रोध, मान, माया और लोभ से रंजित आत्म-परिणामों को कषाय कहा जाता है।

केवलज्ञान—आत्मा द्वारा जगत के समस्त मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों एवं उनके त्रैकालिक सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष बोध केवलज्ञान है। इसमें इंद्रियों और मन की कोई अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा पर आए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से इसकी प्राप्ति होती है। यह तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है। देखें—गुणस्थान।

केवलज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति केवलज्ञानी या केवली कहलाता है।

क्षयोपशम—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—इन चार घात्य कर्मों के हलकेपन को क्षयोपशम कहते हैं। इसमें उपर्युक्त चारों कर्मों के विपाकोदय का अभाव होता है।

क्षयोपशम में प्रदेशोदय होता है तथा विपाकोदय का अभाव होता है या मंद विपाकोदय होता है। जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके होते हैं, उनका क्षय होता है तथा जो उदय में नहीं आए हैं, उनका विपाकोदय नहीं होता, उपशम होता है। चूंकि यह क्षय उपशम द्वारा उपलक्षित है, इसलिए क्षयोपशम कहलाता है। देखें—विपाकोदय।

गणधर—तीर्थ-स्थापना के प्रारंभ में होनेवाले तीर्थकर के विद्वान शिष्य, जो उनकी वाणी का संग्रहण कर उसे अंग-आगम के रूप में गुंफित करते हैं। देखें—अंग, आगम, तीर्थकर।

गति—जीवों का एक वर्गीकरण, जिसका कि आधार जन्मस्थिति या भवस्थिति है। इसके चार प्रकार हैं—१. नरक गति २. तिर्यच गति ३. मनुष्य गति ४. देव गति।

गुणस्थान—कर्म-विशुद्धि की तरतमता के अनुरूप प्राणी के उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की विभिन्न भूमिकाएं/स्तर गुणस्थान हैं। इन्हें जीवस्थान भी कहा जाता है। गुणस्थान चौदह हैं—१. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्त-संयत ८. निवृत्तिबादर ९. अनिवृत्तिबादर १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशांतमोह १२. क्षीण-मोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

चारित्र—महाव्रत आदि धर्मों का आचरण करना चारित्र है।

चारित्रमोहनीयकर्म—मोहनीयकर्म की वह अवस्था, जो आत्मा के चारित्र गुण को विकृत करती है।

छद्मस्थ—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय को छद्म कहते हैं। छद्म का अर्थ है—अज्ञान या केवलज्ञान का अभाव। इस अवस्था में रहनेवाले प्राणी छद्मस्थ कहलाते हैं। प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के समस्त प्राणी छद्मस्थ हैं। छद्मस्थता केवलज्ञान की बाधक स्थिति है। इस बाधा के दूर होते ही प्राणी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। देखें—केवलज्ञान, गुणस्थान।

छेदोपस्थापनीय चारित्र—विभागपूर्वक महाव्रतों की उपस्थापना को छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

सामायिक चारित्र में सावद्य योग का त्याग सामान्य रूप से होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र में सावद्य योग का त्याग छेद (विभाग या भेद) पूर्वक होता है।

इसका दूसरा अर्थ यह है—पूर्व पर्याय का छेदन होने पर जो प्राप्त होता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह छठे से नौवें गुणस्थान तक होता है। देखें—गुणस्थान।

जाति—जीवों का एक ऐसा वर्गीकरण, जिसका आधार इंद्रियां हैं। जाति के पांच प्रकार हैं—१. एकेंद्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. पंचेंद्रिय।

तिर्यच—एकेंद्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सारे प्राणी तथा पशु-पक्षी आदि पंचेंद्रिय प्राणी तिर्यच कहलाते हैं। शब्दांतर से देव, नारक और मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्राणी तिर्यच हैं।

तीर्थकर—

- धर्मचक्र-प्रवर्तक।
- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थों के संस्थापक। अथवा द्वादशांगी-प्रवचनरूप तीर्थ के कर्ता।
- चार घनघाती कर्मों का क्षय करके जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि आत्म-गुण प्राप्त कर लेते हैं तथा आठ प्रातिहार्य आदि विशिष्ट उपलब्धियों के धारक होते हैं, वे ही अर्हत, अरहंत, जिन या तीर्थकर कहलाते हैं।
- नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद उनके लिए प्रयुक्त है। जीवन की समाप्ति पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।
- प्रत्येक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में भरतक्षेत्र तथा ऐरावत क्षेत्र में चौबीस तीर्थकर उत्पन्न होते हैं। यह 'चौबीसी' कहलाती है। देखें—अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी।
- भरतक्षेत्र में वर्तमान 'चौबीसी' के प्रथम तीर्थकर ऋषभ व अंतिम (चौबीसवें) तीर्थकर महावीर थे।

तीर्थकरगोत्रनामकर्म—नाम और गोत्र कर्म की वह प्रकृति, जिसके उदय से

प्राणी तीर्थंकर पद की प्राप्ति करता है और जिसके कारण उसे अतिशयों की प्राप्ति होती है।

अरहंत की भक्ति, सिद्ध की भक्ति, सम्यक्त्व की निर्दोष आराधना, सुपात्र दान, जिन-प्रवचन की प्रभावना आदि बीस स्थानों से प्राणी इस कर्म-प्रकृति का उपार्जन करता है। देखें—तीर्थंकर।

दंडक—प्राणी अपने कृत कर्मों का जिन स्थानों या अवस्थाओं में फल भुगतते हैं, वे स्थान या अवस्थाएं दंडक कहलाती हैं।

ध्यान—एकाग्र चिंतन अथवा योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) के निरोध को ध्यान कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१. आर्त २. रौद्र ३. धर्म्य ४. शुक्ल। इनमें प्रथम दो प्रकार—आर्त और रौद्र अशुभ हैं—कर्म-बंधन के हेतु हैं। इनमें एकाग्र चिंतन की स्थिति बनती है, मात्र इस अपेक्षा से ये ध्यान मान लिए गए हैं। चूंकि ये व्यक्ति के चैतन्य-विकास में सहायक नहीं बनते, इसलिए ये दोनों तप की कोटि में नहीं हैं। धर्म्य और शुक्ल शुभ हैं; इन्हें तप माना गया है।

अध्यात्म-साधना में उपवास आदि बाह्य तप की अपेक्षा ध्यान आदि आभ्यंतर तप को अधिक महत्त्व दिया गया है।

नय—हर वस्तु तत्त्वतः अनंतधर्मात्मक होती है। वस्तु के विवक्षित धर्म का संग्रहण और अन्य धर्मों का खंडन न करनेवाले विचार को नय कहा जाता है। सत्य की मीमांसा में ज्ञाता या वक्ता का दृष्टिकोण या नय जानना आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से विवक्षा की जाती है, उसके अनुसार ही वक्ता के कथन का तात्पर्यार्थ समझा जा सकता है। वक्ता एक साथ अनंत धर्मों के विषय में नहीं बता सकता। वह एक धर्म को प्रमुखता देता है और अन्य धर्मों को गौण करता है। इसे जानकर ही हम उसका अभिप्राय समझ सकते हैं। स्याद्वाद की पद्धति में नय के आधार पर सत्य की व्याख्या की जाती है।

निकाचित कर्म—जो कर्म किसी पुरुषार्थ से परिवर्तित नहीं हो सकते, जिनमें उद्वर्तना, अपवर्तना आदि में से कोई भी 'करण' का प्रयोग संभव नहीं है, वे कर्म निकाचित कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्मों को भोगना एकमात्र विकल्प है।

कर्मवाद की अवधारणा में परिवर्तन को मान्य किया गया है। जो कर्म निकाचित नहीं हैं, उन्हें पुरुषार्थ आदि के द्वारा बदला जा

सकता है। पर कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। वे निकाचित कर्म हैं। जो निकाचित नहीं हैं, वे दलिक कर्म कहलाते हैं। साधना के द्वारा हम उन दलिक कर्मों में परिवर्तन कर सकते हैं। उनकी स्थिति का ह्रस्वीकरण किया जा सकता है, रस-विपाक का मंदीकरण किया जा सकता है।

निकाचित कर्मों का बंधन तीव्र अध्यवसाय या परिणामों के कारण ही होता है। इसलिए इन्हें अपवादरूप मानकर साधक शेष कर्मों की निर्जरा के लिए साधना का पुरुषार्थ करता रहे, यह अपेक्षित है। देखें—निर्जरा।

निगोद—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के सूक्ष्म जीव, जो समूचे लोक में फैले हुए हैं तथा साधारण वनस्पति के जीव निगोद के जीव कहलाते हैं। ये एक मुहूर्त (अड़तालीस मिनट का कालमान) में ६५५३६ भव (जन्म-मृत्यु) कर लेते हैं। यह जीव की न्यूनतम विकसित अवस्था है।

निर्जरा—

- तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।
- कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।
- सकाम और अकाम के रूप में वह दो प्रकार की भी होती है। जो मात्र आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से तथा शुद्ध साधनों के द्वारा की जाती है, वह सकाम निर्जरा है। जिसमें इस लक्ष्य और साधन-शुद्धि की बात नहीं होती, वह अकाम निर्जरा है। यह दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी एवं मिथ्यात्वी दोनों के होती है।

पाप—प्राणी के अशुभरूप में उदय आनेवाले कर्म पाप हैं। अशुभ कर्मों के बंधन का कारण असत्प्रवृत्ति है। उपचार से असत्प्रवृत्ति को भी पाप कहा गया है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि उसके अठारह प्रकार हैं।

पाप रूप में उदय में आने से पूर्व बंध अवस्था में रहे अशुभ कर्मों को द्रव्य पाप तथा अशुभ रूप में आने पर उन्हें भाव पाप कहते हैं।

पुण्य—शुभरूप में उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं। पुण्योदय से जीव

को भौतिक दृष्टि से शुभ की प्राप्ति होती है, किंतु उसका आध्यात्मिक शुभ से कोई संबंध नहीं है। मोक्षाराधना की दृष्टि से पुण्य उतना ही हेय है, जितना पाप। पाप की तरह वह भी बंधन ही है।

पुण्य का बंधन शुभ योग के बिना नहीं हो सकता। शुभ योग से जहां एक ओर निर्जरा होती है, वहीं दूसरी ओर पुण्य का बंध होता है। साधक मात्र निर्जरा के लिए शुभ योग में प्रवृत्त हो, पुण्योपार्जन के लिए नहीं। ऊपर के गुणस्थानों में पुण्य-बंध की स्थिति क्रमशः घटते-घटते मात्र दो समय की रह जाती है और अंततोगत्वा अयोग अवस्था (चौदहवां गुणस्थान) में बंध होता ही नहीं। इस प्रकार समग्र शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा हो जाने पर आत्मा मुक्त हो जाती है। देखें—निर्जरा, गुणस्थान, समय।

घातीकर्म केवल पापरूप हैं; अघातीकर्म शुभरूप होने पर पुण्य तथा अशुभरूप होने पर पाप हैं। इस अपेक्षा से पुण्य आत्मा के लिए उतने हानिकारक नहीं हैं, जितने कि घाती कर्म हैं।

उपचार से सत्प्रवृत्ति को भी पुण्य कहा गया है। अन्न, पान आदि उसके नौ प्रकार बताए गए हैं।

पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त होता है, वह पुद्गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। सामान्य भाषा में उसे भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों का समावेश पुद्गल में होता है।

पुद्गल परमाणु और स्कंध—दोनों रूप में होते हैं। पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति **पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः** की गई है। यानी जिसका गलन-मिलन का स्वभाव है, वह पुद्गल है।

पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्यों में इस गुण का अभाव होता है।

पुद्गल की अनेक वर्णाएं हैं, जो जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं। उनमें से कर्म-वर्णा के पुद्गल महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रदेश—पदार्थ का अविभाज्य अंश, जो कि उस पदार्थ के संलग्न होता है, प्रदेश कहलाता है। सभी अस्तिकायों के प्रदेश होते हैं। धर्मास्तिकाय

और अधर्मास्तिकाय के असंख्य-असंख्य प्रदेश होते हैं। आकाशास्तिकाय के प्रदेश अनंत होते हैं। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी तथा अलोकाकाश अनंतप्रदेशी है। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत हो सकते हैं। काल तथा परमाणु-पुद्गल दोनों अप्रदेशी हैं।

जीवास्तिकाय (एक जीव) के भी असंख्य प्रदेश हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और जीवास्तिकाय (एक जीव)—इन चारों के प्रदेशों की संख्या समान है।

प्रदेश को 'अविभागी परिच्छेद' भी कहा जाता है। पौद्गलिक वस्तु से पृथक हो जाने पर प्रदेश 'परमाणु' कहलाता है।

बंध—आत्मा द्वारा कर्मपुद्गलों का संग्रहण और उनका परस्पर दूध और घी की तरह एकीभूत संबंध बंध है। बंध के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति २. स्थिति ३. अनुभाग ४. प्रदेश।

महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों व्रतों का पूर्ण/अखंडित रूप।

मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन-वर्जन के साथ अहिंसा आदि का पालन करना पूर्ण/अखंडित का सीमा-क्षेत्र है।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्वी—जो तत्त्व जिस रूप में है, उसे उससे विपरीत रूप में समझना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय) तथा चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के उदय से निष्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय मोहकर्म के ही दो भेद हैं। देखें—मोहकर्म, सम्यक्त्वी।

जो प्राणी मिथ्यात्व से ग्रस्त है यानी जिसकी श्रद्धा/समझ असम्यक/विपरीत है, वह मिथ्यात्वी है।

मोक्ष—चेतना का वह चरम स्तर, जहां पूर्व समस्त कर्मों का बंधन क्षीण हो जाता है और नए बंधन की प्रक्रिया बिलकुल बंद हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त आत्मा ही परमात्मा कहलाती है। कर्म-मुक्त अवस्था को प्राप्त होने पर वह जन्म, मरण, रोग, शोक, दुःख

आदि समस्त सांसारिक दुविधाओं से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। उसका पुनरवतार नहीं होता।

कर्म-मुक्त दशा में आत्मा मात्र एक समय में लोकाग्रस्थित स्थान-विशेष में पहुंच जाती है। इस स्थान को सिद्धक्षेत्र या सिद्धशिला कहा जाता है। कभी-कभी इसे भी मोक्ष कहते हैं।

मोहकर्म—प्राणी के दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (आचार) को विकृत करनेवाले कर्म को मोह कर्म या मोहनीय कर्म कहते हैं।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो प्रकृतियां हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं—१. सम्यक्त्वमोहनीय २. मिथ्यात्व-मोहनीय ३. मिश्रमोहनीय।

चारित्रमोहनीय की पचीस प्रकृतियां हैं—१. अनंतानुबंधी क्रोध २. अनंतानु-बंधी मान ३. अनंतानुबंधी माया ४. अनंतानुबंधी लोभ ५. अप्रत्याख्यान क्रोध ६. अप्रत्याख्यान मान ७. अप्रत्याख्यान माया ८. अप्रत्याख्यान लोभ ९. प्रत्याख्यान क्रोध १०. प्रत्याख्यान मान ११. प्रत्याख्यान माया १२. प्रत्याख्यान लोभ १३. संज्वलन क्रोध १४. संज्वलन मान १५. संज्वलन माया १६. संज्वलन लोभ १७. हास्य १८. रति १९. अरति २०. भय २१. शोक २२. जुगुप्सा २३. स्त्रीवेद २४. पुरुषवेद २५. नपुंसकवेद।

यथाख्यात चारित्र—महाव्रत आदि धर्मों का पालन करना चारित्र है। वीतराग का चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखें—गुणस्थान, महाव्रत।

लोक—अनंत आकाश के षड्रव्यात्मक भाग को लोक कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये छह द्रव्य हैं।

लोक के तीन भाग हैं—१. ऊंचा लोक २. नीचा लोक ३. तिरछा लोक। तिरछे लोक को मध्य लोक भी कहा जाता है। देखें—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि।

वीतराग—राग-द्वेष से मुक्त आत्मा को वीतराग कहते हैं। वीतराग ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखें—गुणस्थान। दूसरे शब्दों में क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कषायों से

मुक्त—‘अकषाय’ को वीतराग कहते हैं।

श्रावक—हिंसा, असत्य आदि सावध—पापकारी प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव। श्रावक पांचवें गुणस्थान में अवस्थित होता है। श्रावक को देशव्रती या व्रताव्रती भी कहते हैं। देखें—गुणस्थान, देखें—सम्यक्त्वी।

संकल्पजा हिंसा—मानसिक संकल्पपूर्वक प्राणी की घात करना संकल्पजा हिंसा है। अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करनेवाला इस प्रकार की हिंसा से उपरत रहता है।

आरंभजा और विरोधजा हिंसा के प्रकारों से यह भिन्न है।

गृहस्थ जीवन चलाने के लिए की जानेवाली कृषि, व्यापार आदि प्रवृत्तियां आरंभ है। इनमें होनेवाली हिंसा आरंभजा हिंसा है। शत्रु द्वारा आक्रमण करने पर प्रतिरक्षार्थ युद्ध आदि में होनेवाली हिंसा विरोधजा हिंसा है। श्रावक आरंभजा एवं विरोधजा हिंसा से नहीं बच सकता, पर संकल्पजा हिंसा का अवश्यमेव त्याग करे।

संवर—कर्म-आकर्षण में हेतुभूत आत्मपरिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। उसके पांच भेद हैं—१. सम्यक्त्व २. व्रत (विरति) ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग। विस्तार में उसके बीस भेद भी बताए गए हैं।

सम्यक्त्व—देखें—सम्यक्त्वी।

सम्यक्त्वी—तत्त्व के बारे में सम्यक/यथार्थ श्रद्धा—जो तत्त्व जैसा है, उसे उसी रूप में समझना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय एवं सम्यक्त्व-मोहनीय) तथा चारित्र-मोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होती है। दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय मोहकर्म के ही दो भेद हैं।

जो प्राणी सम्यक्त्व से संपन्न होता है, जिसकी तत्त्व के प्रति श्रद्धा सम्यक/यथार्थ है, वह सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि है। देखें—मोहकर्म।

यथार्थ तत्त्वश्रद्धा, सम्यक देव, गुरु व धर्म की आराधना, तीव्र कषायों से विरति—ये सारी बातें सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य हैं।

शम, संवेग आदि पांच लक्षण, निःशंकित, निःकांक्षित आदि

आठ आचार तथा शंका, कांक्षा आदि पांच दूषणों से मुक्ति—यह सम्यक्त्वी की पहिचान है।

सामायिक चारित्र—समभाव में स्थिर रहने के लिए सर्व सावद्य योग का प्रत्याख्यान करना सामायिक चारित्र है। यानी तीन कारण—करना, कराना और अनुमोदन करना तथा तीन योग—मन, वचन और काया—से सावद्य—पापयुक्त प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापन आदि चार चारित्र इसी के विशिष्ट रूप हैं। उनमें आचार और गुण संबंधी कुछ विशिष्टताएं हैं, अतः उन्हें इससे अलग रखा गया है।

सामायिक चारित्र छठे से नौवें गुणस्थान तक रहता है।

स्वयंबुद्ध—शास्त्र-श्रवण, सत्संग आदि किसी बाहरी निमित्त के बिना जो स्वयं बोधि प्राप्त कर मुक्त होता है, उसे स्वयंबुद्ध कहते हैं।

प्रेरक वचन

- विद्यार्थी किसी भी समाज और राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं, भविष्य होते हैं। (१)
 - व्यक्ति स्वयं सुधरकर ही दूसरों के लिए प्रेरक बन सकता है, उन्हें सुधार सकता है। (८)
 - स्वयं सुधरे बिना दूसरों का सुधारने की बात करने की कोई सार्थकता नहीं है। (८)
 - संयम जीवन का सौंदर्य है। (१०)
 - साधु-संतों का स्वागत-अभिनंदन प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से संयम का ही स्वागत-अभिनंदन है। (११)
 - धर्म जीवन-जाग्रति एवं पवित्रता का एकमात्र साधन है। शांति का महामंत्र है। (१३)
 - आकांक्षा का कोई अंत नहीं होता। वह आकाश की तरह अनंत है। (१८)
 - सदाचारमय जीवन ही वास्तविक जीवन है। (२५)
 - जिस प्रकार अंक के बिना शून्य की कोई कीमत नहीं होती, उसी प्रकार आंतरिक विकास के अभाव में भौतिक विकास की कोई सार्थकता प्रकट नहीं होती। (२६)
 - संकल्प में अचिंत्य शक्ति होती है। वह कठिन को भी सरल बना देता है। (३०)
 - संयम जीवन-विकास का मौलिक आधार है। (३१)
 - संयम के अभाव में सभी प्रकार की भौतिक ऋद्धियां-सिद्धियां निरर्थक
- प्रेरक वचन ————— ● ३७३ ●

प्रमाणित होती हैं, बल्कि व्यक्ति के अहित और अनिष्ट का कारण भी बनती हैं। (३१)

- यदि वर्तमान शुद्ध है, स्वस्थ है तो भविष्य/परलोक के बिगड़ने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। (३२)
- अतीत तो प्रेरणा लेने के लिए होता है। उससे प्रेरणा लेकर अपने वर्तमान का निर्माण और विकास करना ही व्यक्ति के कर्तृत्व एवं विवेक की कसौटी है। (३३)
- प्रकृति में जो सहज सौंदर्य होता है, वह विकृति में कहां? (४७)
- किसी राष्ट्र की सबसे बड़ी संपत्ति उसके नीतिनिष्ठ, संयमशील और चरित्रवान नागरिक होते हैं। (५५,५६)
- राष्ट्र के नागरिकों का सच्चरित्र और नीति-निष्ठा उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है। (५६)
- संयम ही वह तत्त्व है, जो वृत्तियों को सुसंस्कृत बनाने में सक्षम है। (६०)
- धर्म जीवन-शुद्धि का एकमात्र मार्ग है। (६३,६४)
- मोक्ष किसी की कृपा या अनुग्रह का फल नहीं है। वह तो आत्मा के अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से ही साध्य बनता है। (६५)
- हिंसा और युद्ध किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। (६८)
- मनुष्य-जाति को यदि सुख से जीना है तो उसे हिंसा और युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करना होगा। (६८)
- धार्मिकता की मूल कसौटी आचार-शुद्धि है। पूजा-उपासना तो गौण बात है। वह आचार-शुद्धि के साथ ही उपयोगी बनती है। (७०)
- पूजा-उपासना वही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, जो व्यक्ति के लिए आचार-शुद्धि की प्रेरणा बने। (७०)
- यदि पढ़ा हुआ ज्ञान आचरण में नहीं ढलता है तो उसकी कोई सार्थकता प्रकट नहीं होती। (८२)
- आर्यत्व की वास्तविक कसौटी धार्मिकता है, क्षेत्र नहीं। (८८)
- भोग व्यक्ति की दुर्बलता है और त्याग बल। (९३)
- ३७४ ●

ज्योति जले : मुक्ति मिले

- अनगार-धर्म स्वीकार करना, महाव्रती बनना, साधु-जीवन अंगीकार करना जीवन का परम सौभाग्य है। (९३)
- मैं उस भक्ति को महत्त्व देता हूँ, जिसके साथ स्थिरता, गंभीरता, चिंतन और मनन जुड़ा हो तथा जो व्यक्ति के लिए आत्म-शुद्धि एवं पवित्र जीवन जीने की प्रेरणा बनती हो। (९४)
- वही कर्म जीवन-विकास का साधन है, मोक्षाराधना में हेतुभूत है, जो राग-द्वेष से सर्वथा अछूता हो, आत्मशुद्धि के लक्ष्य से जुड़ा हो। (९५)
- सद्गुरु के अभाव में कुगुरु को स्वीकार करने की अपेक्षा निगुरा रह जाना ही श्रेयस्कर है। (१०८)
- व्यक्ति कर्म-बंधन में स्वतंत्र है, पर फल भुगतने में स्वतंत्र नहीं है। (१०८)
- आचार जीवन की मूल पूंजी है। (१२०)
- विपत्ति ही वह अवसर है, जब व्यक्ति आत्म-चिंतन एवं अंतगविषणा की ओर मुड़ता है। (१२८)
- व्यक्ति स्वयं को सदा सत्कर्म में संलग्न रखे, यही भगवान की सच्ची आराधना है। (१३२)
- सदाचरण धर्म का प्रथम सोपान है। (१२४)
- मैत्री और अभय का अविनाभावी संबंध है। (१३६)
- जहां अधिकार और सत्ता का प्रश्न तीव्र हो जाता है, वहां मैत्री क्षीण हो जाती है। (१४०)
- आत्मप्रकाशी बनना, केवलज्ञान को उपलब्ध होना जीवन के सौभाग्य का सूचक है। (१५७)
- सत्यनिष्ठा धार्मिकता की पहचान है। (१५९)
- हृदय-परिवर्तन से ही वास्तविक परिवर्तन संभावित है। (१५९)
- संयम और व्रतमय जीवनशैली ही प्रशस्त जीवनशैली है। (१६१)
- प्रभु-पूजा का संबंध अपने मन और भावों से है, स्थानविशेष से नहीं। (१७२)
- सत्य का साधक कभी आग्रही नहीं हो सकता और जो आग्रही होता

है, उसे सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। (१७२)

- भय हिंसा का जनक है। इसलिए भयाकुल प्राणी कभी अहिंसक नहीं बन सकता। अहिंसक बनने के लिए अभय बनना आवश्यक है। (१८०)
- मनुष्य का आध्यात्मिक व नैतिक विकास ही वास्तविक विज्ञान है। (१८७)
- पवित्र-से-पवित्र कार्य व्यवसाय-बुद्धि का रंग पाकर दूषित हो जाता है। (१९१)
- चिंता समस्या का समाधान नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि किसी समस्या का समाधान नहीं है। (१९९)
- विचार-भेद के कारण परस्पर लड़ना-झगड़ना धार्मिकता की दृष्टि से तो सर्वथा अशोभनीय है ही, मानवता की दृष्टि से भी अनुचित है। (२०६)
- जहां चरित्र-बल नहीं है, वहां क्लीवता है। (२१०)
- सुधार कानून के द्वारा थोपा नहीं जा सकता। वह हृदय-परिवर्तन से ही आ सकता है। (२११)
- संयम बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उसके अभाव में जीवन जीवन नहीं होता; समाज स्वस्थ नहीं बनता। (२१५)
- संयम-आधारित समाज ही स्वस्थ समाज हो सकता है, भले उसका नाम कुछ भी क्यों न रखा जाए। (२१६)
- जिसमें आत्माभिमान नहीं, वह कैसा मानव! (२१७)
- स्वयं को महान या अतिरिक्त मानना जितना बुरा है, उससे भी ज्यादा बुरा है, स्वयं को हीन-दीन-क्षीण मानना। (२१७)
- ज्यादा हंसी-मजाक आदि करना तुच्छता का लक्षण है। (२१८)
- जो धर्म व्यक्ति की आत्मा में नहीं रहता, जीवन और जीवन-व्यवहार में नहीं उतरता, वह धर्म वास्तव में धर्म है ही नहीं। (२१४)
- लक्ष्य की सिद्धि के लिए जिसमें मृत्यु का वरण करने की उमंग हो, वही जीता है और उसी की निष्ठा निष्ठा होती है। (२४९)
- जो सहन करने का मंत्र नहीं जानता, वह शांति से जी नहीं सकता।
- ३७६ ● ————— ज्योति जले : मुक्ति मिले

(२५०)

- जो नम्र होता है, वह सहज ही दूसरों को अपनी और आकृष्ट कर लेता है। (२५०)
- एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति घृणा का मनोभाव रखे—यह कितनी दयनीय मनोदशा है! (२५०)
- यौवन उम्र से भी कहीं अधिक विचारों पर निर्भर करता है। (२५१)
- वही विकास और निर्माण श्रेयस्कर है, जिसमें आत्मा और जीवन का विकास होता हो, निर्माण होता हो। (२५६)
- घृणा मात्र बुराई के प्रति होनी चाहिए, बुरे आदमी के प्रति नहीं, क्योंकि बुराई कभी सुधर नहीं सकती, वह अच्छाई नहीं बन सकती, जबकि बुरा आदमी सुधरकर अच्छा आदमी बन सकता है। (२६०)
- किसी के न अपनाते से अहिंसा हिंसा नहीं बन सकती। (२९६)
- मैत्री जीवन के परिष्कार का पहला और जीवन की ऊंचाई का चरम सोपान है। (२९८)
- मैत्री जीवन की शांति का सर्वोच्च वरदान है। (२९८)
- स्वाधीनता सबसे बड़ा आनंद और सबसे बड़ा उल्लास है। (३०२)
- एक बड़े-से-बड़ा ज्ञानी आचारभ्रष्ट हो सकता है, पर एक शुद्धाचारी कभी ज्ञानभ्रष्ट नहीं हो सकता। (३०४)
- स्वयं को त्याग की कसौटी पर कसना ही आत्मोन्नति का मार्ग है। (३०६)
- पुरुषार्थ का अंतिम निष्कर्ष ही भाग्य है। (३०७)
- अहिंसा आध्यात्मिक जगत का सर्वोच्च तत्त्व है। (३०९)
- अहिंसा वीरों का धर्म है। (३०९)
- संयम जीवन का विकास है और असंयम हास। (३११)
- आर्य कोई जातिविशेष नहीं है। वह तो एक गुणात्मकता का नाम है। जिसका स्वधर्म यानी आचरण उन्नत है, वह आर्य है। (३१७)
- क्षमा मांगना सचमुच ही अमृत की धार बहाना है। इससे विष ही नहीं धुलता, मैत्री का महान प्रवाह भी चल पड़ता है। (३२२)

- मैत्री और अहिंसा दो तत्त्व नहीं हैं। मैत्री के बिना अहिंसा नहीं होती और अहिंसा के बिना मैत्री का कोई अर्थ नहीं होता। (३२२)
- जिसमें संयम नहीं, उसकी अर्चना छलना हो जाती है। (३२३)
- बच्चों को ज्यादा पीटना उन्हें अपने हाथ से गंवा देना है। (३४२)

आचार्य तुलसी

जन्म : वि. सं. १९७१, कार्तिक शुक्ला द्वितीया, २० अक्टूबर
१९१४, लाडनू (राज.)

दीक्षा : वि. सं. १९८२, पौष कृष्णा पंचमी, ५ दिसंबर १९२५,
लाडनू (राज.)

आचार्य : वि. सं. १९९३, भाद्रपद (प्रथम) शुक्ला नवमी,
२६ अगस्त १९३६, गंगापुर (राज.)

अणुव्रत-आंदोलन : वि. सं. २००५, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया, १ मार्च
१९४९, सरदारशहर (राज.) • **आगम-संपादन का प्रारंभ** : वि.

सं. २०१२, श्रावण कृष्णा एकम, ६ जुलाई १९५५, उज्जैन (म. प्र.)

• **धवल समारोह (प्रथम)** : वि. सं. २०१८ भाद्रव शुक्ला नवमी,
१८ सितंबर १९६१, बीदासर (राज.) • **धवल समारोह (द्वितीय)** : वि.

सं. २०१८ फाल्गुन कृष्णा दशमी, १ मार्च १९६२, गंगाशहर (राज.)

• **जैन विश्वभारती** : वि. सं. २०२६, चैत्र कृष्णा ९, ३१ मार्च १९७०,
लाडनू (राज.) • **युगप्रधान** : वि. सं. २०२७, माघ शुक्ला सप्तमी, २

फरवरी १९७१, बीदासर (राज.) • **षष्टिपूर्ति समारोह** : वि. सं. २०३१

मार्गशीर्ष कृष्णा १५, १३ दिसंबर १९७४, नई दिल्ली • **प्रेक्षाध्यान** : वि.

सं. २०३२, सन १९७५, जयपुर (राज.) • **५०वां दीक्षा कल्याणक** :

वि. सं. २०३२, पौष कृष्णा पंचमी, २३ दिसंबर १९७५, लाडनू (राज.)

• **जीवन-विज्ञान** : २८ दिसंबर १९७८, लाडनू (राज.) • **समण-**

श्रेणी : वि. सं. २०३७, कार्तिक शुक्ला द्वितीया, ९ नवंबर १९८०,

लाडनू (राज.) • **अमृत-महोत्सव** : वि. सं. २०४२-२०४३, सन

१९८५-१९८६ (पांच चरणों में) • **भारत ज्योति** : वि. सं. २०४२,

माघ शुक्ला पंचमी, १४ फरवरी १९८६, उदयपुर (राज.) • **योगक्षेम**

वर्ष : वि. सं. २०४५, फाल्गुन कृष्णा एकम से वि. सं. २०४६, माघ

शुक्ला द्वादशी, २१ फरवरी १९८९ से ६ फरवरी १९९०, लाडनू

• **राष्ट्रीय एकता परिषद् में मानद सदस्यता** : सन १९८९ तथा

१९९१ में • **जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)** : वि. सं.

२०४८, चैत्र शुक्ला चतुर्थी, २० मार्च १९९१ • **वाक्पति-सम्मान** :

वि. सं. २०५०, आषाढ कृष्णा दशमी, १४ जून १९९३, लाडनू (राज.)

• **इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार** : वि. सं. २०५०, कार्तिक

कृष्णा एकम, ३१ अक्टूबर १९९३, नई दिल्ली • **आचार्य-पद का**

विसर्जन : वि. सं. २०५०, माघ शुक्ला सप्तमी, १८ फरवरी १९९४,

सुजानगढ़ (राज.) • **गणाधिपति** : वि. सं. २०५०, माघ शुक्ला

सप्तमी, १८ फरवरी १९९४, सुजानगढ़ (राज.) • **हकीम खां सूर**

सम्मान : वि. सं. २०५२, श्रावण शुक्ला द्वितीया, २९ जुलाई १९९५,

लाडनू (राज.)

महाप्रयाण : वि. सं. २०५४, आषाढ कृष्णा तृतीया, २३ जून

आचार जीवन की मूल पूंजी है। इस धन से संपन्न व्यक्ति वास्तव में संपन्न है। जिसके पास यह पूंजी नहीं है, वह धनी नहीं है, महादरिद्र है, भले वह कितना ही बड़ा अर्थपति क्यों न हो। यह कितनी गंभीर चिंतनीय बात है कि आज मानव जीवन की इस मूल पूंजी को ठुकराकर एकमात्र पैसे के पीछे पागल-सा बन रहा है। उसके समक्ष अपना एक ही लक्ष्य है कि येन केन प्रकारेण अधिक-से-अधिक पैसा अर्जित और संगृहीत किया जाए। संयमः खलुः जीवनम्-संयम ही जीवन है, के स्थान पर 'पैसा ही जीवन है' को उसने अपना आदर्श-सूत्र बना लिया है। इस अर्थप्रधान या अर्थकेंद्रित चिंतन ने समाज में अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियां एवं भ्रष्टाचार पनपने की उर्वरा तैयार की है।

